वक्तव्य

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा बिहार की विभूतियों में थे। अपनी विद्वत्ता के कारण तो वे भारत-विख्यात थे ही। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे कोरे सूचीपत्र-पण्डित नहीं थे, जो दुर्भाग्यवश इधर अनेकों संस्कृत के परम्परागत पद्धति के विद्वान् । पण्डित वन गये हैं। वे सभी बातों को तर्क की कसौटी पर जाँचा करते थे; अन्ध-विश्वास के बल पर किसी चीज को ग्रहण नहीं करते थे। उनकी तर्कशक्ति विलक्षण थी। उनमें ऐसी प्रतिभा थी कि भारतीय पुरातत्त्व के यशस्वी विद्वान् स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल प्रायः कहा करते थे कि शर्माजी कपिल और कणाद की श्रेणी के विचारक हैं। उनके अकाल-कालकवलित हो जाने से विद्वत्समाज और विद्वत्तामात्र की जो हानि हुई है, उसका अंदाज वे ही कर सकते हैं जिन्हें श्रद्धेय शर्माजी के सम्पर्क में आने या उनके लेखों और ग्रन्थों को देखने का सुयोग मिला था।

संस्कृत और हिन्दी में उनकी जितनी रचनाएँ सुलभ हैं, सबको प्रकाशित करने का निश्चय बिहार-सरकार ने किया है। उनकी संस्कृत-रचनाएँ 'मिथिला-संस्कृत-प्रतिष्ठान' द्वारा प्रकाशित कराई जा रही हैं और उनकी हिन्दी-रचनाओं के प्रकाशन का भार 'बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्' को सौंपा गया है। उनकी एक पुस्तक 'यूरोपीय दर्शन' इसी परिषद् से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत पुस्तक उनके कई लेखों का संग्रह है।

विद्वद्वर शर्माजी के जिन निबन्धों को इस पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है, ये बहुत परिश्रम से खोज करने पर प्राप्त हुए हैं। उनके संग्रह का श्रेय बिहार-सरकार के जन-सम्पर्क-विभाग के उपनिर्देशक और इस परिषद् के अन्यतम सदस्य श्री उमानाथ को है। उनके द्वारा संगृहीत निबन्धों के अतिरिक्त कुछ और भी स्फुट निबन्ध मिल गये हैं जो इस पुस्तक के अन्त में (परिशिष्ट में) दे दिये गये हैं। इन स्फुट लेखों की प्राप्ति में स्वर्गीय शर्माजी के सुपुत्र प्रो० नलिनविलोचन शर्मा और शिष्य पण्डित केदार नाथ शर्मा सारस्वत (सुप्रभातम्-संपादक) से सहायता मिली है। इसके लिए परिषद् उन्हें धन्यवाद देती है।

निबन्धों के मौलिक रूप की रक्षा पर विशेष ध्यान रखा गया है। कहीं किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है। ये कितने महत्त्वपूर्ण और सारगर्भ हैं, यह तो पढ़ने पर ही स्पष्ट हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में ये अपने ढंग के सर्वथा मौलिक और अनूठे निबन्ध हैं।

उनके अनुशीलन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के व्यापक क्षेत्र का कदाचित् ही कोई अंश था, जिसका संस्पर्श शर्माजी की प्रभविष्णु लेखनी ने नहीं किया था। इनमें से अधिकांश निबन्ध हिन्दी के उच्चवर्गीय विद्यार्थियों तथा अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए बहुत ही उपयोगी हैं ।

आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व, हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में सुप्रतिष्ठित करने के लिये, जिन विद्वानों ने सक्रिय प्रयास किये थे, उनमें शर्माजी का स्थान अत्यन्त प्रमुख था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के युग के बाद, पंडित गोविन्द नारायण मिश्र, श्री बालकृष्ण भट्ट, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रभृति साहित्य मनीषियों के साथ-साथ, शर्माजी ने भी, राष्ट्रवाणी हिन्दी को सर्वांगपूर्ण एवं सुविकसित करने के लिए, हिन्दी भाषा-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की थीं। देशवासियों द्वारा हिन्दी की उपेक्षा की ओर संकेत करते हुए, शर्माजी ने लिखा था—"पचीस-तीस वर्ष पहले अंगरेजी फिटफाट वाले बाबू तथा संस्कृत के प्रचंड पण्डित दोनों ही हिन्दी भाषा की ओर संकुचित दृष्टि से देखते थे। ......किन्तु, अपने गुणों से तथा सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र आदि महाकवियों की अपूर्व प्रतिभा से, हिन्दी केवल भारत में ही नहीं, द्वीपान्तरों में भी माननीय हो रही है। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी हो ही रही है, थोड़े दिनों में महोत्साह मारवाड़ी भाइयों के भूव्यापक वाणिज्य आदि से 'संघीय', 'नन्दन' और 'नवार्क' में भी इसका प्रचार होना दुर्घट नहीं दीख पड़ता।" शर्माजी के इस व्यंजक वाक्य से उनकी हिन्दी-निष्ठा के साथ-साथ शब्द-सर्जन-प्रवृत्ति का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। उपर्युक्त वाक्य में "संघीय", "नन्दन" और "नवार्क" शब्द क्रमशः अँगरेजी के "संघाई", "लन्दन" और "न्यूयार्क" के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार, वे बहुधा अँगरेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय, संस्कृत की शब्द-प्रक्रिया के आधार पर, रचा करते थे। उदाहरणार्थ, अँगरेजी के "ऑक्सफोर्ड", कैम्ब्रिज" "अलेक्जेन्डर" "न्यूटन" आदि शब्दों के पर्यायस्वरूप उन्होंने "उक्षप्रतर", "कामसेतु", "अलीकचन्द्र", "नवतन" आदि शब्दों का सर्जन किया था!

हिन्दी गद्य-शैली के प्रमुख प्रवर्त्तक के रूप में शर्माजी ने जो सेवाएँ की थीं, वे सर्वविदित हैं। किन्तु, यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि शर्मा जी हिन्दी में कविता भी करते थे। उनकी कविताओं में देशानुराग एवं भारत के अतीत गौरव के भाव बहुधा प्रस्फुटित होते थे। इस दृष्टि से, वे श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की कोटि में माने जा सकते हैं। उनकी "भारतोत्कर्ष" शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं:—

"वाचक! विचारो तो जरा, इस देश की पहली छटा।
अब आज कैसी घिर रही, अज्ञान की काली घटा।।
गौतम, कपिल, कणाद-से, ज्ञानी यहाँ पर हो गये।
परिपूर्ण दर्शन-शास्त्र रच, अज्ञान सबका धो गये।।

हिन्दी भाषा की सर्वांगीण समृद्धि के लिए शर्माजी सदैव चिन्तित और यत्नशील रहते थे। इस संबंध में, अपने विचारों को व्यक्त करते हुए, उन्होंने लिखा था—"जिस भाषा में विज्ञान, दर्शन, इतिहास, आदि के स्वतन्त्र उत्तम निबन्ध नहीं, प्राचीन या वैदेशिक आकर-ग्रन्थों के अनुवाद नहीं, दो-एक उत्तम छोटे-बड़े विश्वकोष नहीं, उस भाषा को अपनी मातृभाषा कहने वाले को तो लज्जा के मारे तबतक सभ्य जगत् में मुँह नहीं दिखाना चाहिए और अपनी भाषा के विषय में शेखी नहीं छाँटनी चाहिए, जबतक वे अपने प्रयत्नों से अपनी भाषा के इन कलंकों को दूर न कर लें।" अपने 'हिन्दी की वर्तमान दशा' शीर्षक निबन्ध में, शर्माजी ने, हिन्दी के साहित्य-भाण्डार के अभावों को दूर करने के अभिप्राय से, एक सौ ऐसे विषयों की सूची प्रस्तुत की थी, जिनपर ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन उनका इष्ट था। आज भी वह सूची हमारे साहित्य-निर्माताओं के लिए, पथ-प्रदर्शिका के रूप में, उपयोगी है।

शिक्षा के माध्यम के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी के व्यवहार के आप प्रबल समर्थक थे। आज से प्रायः चार दशाब्दी पूर्व, आपने इस विषय में, अपने 'हिन्दी में उच्च शिक्षा' शीर्षक निबन्ध में, लिखा था कि—"सभी सभ्य देशों में आज शिक्षा का प्रचार देश ही की भाषा में हो रहा है। वैदेशिक भाषा में शिक्षा का प्रचार कदाचित् भारत के ही सदृश दीन-हीन देशों में होता होगा।" इससे स्पष्ट विदित होता है कि, देशवासियों की शिक्षा के माध्यम के रूप में, अँगरेजी भाषा के बदले, देशी भाषा के व्यवहार के लिये वे कितने उत्सुक थे।

इसी प्रकार, 'हिन्दी में विश्वकोष की अपेक्षा' शीर्षक निबन्ध में, शर्माजी ने लिखा था कि—"आज प्रायः सभी सभ्य जातियों में विश्वकोष वर्तमान हैं। अँगरेजी में तो एक रुपये से लेकर पाँच सौ रुपये तक के विश्वकोष देखे जाते हैं। जर्मन, फ्रांसीसी आदि भाषाओं में भी ऐसा ही है। पर भारत में जहाँ कम-से-कम दस करोड़ मनुष्य हिन्दी बोलते और समझते हैं, हिन्दी में अभी एक भी विश्वकोष नहीं है।"

इन लेखों के द्वारा, शर्माजी, हिन्दी के साहित्य-निर्माताओं का ध्यान हिन्दी भाषा-साहित्य के अभावों की ओर आकृष्ट कर, उन्हें रचनात्मक कार्यक्रम का अनुसरण करने के लिये उत्प्रेरित करते रहते थे। आशा है, वर्त्तमान युग के साहित्यकार भी इन लेखों से यथेष्ट लाभ उठाकर, राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि में संलग्न होंगे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने, पूज्यपाद शर्माजी की स्फुट रचनाओं का प्रस्तुत संग्रह प्रकाशित कर, उनका नहीं, अपना गौरव बढ़ाया है। हिन्दी भाषा-साहित्य के उद्भव और

विकास में बिहार के योगदान का विस्तृत इतिहास जब लिखा जायगा, तो महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा उसमें, प्रगति के पथ पर स्थित एक विशाल निर्देश-स्तम्भ के रूप में, निश्चय ही दृष्टिगत होंगे—"स्थितः पृथिव्यामिव मानदंडः।"

मेष-संक्रान्ति
वि० सं० २०११

—चारी शास्त्री
(पद्-मंत्री)

श्रीरामावतारशर्मा–निबंधावली

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा

परिचय

"भारतस्य न भा भाति, विहारो हारवर्जितः ।
रामावतारे स्वर्याते मूर्च्छितेव सरस्वती ।।"

भारत की पुण्यभूमि आदिकाल से ही दिव्य द्रष्टाओं, सिद्ध सन्तों एवं विलक्षण बौद्धिक विभूतियों की जन्म-भूमि के रूप में विख्यात रही है। वाल्मीकि और वेद-व्यास, कपिल और कणाद, जनक और याज्ञवल्क्य तथा पाणिनि और पतञ्जलि की इस विमल भूमि ने, आधुनिक काल में भी, ऐसे अनेक अद्भुत नर-रत्नों को उत्पन्न किया है, जिनकी अलौकिक ज्योति से सम्पूर्ण भूमण्डल आलोकित हुआ है। रामकृष्ण और चैतन्य, विवेकानन्द और विद्यासागर, दयानन्द और राममोहन राय, तिलक और गोखले, महायोगी अरविन्द और महर्षि रमण, तथा गाँधी और रवीन्द्रनाथ ने जैसे अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में, अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से, निखिल मानवता की हितसिद्धि के निमित्त, सफल प्रयास किये थे, उसी प्रकार महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा ने भी, अपने अविश्रान्त स्वाध्याय एवं अविचल ज्ञान-साधना के द्वारा, समाज के समक्ष, सरस्वती की उपासना का जो अनुपम एवं अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया था, उससे समग्र साक्षर संसार सहज ही विस्मय-विमुग्ध हो गया था!

विलक्षण व्यक्तित्व

शर्माजी के विलक्षण व्यक्तित्व के विविध गुणों का विश्लेषण करते हुए, उनके असामयिक निधन के बाद, किसी लेखक ने लिखा था कि—"आप साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ के समान, व्याकरण में बालशास्त्री के समान, न्याय में गदाधर के समान, वेदान्त में शंकराचार्य के समान, धर्मशास्त्र में हारीत के समान, ज्यौतिष मे भृगुमुनि के समान, पुरातत्त्वान्वेषण में भण्डारकर के समान, गद्य-लेखन-शैली में बाणभट्ट के समान, वाद-विवाद की तर्क-पद्धति में डाक्टर जॉनसन के समान, सूक्ति-कथन में शुकदेव के समान, स्मरणशक्ति की प्रबलता में मेकॉले के समान, विज्ञान-महत्ता-प्रतिपादन में बेकन के समान, कविता में कालिदास के समान, वेदार्थ-तत्त्व-विवेचन में यास्क और सायणाचार्य के समान, जात्यभिमान में लोकमान्य तिलक के समान, सामाजिक क्रान्ति में लूथर के समान, विधवा-विवाह-समर्थन में विद्यासागर और महात्मा गाँधी के समान, पुनर्जन्म-खण्डन में चार्वाक के समान, मनस्विता में शिवाजी के समान और दयालुता में गोखले के समान थे।" वस्तुतः, आपके विलक्षण व्यक्तित्व में हृदय एवं मस्तिष्क के विविध गुणों का अतिशय सामंजस्य दृष्टिगत होता था। आप सर्वतोमुखी प्रतिभा के मूर्तिमन्त प्रतीक थे। समस्त भूमण्डल

के चूडान्त विद्वानों में आपकी गणना होती थी। आपके देदीप्यमान व्यक्तित्व से ब्रह्मतेज की आभा निरन्तर प्रस्फुटित होती रहती थी; उसके सामने बड़े-बड़े विद्वान् भी सर्वथा हतप्रभ हो जाते थे। आपकी अनूठी एवं चित्ताकर्षक तर्कावलियाँ बड़े-बड़े नैयायिकों तथा धुरन्धर तार्किकों को भी सहज ही निरुत्तर कर देती थीं। आपके प्रचण्ड पाण्डित्य का लोहा समस्त साक्षर समुदाय मानता था। आपकी विचित्र विद्या-पारंगामिता विभिन्न विषयों के विश्वविख्यात विद्वानों को भी सहज ही चकित कर देती थी। यही तो आपके विलक्षण व्यक्तित्व की विशेषता थी।

वर्त्तमान युग के बृहस्पति

शर्माजी के विशाल व्यक्तित्व के विविध तत्त्वों का विश्लेषण करने पर, हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके निर्मल एवं निष्कलुष हृदय में विद्यानुराग का स्थान सर्वोपरि था। उनके ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और उनकी विद्वत्ता अगाध। यद्यपि आप सामान्यतः संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड विद्वान् के रूप में ही सुविख्यात थे, तथापि जिन लोगों को उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, वे यह भली भाँति जानते हैं कि संसार का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जिसका ज्ञान उन्हें नहीं था। आपकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त अलौकिक थी। संस्कृत तथा अँगरेजी के सैकड़ों ग्रन्थों को आपने अपने स्मृति-पट पर अंकित कर लिया था। उपनिषदों तथा अन्यान्य प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों को अपनी प्रचण्ड मेधाशक्ति से आपने कण्ठस्थ कर लिया था। काव्य-शास्त्र के अनेक ग्रन्थ भी आपके जिह्वाग्र थे। इसी कारण, अध्यापन के समय, आपको कदापि पाठ्यग्रन्थों को देखने की आवश्यकता न होती थी। यदि यह कहा जाय कि आप सजीव पुस्तकालय थे, जंगम विश्वकोश थे, मूर्तिमन्त विश्वविद्यालय थे, तो कदाचित् लेशमात्र भी अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः, आप वर्त्तमान युग के बृहस्पति थे!

मूर्तिमान् दर्शन

यद्यपि सभी विषयों के ज्ञानार्जन में शर्माजी की रुचि समान थी, तथापि यह निर्विवाद है कि दर्शन उनका सर्वाधिक प्रिय विषय था। इसी कारण, देश के विभिन्न भागों के विद्वानों के अतिरिक्त, विदेशी निष्णात विद्वान् भी, विभिन्न दार्शनिक समस्याओं के विषय में, आपसे आलोक प्राप्त करने के लिए सदैव उत्सुक रहते थे। आपका 'परमार्थ दर्शन' सप्तम दर्शन के रूप में विख्यात है। उसमें प्रतिपादित आपके अभिनव दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार भूमण्डल के प्रायः सभी सभ्य देशों में हुआ है और सर्वत्र विद्वत्समाज ने उन उच्च उत्प्रेरक सिद्धान्तों का समादर किया है। इस अपूर्व दर्शनग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम १९११-१२ ई० में काशी से हुआ था। उसके पूर्व ही, उनकी विलक्षण दार्शनिकता की ख्याति का विस्तार देश-विदेश में हो चुका था। इसी के परिणामस्वरूप, १९०८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें 'वेदान्त' के विषय में व्याख्यान देने के लिए सादर आमंत्रित किया था। उन व्याख्यानों का भी पुस्तकाकार प्रकाशन उसी समय हुआ था।

भारतीय दर्शन के सुविकास के साथ-साथ, शर्माजी ने पाश्चात्य दर्शन का भी यथेष्ट अध्ययन किया था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में, १६०५ ई० में, आपके 'यूरोपीय दर्शन' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था। उसके पूर्व, १६०२ ई० में, आपने पुराणों का दार्शनिक विवेचन करते हुए अँगरजी में एक ग्रन्थ लिखा था, जो अप्रकाशित है। आपकी दार्शनिक विशिष्टताओं की प्रशंसा करते हुए, माध्व सिद्धान्तों के एक मर्मज्ञ विद्वान् ने कहा था कि "आप स्वयं मूर्त्तिमान् दर्शन थे।' '

संस्कृत-साहित्य-सेवा

दर्शन के अतिरिक्त, संस्कृत-साहित्य के अन्य अंगों के अभीप्सित विकास के लिए भी शर्माजी ने अनिर्वचनीय सेवायें की थी। संस्कृत में आपने अनेक ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जो अनुपम एवं अलौकिक हैं। आपकी संस्कृत कृतियों में "वाङमय महार्णव" नामक श्लोकबद्ध विश्वकोष सर्वश्रेष्ठ है। इसकी रचना १६११ ई० से १६२५ ई० तक की अवधि में हुई थी। उक्त विश्वकोष, निस्सन्देह, उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि हमारे राष्ट्रपति देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी की शुभ प्रेरणा से बिहार-राज्य-सरकार उक्त विश्वकोष के प्रकाशन के लिये यत्नशील है। शर्माजी संस्कृत-साहित्य को संसार का श्रेष्ठतम साहित्य मानते थे और उसके सभी अंगों के सुविकास के लिये अनवरत उद्योगशील रहते थे। आपके निधन के बाद, आपकी अनुपम संस्कृत-सेवाओं की प्रशंसा करते हुए, एक फ्रान्सीसी विद्वान् ने ठीक ही कहा था कि— 'शर्माजी ने दस वर्षों की अवधि में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, उसे हम, पचास पाश्चात्य विद्वान्, एक साथ मिलकर, पचास वर्षों में भी सम्पन्न नहीं कर सकते थे!'

अगाध हिन्दी-निष्ठा

संस्कृत के साथ-साथ, राष्ट्रवाणी हिन्दी की सर्वाङ्गीण समुन्नति के लिये भी, शर्माजी सदैव सचेष्ट रहते थे। सार्वदेशिक उपयोग के लिये, भारत की राष्ट्रभाषा के गौरव-मंडित पद पर हिन्दी को सुप्रतिष्ठित करने में आपने महत्वपूर्ण योगदान किया था। देश भर में, उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में भी, अँगरेजी के बदले हिन्दी का ही व्यवहार वे सर्वथा उपयुक्त समझते थे। आपकी हिन्दी-निष्ठा, वस्तुतः, अत्यन्त अगाध थी। १६१६ ई० में, जबलपुर में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सप्तम वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष-पद को आपने ही अलंकृत किया था। उस अवसर पर, आपके सभापतित्व का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए, पंडित विष्णुदत्त शुक्ल ने कहा था कि—"आप अपनी उच्चकोटि की विद्वत्ता के कारण ही प्रायः देशभर की पठित जनता में सुप्रसिद्धि पा चुके हैं। आपने अपनी इस विद्वत्ता से हिन्दी भाषा के भाण्डार की खासी वृद्धि की है।" सुप्रसिद्ध हिन्दी-सेवी श्री श्यामसुन्दर दास तो शर्माजी को अपना गुरु ही मानते थे। हास्य-रसावतार पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने, उक्त अवसर पर, कहा था कि—'जैसे रामावतार' के समय मर्यादा स्थापित हुई, वैसे ही आज भी यहाँ रामावतार हुआ है!

हिन्दी की भी मर्यादा स्थापित हो जायगी।" उक्त सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से आपने जो सारगर्भ भाषण किया था, वह हिन्दी के अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए बहुत उपयोगी है।

राष्ट्रवाणी हिन्दी का सुविकास

हिन्दी भाषा-साहित्य के विविध अभावों को अविलम्ब दूर करने के लिये, शर्माजी ने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये थे। १९०५ ई० में, जबकि हिन्दी में भाषा-विज्ञान का कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित न हुआ था, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में, आपने इस विषय पर एक गंभीर व्याख्यान दिया था, जो सभा द्वारा प्रकाशित किया गया था। १९०७ ई० में, आपने भाषा-विज्ञान के आधार पर एक अभिनव हिन्दी व्याकरण की रचना की थी, जिसकी रूपरेखा उसी वर्ष कलकत्ता की 'देवनागर' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। १९१० ई० में, उक्त व्याकरण-पुस्तक 'हिन्दी ट्रान्सलेटिंग कम्पनी, कलकत्ता' द्वारा प्रकाशित हुई। १९११ ई० में, प्रयाग में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन में, आपने हिन्दी के अपूर्ण अंगों की पूर्ति के विषय में एक निबन्ध प्रस्तुत किया था, जिसमें लेखकों के पथ-प्रदर्शन के अभिप्राय से एक सौ विषयों की एक सूची भी सम्मिलित थी। १९१३ ई० में, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन (भागलपुर) के अवसर पर, शर्माजीने 'हिन्दी भाषा में उच्च शिक्षा' की व्यवस्था के उद्देश्य से एक ज्ञानवर्द्धक एवं उपयोगी निबन्ध पढ़ा था। सम्मेलन के उक्त अधिवेशन में, हिन्दी परीक्षा की नियमावली पर विचार करने के लिये जो समिति संगठित हुई थी, उसके सदस्यों में आप प्रमुख थे। आप, वर्षों तक, सम्मेलन की स्थायी समिति तथा अन्यान्य समितियों के मान्य सदस्य थे। १९२० ई० में, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने, श्री कामता प्रसाद गुरु द्वारा प्रणीत बृहत् हिन्दी व्याकरण के ग्रन्थ को सर्वथा शुद्ध एवं प्रामाणिक बनाने के लिये, जो समिति बनायी थी, उसके सदस्यों में आपका स्थान सर्वोपरि था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भी उस समिति के सदस्य थे। अपने युग में आप हिन्दी व्याकरण-शास्त्र के एकमात्र प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के भी आप अधिकारी विद्वान् थे। हिन्दी के सुविख्यात आलंकारिक एवं प्राचीन-साहित्य-मर्मज्ञ लाला भगवान दीन जी बहुधा अपनी शंकाओं का समाधान शर्मा जी से ही कराते थे।

शर्माजी के विशाल एवं विलक्षण व्यक्तित्व, उनके दिव्य तपश्चर्यापूर्ण जीवन, तथा उनकी अलौकिक ज्ञान-साधना का सम्यक् परिचय, इस संक्षिप्त लेख में, देना नितान्त असंभव है। इन पंक्तियों के द्वारा, उनके अद्भुत जीवन-दर्शन एवं अनुपम साहित्य-सेवा का आभासमात्र दिया गया है। आशा है, इस ग्रन्थ के अध्येता, उनकी गंभीर विचारवलियों से सुपरिचित होकर, अपने ज्ञान का यथेष्ट विस्तार करेंगे।

चैत्र-पूर्णिमा
वि० सं० २०११

उमानाथ

विषय सूची

—o—

श्रीरामावतारशर्मानिबन्धावली

ज्योतिर्विद्या

आज से कम से कम पाँच हजार वर्ष पहले भारत के आर्यों में और स्तिग्रिया और उत्पया के दोआब में रहने वाले असुरों में ज्योतिर्विद्या का आविर्भाव हुआ। ज्योतिष-वेदाङ्ग आदि प्राचीन ग्रन्थों से मालूम पड़ता है कि पहले-पहल कुछ तो दिक् और काल के निर्णय के लिए तारा-ग्रह आदिको का निरीक्षण करते थे और कुछ स्वाभाविक कौतुक के कारण भी आकाश में चलने वाली इन दिव्य वस्तुओं की ओर दृष्टि रखते थे। प्राचीनो में बिना घडी के समय का निश्चय तारों ही के द्वारा होता था। समय का निश्चय न होने से अर्थात् वर्ष, अयन, ऋतु, मास, तिथि आदि न जानने से जोतना, बोना आदि सब कामो मे गड़बड़ी हो सकती थी। रात को समुद्र में या वन में दिङ्निर्णय, बिना तारो की स्थिति के ज्ञान के नहीं हो सकता था। इन कारणों से चीन, भारत, अजपुत्र आदि प्रदेशो में ज्योतिर्विद्या का विस्तार होने लगा। चीन में शकाब्द से २३७८ वर्ष पहले यव नाम के सम्राट् के आज्ञा-पत्रों से जाना जाता है कि यव से कई हजार वर्ष पहले से लोग विषुव का निर्णय कर सकते थे। शक संवत् से २२१४ वर्ष पूर्व चीन वालों ने सूर्य-ग्रहण का निरीक्षण किया था। शक वर्ष से प्रायः ११०० वर्ष पहले चीनी लोगो ने जल-घडी आदि कई यन्त्र बनाये थे। १२०२ में कुबलाई खाँ के राज्य होने के समय के बने हुए लग्न-निर्णय आदि के कई यन्त्र उन्नीसवीं शताब्दी तक वर्तमान थे। अजपुत्रो में पहले लोग तारो को पूजते थे। फिर उनका वैज्ञानिक निरीक्षण करने लगे। असुरो में १८ वर्ष ११ दिन वाली गणना के अनुसार पहले ही से ग्रहण-निर्णय की विद्या थी। पड्गण सम्राट् के लेखों से जान पड़ता है कि उसके राज्य के बहुत पहले से (३८७८ वर्ष शक संवत् के पहले से) असुर लोग तारों को निरीक्षा कर रहे थे। क्रम से इन्हीं लोगो में राशियों की कल्पना हुई। 'बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यन्नक्षत्रमभिसंबभूव।' इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थो के लेखों से जान पड़ता है कि इन्ही प्राचीन समयो में नक्षत्र आदि की कल्पना भारत के आर्यों में भी हुई। भारतीयों और असुरों में किन की कल्पना अधिक प्राचीन है, यह निश्चय करना आज अत्यन्त कठिन है। ग्रहो की फिर अपनी पुरानी स्थिति में आ जाने के समय का निश्चय असुरों को हो चुका था—अर्थात् इन्हें यह विदित था कि शुक्र प्रायः ८ वर्ष में, बुध ४६ वर्ष में, शनि ५६ वर्ष में, मङ्गल ६६ वर्ष में, और बृहस्पति ८३ वर्ष में फिर अपनी पुरानी स्थिति में आ जाते हैं। असुरो के बाद यवनों में ज्योतिर्विद्या गई। स्थलीश, पृथुगौर आदि यवनो ने बाहर से इस विद्या का अभ्यास कर अपने देश में विस्तार किया। अरिष्टार्काचार्य ने शकाब्द से ३५८ वर्ष पूर्व पहले-पहल सूर्य-केन्द्रक ज्योतिष का प्रचार

करना चाहा; पर अवस्था की प्रतिकूलता से किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। वेदों में पृथ्वी के गो, ग्मा, ज्मा, क्षमा आदि नामों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वैदिक लोग पृथ्वी में नक्षत्रों की-सी ही स्थिरता नहीं समझते थे। परन्तु इसकी गति ग्रहों की-सी समझते थे। अरिष्टार्क के पहले ऊर्ध्वाक्ष ने शकाब्द से ४८६ वर्ष पूर्व जो भूकेन्द्रक ज्योतिष चलाया था वही कुर्पणिक के समय तक पाश्चात्यों में और आर्य-भट्ट-कृत सूर्य-केन्द्रक ज्योतिष के उपपादन के बाद आज भी भारतीयों में चल रहा है। शक संवत् से ३९६ वर्ष पहले पाटलिपुत्र में आर्य-भट्ट हुए। इनकी स्वतन्त्र सूर्य-केन्द्रक ज्योतिष की कल्पना भी समय की प्रतिकूलता से किसी को स्वीकृत नहीं हुई। यवनों का ज्योतिष अलिकचन्द्रीया पुरी में खूब बढ़ा। अरिष्टार्काचार्य इसी अलिकचन्द्रीयापुरी में वेध आदि करते थे। अष्टमी के दिन सूर्य और चन्द्र के केन्द्रों के कोण के नापने से उनका अन्तर निकालने की विधि इनके ग्रन्थ में दी है। अन्ततः शिफार्क और तुरमय आचार्यो ने वर्ष, मास, ग्रहगति, चन्द्रगति आदि का निश्चय कर पञ्चाङ्ग ठीक किया। भारत में भी आचार्य आर्य-भट्ट के समय तक सूर्य-सिद्धान्त आदि के प्रणेताओं ने पञ्चाङ्ग ठीक किया। तुरमय की प्रणाली सत्रहवीं शताब्दी में कुर्पणिक तक प्रायः एक आकार की रही। बीच-बीच में पाश्चात्य लोग विजयशाली अरब लोगों से ज्योतिष में सहायता पाते रहे। जब-तब एक-आध नई बातें भी विद्वान् लोगों के द्वारा निकल आती थीं। सोलहवीं शताब्दी में इष्टालय देश में ज्योतिष में तुरमय और दर्शन आदि शास्त्रों में अरिष्टोत्तर आदि की प्रतिष्ठा तोड़ने का प्रबन्ध हो चला था। प्राचीनों को ऋषि-गौरव से देखने की बात अब उठ चली थी। प्रत्येक नवीन और प्राचीन बात की परीक्षा होने लगी। इसका फल यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य कुर्पणिक ने अपनी उपपत्तियों से समूचे प्राचीन ज्योतिष को उलट दिया। सूर्य-केन्द्रक गणित का उपपत्ति-पूर्ण आविर्भाव हुआ। केवल कक्षाओं को दीर्घ-वृत्त न समझ कर उन्हें शुद्ध वृत्त मानने के कारण कुछ अशुद्धियाँ कुर्पणिक के गणित में रह गई थीं, जिनकी शुद्धि नक्षतनु आदि आचार्यो के द्वारा हुई। कुर्पणिक के बाद तर्कवराह आदि वेध, दर्शक यन्त्रों के निर्माण आदि में, तथा गणित-विषयों में भी, नई उन्नति करते गए। कपिलार्य ने तर्कवराह के निरीक्षित और परीक्षित विषयों को अपनी बुद्धि के महा-यन्त्र में डाल कर ज्योतिर्विद्या के अनेक नियमों को निकाला। ग्रह-कक्षाओं की दीर्घ-वृत्तता का ज्ञान पहले-पहल इन्हें हुआ। इन्होंने इस बात का निश्चय किया कि सूर्य-ग्रह कक्षा-वृत्त का केन्द्र नहीं है; किन्तु ग्रह-कक्षारूपी दीर्घ-वृत्तों के दो केन्द्रों में से एक है।

कपिलार्य-निर्णीत ग्रह-गति के तीन नियम आज ज्योतिर्विद्या वालों में सुप्रसिद्ध हैं। इस आचार्य की सारणियाँ आज तक भी काम में लाई जाती हैं। केतुओं को शीघ्र नश्वर समझ कर इसने केतु-कक्षाओं के विषय में अन्वेषण नहीं किया। पाश्चात्यों में इस प्रकार ज्योतिर्विद्या दिन-दूनी रात-चौगुनी हो रही थी कि इधर भारत में आर्य-भट्ट के बाद से, क्रम से, इसकी जो अवनति होने लगी सो सत्य,

वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि के अपूर्व परिश्रम से भी न रुक सकी और भास्कर के साथ ही ज्योतिःप्रभा भी अस्त हो ही गई। उधर पाश्चात्यों में कुर्पणिक के पहले जो कुछ फलित और तन्त्र आदि में श्रद्धा हो रही थी सो अनर्थ से घृणा रखने वाले आचार्यों के परिश्रम से दबने लगी। इसलिए वहाँ असली ज्योतिर्विद्या और रस-शास्त्र आदि की उन्नति कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इधर भारत में अनर्थ को पूजने वाले, कुकल्पना के उपासक महात्माओं की कृपा से फलित, तन्त्र, योग, सामुद्रिक, स्वरोदय आदि की कुछ ऐसी प्रथायें धीरे-धीरे आकाश को ठेक रही थी कि प्रश्नकर्त्ता के कहे हुए फूल के नाम से नष्ट-जातक बनाने वालों के, नामाक्षरों से या हस्त-रेखाओं से कन्या-वर का मिलान करने वालों के, और योग-बल से या तन्त्र-बल से जब चाहें सूर्य-ग्रहण आदि घर की कोठरियों में दिखाने वालों के हाथ से सरस्वती-माता के ज्योतिष आदि अङ्गों का उच्छेद हुआ तो कौन बड़ी बात है। पाश्चात्यों में कुर्पणिक और कपिलार्य ने ज्योतिर्विद्या की बड़ी उन्नति की। पर कपिलार्य तक यह खयाल न था कि बिना किसी चलाने वाली शक्ति के द्रव्य चल सकता है। इसलिए इनकी ज्योतिर्विद्या कई अंशों में दुर्बल रह गई। कपिलार्य के समय में गुरुलव के द्वारा यन्त्र-शास्त्र की बहुत उन्नति हुई। यन्त्र-शक्ति का ठीक स्वभाव गुरुलव ने समझा। कपिलार्य और गुरुलव यदि दोनों मिल कर कार्य करते तो ग्रहगति का वास्तव तत्त्व निश्चित होना दुस्तर नहीं था। गुरुलव के समय में दूरवीक्षण यन्त्र बिकने लगे थे। इनके द्वारा खगोल की निरीक्षा इसने खूब की और खगोल के ज्ञाताओं में इसका दर्जा बहुत ऊँचा है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है, इस बात का लोगों में प्रचार करने के लिए पोप महाशय की कचहरी से इसे आमरण कारावास का दण्ड मिला। इधर दशक्रतु आदि गम्भीर विचार वाले विद्वानों के परिश्रम से बीजगणित, रेखागणित कलनगणित आदि में ऐसी उन्नति हो गई कि अब तो ज्योतिर्गणित के महाविकास होने में बड़ी सुविधा हो चली। इसी बीच अपूर्व प्रतिभाशाली नवतनु का आविर्भाव हुआ। इसकी परीक्षाओं से आकर्षण-शक्ति का निश्चय हुआ जिससे तारा, ग्रह, केतु आदि की गति का ठीक-ठीक तत्त्व विद्वानों को विदित हो गया। अब योगबल से सब तारा, ग्रह आदि को चलाने वाले 'यन्ता' की आवश्यकता न रही। नवतनु के बाद ज्योतिर्गणित में बड़े-बड़े पाश्चात्य गणितज्ञ उन्नति करते गये। अन्ततः हरिशील, लवकर आदि विद्वानों के परिश्रम से पाश्चात्यों में ज्योतिर्विद्या उस उन्नति पर पहुँची जहाँ यह आज वर्तमान है। आज भारत में प्रायः 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमनात्' पतञ्जलि की इस उक्ति का यह अर्थ समझ कर कि अँधेरी कोठरी में सूर्य-बिम्ब का ध्यान करने से समस्त संसार का ज्ञान हो जाता है—बापूदेव, सुधाकर आदि को—छोड़ करोड़ों भारतीय सूर्योदय के बाद भी सोते हुए सूर्य-बिम्ब का स्वप्न देखते जाते हैं; या ग्रह-ग्रहण आदि कृत उपद्रवों की शान्ति के लिए पूजा-पाठ आदि कर रहे हैं; और मान-मन्दिर आदि टूटी-फूटी वेधशालायें उजाड़ हो रही हैं। तब तक पाश्चात्य देशों में

नवजीव भूमि से हरित भूमि तक सभी स्थानों में सैकड़ों हजारों वेधालयों में अनेकानेक बड़े-बड़े गणितज्ञ रात्रिंदिव सूर्य, तारा, ग्रह, उपग्रह, केतु आदि का कोणमान, दूरवीक्षण, तैजसरेखादर्शक, चित्रग्राह आदि यन्त्रों के द्वारा निरीक्षण कर असली भुवनज्ञान करके शब्द-ब्रह्म का असली सेवन कर रहे हैं। हाल में भारत के दो बड़े ज्योतिर्विद् (बापूदेव और सुधाकर) सर्वात्मा में लीन हुए। इस समय पाश्चात्यों में न्यूकम्ब और नवकाम बहुत बड़े ज्योतिर्विद् हैं, जिनके ग्रन्थों से आज समस्त जगत् कृतार्थ हो रहा है।

हम लोगों के चारों ओर, और सिर पर, जो आकाश देख पड़ता है उसका अन्त नहीं है। इस आकाश में अनेक संसार हैं। जैसे समुद्र में अनेक टापू होते हैं वैसे ही इस आकाश में अनेक संसार वर्तमान हैं। उनमें से एक संसार, जिसमें करोड़ों तारे आदि हैं, हम लोगों को देख पड़ता है। गणित के द्वारा इस संसार का आकार कुछ लोगों ने निश्चित किया है। पर इस संक्षिप्त लेख में इस बात का विचार उपयुक्त नहीं होगा। जैसे आकाश में बिना आधार के तारे देख पड़ते हैं वैसे ही बिना आधार के पृथ्वी भी आकाश में स्थित है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ है कि पृथ्वी का आकार प्रायः गोला-सा है। इसका एक सीधा-सा प्रमाण यह है कि समुद्र को किनारे पर से देखने वाले को दूर से समुद्र में आते हुए जहाज के मस्तूल का सिरा ही पहले देख पड़ता है। धीरे-धीरे समूचा मस्तूल और जहाज के तख्ते तक देख पड़ने लगते हैं। यदि पृथ्वी चिपटी होती तो जहाँ से सब जहाज दृश्य होता है वहीं से उसके नीचे से ऊपर तक के सब अंश देख पड़ते। भास्कराचार्य ने लिखा है कि इस गोली पृथ्वी के चारों ओर कदम्ब के केसर के सदृश पहाड़, वृक्ष, पशु, मनुष्य आदि वर्तमान हैं। खड़े होने पर सभी के पैर सीधे पृथ्वी के केन्द्र की ओर हैं और सभी का सिर आकाश की ओर रहता है। अब प्रायः पृथ्वी के एक आधे में रहने वाले पूछते हैं या मन में शंका करते हैं कि दूसरे आधेवाले पृथ्वी से गिर क्यों नहीं जाते। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से पृथ्वी पर की और आस-पास की वस्तु पृथ्वी के केन्द्र की ओर खींची जाती है। यदि कोई अवलम्ब न हो और पृथ्वी में गढा करते जायें तो सभी केन्द्र में जा कर सट जायेंगे। इस आकर्षण-शक्ति को भास्कराचार्य जानते थे और इसका वर्णन उनकी सिद्धान्तशिरोमणि में है। जैसे हम लोग पृथ्वी से उड़ कर आकाश में नहीं जाते, वैसे ही दूसरे गोलार्ध, अर्थात् अमेरिका आदि के लोग भी, पृथ्वी पर चिपके रहते हैं। उनके गिरने की शंका क्या है कि वे उड़ कर आकाश में क्यों नहीं चले जाते, यह प्रश्न करना है। यह तो सबको विदित है कि भारत, अमेरिका आदि के योगी अँधेरी कोठरी में स्वर के तुम्बे के आकार में या दीवार की अलक्ष्य खूँटी के अवलम्ब पर थियेटरों में भले ही उड़ें पर अनन्त में मनुष्य आदि पक्ष-रहित जन्तुओं में उड़ने की शक्ति नहीं है। ये तो जैसे ही कूदते हैं वैसे ही पृथ्वी के आकर्षण से नीचे आ पड़ते हैं। बात ठीक ही है। यदि एक वस्तु समान आयाम में दूसरी वस्तु अर्थात् जल, वायु आदि से हलकी

न हो तो उस वस्तु पर नहीं तैर सकती है। मनुष्य अपने आयास की वायु से कहीं भारी है। फिर वह हजार प्राणायाम करने पर भी कैसे उड़ सकता है!

यदि किसी स्वच्छ रात्रि में अर्थात् जब मेघ, कुहरा आदि का आवरण न रहे तब हम लोग आकाश को देखें तो इसमें पहले तो तीन वर्ग की वस्तुएं देख पड़ती हैं। सबसे अपूर्व और बड़ी तो एक वह वस्तु देख पड़ती है जिसे लोग चन्द्रमा कहते हैं। अपने वर्ग में यह एक अकेली ही चीज है। सन्ध्या समय चन्द्रमा कभी पूरब में देख पड़ता है, कभी आकाश के बीच और कभी पच्छिम में। बिना यन्त्र की सहायता, आंख से देखने वालों को इस वर्ग की और कोई दूसरी वस्तु नहीं देख पड़ती। चन्द्रमा के अतिरिक्त छोटे-छोटे हजारों उज्ज्वल बिन्दु आकाश में देख पड़ते हैं, जिन्हें लोग तारे कहते हैं। इस गोलप्राय पृथ्वी पर जहां से देखिए एक आधे की ओर का आकाश और उसके हजारों तारे आदि देख पड़ते हैं। असल में कितने तारे इस संसार में हैं, इसका निश्चय करना कठिन है। पर बिना दूरवीक्षण आदि यन्त्रों के आकाश भर में प्रायः छः हजार तारों का दर्शन हो सकता है। एक समय आधा ही आकाश दृश्य होता है, इसलिए एक स्थान का पुरुष एक बार तीन हजार तारे देख सकता है। आकाश के चन्द्रमा और तारों के अतिरिक्त एक तीसरे ढंग की वस्तु देख पड़ती है, जो प्रायः दक्षिण से उत्तर की ओर जाती हुई सड़क-सी है। इसे प्राचीन ग्रन्थों में लोगों ने छाया-पथ कहा है। आजकल इसे आकाश-गङ्गा, रामजी की सड़क आदि अनेक नाम मिले हैं। यह उज्ज्वल कुहरे के सदृश देखने में आता है। मेघों से तारे छिप जाते हैं; पर इसके नीचे अनेक तारे देख पड़ते हैं। इससे जान पड़ता है कि यह तारों के नीचे कोई मेघ-सी वस्तु नहीं है; किन्तु तारों के ऊपर कोई और ही वस्तु है। इस प्रकार चन्द्रमा तारे और छाया-पथ तीन वर्ग की वस्तुयें तो आकाश में रात को साफ-साफ देख पड़ती हैं। कभी-कभी एक और भी अपूर्व वस्तु हम लोगों की आंखों के सामने पाहुन-सी आ जाती है। प्रायः झाड़ू के सदृश, मूर्खों को भय देने वाले केतु, बढ़नी आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध बड़े-बड़े खेचर बहुतेरों को देख पड़े होंगे। ये रोज के देखने की चीजों में से नहीं हैं। इन्हें केतु नाम से कहने में ही सुभीता होगा। इस प्रकार अभी तक चार वर्ग के खेचर हमें मिले। पर यदि थोड़ा विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि जिन्हें साधारण लोग तारे कहते हैं उनमें कुछ ऐसी चीजें हैं जो तारों के वर्ग की नहीं। तारे तो सूर्य के सदृश प्रति दिन प्रायः अपने ही स्थान पर देख पड़ते हैं और पूरब से पश्चिम की ओर बढ़ते हुए देख पड़ते हैं। पर तारों के सदृश उज्ज्वल बिन्दुओं में से कितने ऐसे हैं जो प्रायः अपने स्थान को छोड़ कर इधर-उधर होते रहते हैं। जैसे शुक्र, जिसे कितने ही लोग सुकवा भी कहते हैं, कभी सन्ध्या समय पच्छिम में उगता है और कभी प्रातःकाल पूरब में उगता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शुक्र आदि कितने ही उज्ज्वल बिन्दु ऐसे

भी हैं जो तारों के वर्ग के नहीं हैं। पृथ्वी के हिसाब से तारों का स्थान प्रायः नियत है। पर शुक्र आदि का स्थान नियत नहीं है। अनियत स्थान वाले इन बिन्दुओं को प्राचीन आर्यों ने ग्रह के नाम से प्रसिद्ध किया है। तारा-वर्गों को प्राचीन लोगों ने वैदिक समयों ही से नक्षत्र कह रखा है। नक्षत्र उसे कहते हैं जो अपने स्थान को न छोड़े। ग्रह और नक्षत्रों का भेद समझना बड़े विद्वान् का काम है। इस भेद के समझने से प्राचीन आर्यों की बुद्धि और विद्या की बड़ी प्रशंसा है। आज तो दो-चार ज्योतिषियों के अतिरिक्त बड़े-बड़े अँगरेजी और संस्कृत जानने वाले और महा-महा-विद्वान् होने की शेखी मारने वाले भी भारतीय जन इस भेद को प्रायः नहीं जानते। इस प्रकार वस्तुतः हमें पाँच प्रकार की वस्तुयें आकाश में मिलती हैं (१) छायापथ, (२) तारा, (३) ग्रह, (४) केतु और (५) उपग्रह अर्थात् चन्द्र। दिन को हमें सूर्य देख पड़ता है और देखने में अपने ढंग की अकेली चीज मालूम पड़ती है। पर आगे दिखाया जायगा कि यह भी एक तारा है। इसलिए इसे तारों ही के वर्ग मे रखना उचित है। (पृथ्वी के ऊपर कुछ दूर तक वायु-मण्डल है, जो पृथ्वी की ही एक पतली-सी बाहरी तह है। इसमें मेघ आदि तैरते रहते हैं। ज्योतिर्विद्या से इसका मुख्य सम्बन्ध नहीं है। पृथ्वी और अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में इनका वर्णन किसी और अवसर पर किया जायगा।) आगे की बातों को देखने से जान पड़ेगा कि इन पाँचों को इसी क्रम से रखने में सुभीता है। इनके अतिरिक्त उल्का आदि और भी कुछ वस्तुयें हैं, जिनके विषय में यहाँ कुछ सामान्य रीति से कहा जायगा।

दूरवीक्षण यन्त्र से देखने से छायापथ में दो अंश मालूम पड़ते हैं। कितनी जगहों में तो पृथ्वी से अत्यन्त दूर होने के कारण ऐसे छोटे-छोटे तारे घने मिले हुए देख पड़ते हैं जिन्हें सादी आँखों से हम लोग कुहरा के सदृश समझते हैं। पर छाया-पथ के कितने ही खण्ड असल में ऐसे हैं जो स्वप्रकाश तेजोमय द्रव्य के थट्टे हैं। इनमें तेज के कण बड़े वेग से घूम रहे हैं। इस कारण यह द्रव्य सूर्य के समान गरम हो रहा है। कान्त आदि दार्शनिकों और गणितज्ञों की कल्पना है कि ऐसे ही किसी छायापथ के एक खण्ड से सूर्य अपने ग्रह आदि के साथ निकला है। इन लोगों का कहना है कि किसी छाया-पथ का कोई एक खण्ड अपने अंशों के बड़े वेग से भ्रमण करने के कारण किसी समय टुकड़े-टुकड़े हो गया। इसकी परिधि यानी बाहरी खाल के टुकड़े तो ग्रह रूप से अलग-अलग पिण्डे बँध कर आज भी घूम रहे हैं। जिस प्रकार छाया-पथ से इस सूर्य की सृष्टि हुई, अर्थात् वह निकला, उसी प्रकार छाया-पथ के और-और खण्डों से और-और तारे भी निकले। इन तारों के भी अपने-अपने ग्रह आदि होंगे। छाया-पथ के उस रूप को ब्रह्माण्ड या सौराण्ड कहते हैं, जो सूर्य और ग्रह आदि के निकलने के पूर्व-काल में वर्तमान था। उसी तेजोमय सौराण्ड का बच्चा यह सूर्य ब्रह्मा हुआ, जिसे हिरण्यगर्भ अर्थात् सोने के अण्डे का गर्भ और मार्तण्ड अर्थात मरे अण्डे का बच्चा भी कहते हैं। सूर्य या तारा असल में ऐसी स्वप्रकाश

वस्तु को कहते हैं जिसकी गति किसी दूसरे सूर्य या तारा के अधीन न हो। ग्रहों को सूर्य से प्रकाश मिलता है और इनकी गति सूर्य के अधीन है, अर्थात् ये सूर्य के चारों ओर पश्चिम से पूरब को घूमते हैं। पर तारों का प्रकाश अपना ही है; किसी दूसरी वस्तु से उन्हें प्रकाश मँगनी नहीं लेना पड़ता। इन तारा नामक सूर्यों में से सबसे समीप वह वस्तु है जो दिन को भी देख पड़ती है और जो लोक में सूर्य के नाम से प्रसिद्ध है। पृथ्वी से सूर्य एक ही दूरी पर बराबर नहीं रहता। आगे दिखाया जायगा कि पृथ्वी भी एक ग्रह है। यह भी और ग्रहों के सदृश सूर्य के चारों ओर चलती रहती है। ग्रहों की गति प्रायः कूर्म-पृष्ठ में होती है। दीर्घ वृत्त के दो केन्द्र होते हैं। ग्रहों की कक्षा का, अर्थात् गति-वृत्त का, एक केन्द्र सूर्य है। जब ग्रह इस केन्द्र के समीप आ जाता है तब उसे सूर्य की दूरी कम पड़ती है। जब ग्रह दूसरे केन्द्र के समीप चला जाता है तब उसकी दूरी अधिक पड़ती है। इसलिए प्राय. अन्तर देने के समय ज्योतिषी लोग मध्यम अन्तर को लेते हैं। पृथ्वी से सूर्य का मध्य अन्तर प्रायः एक करोड़ सवा सोलह लाख योजन है। प्रकाश एक विकला अर्थात् एक सेकेण्ड में सवा तेईस हजार योजन चलता है। प्राय. पाँच कला अर्थात् पाँच मिनट में प्रकाश सूर्य से पृथ्वी पर आता है। सूर्य के बाद सबसे समीप जो तारा है, उसकी दूरी दो शंकु योजन (२,००,००,००,००,००,०००) से अधिक है—अर्थात् सूर्य की दूरी से कई लाख गुना अधिक है। पृथ्वी से अत्यन्त दूरस्थ तारों का अन्तर तो इतना अधिक है कि उसकी गिनती के लिए अंकों की संज्ञा ही नहीं बनी है। अति दूरस्थ तारों का अन्तर इसी से मालूम हो सकता है कि उनसे पृथ्वी तक आने में प्रकाश को पचास हजार बरस लग जाते हैं। अब देखिये, सूर्य से तो प्रकाश पाँच ही कला में पृथ्वी पर आता है और अति दूरस्थ तारों से पचास हजार बरस में—तो सूर्य की दूरी से उन तारों की दूरी कितनी अधिक हुई। तारों की अपेक्षा सूर्य पृथ्वी से बहुत ही समीप है। समीप क्यों न हो, पृथ्वी तो और ग्रहों के सदृश सूर्य ही का एक बाहरी अङ्ग है। इसीलिए सूर्य से प्रकाश और ताप दोनों पृथ्वी पर आते है। इसीलिए सूर्य बहुत बड़ा भी मालूम होता है। असल में इसका आयाम पृथ्वी से साढ़े बारह लाख गुना है। कितने ही तारे इसके बराबर और इससे भी बड़े हैं; तथापि अत्यन्त दूर होने के कारण हम लोगों को ये केवल प्रकाश-बिन्दु-से मालूम पड़ते हैं। दूरी के कारण उनसे पृथ्वी तक केवल प्रकाश ही पहुँचता है। वह भी सूर्य के प्रकाश से जब तक हम लोगों की आँखें चक-चकाई रहती हैं तब तक नहीं अनुभव में आता। तारों की दूरी से यहाँ ताप का अनुभव होना असम्भव ही है।

सुविधा-पूर्वक तारों के परिचय के लिए बहुत ही प्राचीन समय से, अर्थात् ऋग्वेद के समय से, या उससे भी पहले से, अनेक वर्गों में तारों का विभाग किया गया था। उत्तर ध्रुव के समीप सप्तर्षि नामक एक तारा-वर्ग है, जिसे प्रायः

बहुतेरे गँवार भी जानते हैं। इसमें सात बड़े-बड़े तारे हैं। आसपास कुछ छोटे-छोटे भी हैं, जो प्रायः आसानी से नहीं देख पड़ते। ऋग्वेद के संग्रह के पहले ही से लोगों ने इसका नाम ऋक्ष रखा था। वस्तुतः ऋक्ष भालू को कहते हैं। सप्तर्षि के पश्चिमी चार तारे भालू के चार पैरों के-से और पूरब के तीन तारे पूँछ के-से ऋग्वेद के कवियों के पूर्व-पुरुषों को देख पड़ते थे। इसीलिए तो अपने समय की जन-प्रसिद्धि के अनुसार ऋग्वेद के कवियों ने इस तारा-वर्ग को ऋक्ष ही कहना पसन्द किया। अजीगर्त के लड़के शुनःशेप ने कहा है—"अमी ये ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद्दिवेयुः। अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति"। जिस समय ऋग्वेद वालों के पूर्व-पुरुष भारत आदि में पहुँचने के बहुत पहले ध्रुव-प्रदेश में रहते थे और जब तक ध्रुव-प्रदेश में प्रालेय-प्रलय की बाधा नहीं पहुँची थी उस समय उन्हें ठीक ऊपर—सिर पर—ध्रुव और सप्तर्षि देख पड़ते थे। उन्हीं समयों की बातें ऋग्वेद के अत्यन्त पुराने अंशों में जहाँ तहाँ पाई जाती हैं। ऐसे ही प्राचीन अंशों में से यह शुनःशेप की उक्ति भी मालूम पड़ती है। आजकल संस्कृत में ऋक्ष भालू को और सामान्यतः सब नक्षत्रों को कहते हैं; परन्तु वैदिक समयों में ऋक्ष भालू को और केवल सप्तर्षि को कहते थे। सप्तर्षि के सात तारों के नाम भी पीछे ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं। मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि आदि इनके नाम दिये हुए हैं। शाखा-भेद से नामों में जहाँ-तहाँ भेद भी पड़ता है। आकाश में सूर्य जिस रास्ते से चलता हुआ देख पड़ता है उस मार्ग का नाम राशि-चक्र है। इसके बारह टुकड़े किये गये हैं। इन बारह टुकड़ों में बारह तारा-वर्ग हैं। सप्तर्षियों ही के सदृश इनके कल्पित आकारों के अनुसार असुर, यवन और भारतीय आदि ज्योतिषियों ने इनके नाम मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनुर्धर, मकर, कुम्भ, मीन रखे हैं। प्राचीन आर्यों ने वैदिक समय से, या उससे भी पहले से, प्रत्यक्ष सौरकक्षा या सत्ताईस नक्षत्रों में विभाग किया था, जैसा कि 'तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव' इत्यादि उक्तियों से स्पष्ट विदित होता है। अलिकचन्द्र के आने के बाद यवनों से इस कक्षा का बारह राशियों में विभाग भारतीयों को मिला, ऐसा सम्भव है। यवनों को यह विभाग असुरों से मिला था, ऐसा असुरों की शल्यलिपि की पट्टियों से अनुमान किया जा सकता है। छठी शताब्दी में गणित-विद्या सच जानने पर भी भारत के दुर्भाग्य से यवनों की फलित-विद्या भारत में लाने वाले वराहमिहिर ने सत्ताईस और बारह का लघुत्तम-लघुतमापवर्त्यं निकाल कर एक-एक नक्षत्र के चार-चार चरण बना कर नौ-नौ चरण की एक-एक राशि स्थिर की। सूर्य का हेलि नाम भी यवनाचार्यों से लिया। क्रियताबुरि, जितुम आदि राशियों के नाम भी उन्हीं से ले कर अपने नष्टजातक आदि ग्रन्थों से मनुष्य की बुद्धि नष्ट करने वाले बृहज्जातक को पवित्र किया। इनके बाद इन्हीं के अनुयायी नीलकण्ठ आदि फलित वालों ने फारसी से भी फलित के शब्द मँगनी से लेकर अपने ग्रन्थों की शोभा बढ़ाई। इस राशि-चक्र से आकाश के दो टुकड़े हो जाते हैं।

हैं। एक उत्तर खगोलार्ध और एक दक्षिण खगोलार्ध। उत्तर खगोलार्ध के बीच में सुमेरु अर्थात् उत्तर मेरु पड़ता है; और दक्षिण खगोलार्ध के बीच में कुमेरु अर्थात् दक्षिण मेरु पड़ता है। ऊपर कहा गया है कि वस्तुतः सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं चलता; पृथ्वी ही और ग्रहों के सदृश सूर्य के चारों ओर चलती है। जैसे लट्टू नाचता हुआ किसी वस्तु के चारों ओर घूमे वैसे ही सब ग्रह नाचते हुए सूर्य के चारों ओर चलते हैं। किसी वस्तु के चारों ओर नाचते नाचते चलने वाले लट्टू की दो गतियाँ होती हैं। एक तो अपनी अक्ष-यष्टि पर घूम जाना है और दूसरी किसी वस्तु के चारों ओर घूमना है। ऐसे ही पृथ्वी तथा और भी सब ग्रह अपनी अक्ष-यष्टि पर नाचते हुए सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। सूर्य के चारों ओर घूमती हुई पृथ्वी के सिर से केन्द्र को बेध कर नीचे जाती हुई रेखा को अक्ष-यष्टि या अक्ष कहते हैं। अक्ष के चारों ओर एक बार घूम जाने को परिवृत्ति कहते हैं। और, सूर्य के चारों ओर घूम जाने को परिभ्रमण कहते हैं। इसी अक्षयष्टि के ऊपर के अन्त को सुमेरु कहते हैं, जिसके प्रायः ठीक सामने आकाश में ध्रुव का तारा है। अक्ष-यष्टि के नीचे का अन्त कुमेरु है। यहाँ पर तारा वर्गों के दो चित्र दिये गये हैं। एक में सुमेरु गोलार्ध के तारा-वर्ग हैं और दूसरे में कुमेरु गोलार्ध के। सुविधा के लिए दोनों मेरुओं के चारों ओर तीन मण्डलों में तारावर्ग दिये गये हैं। चौथे मण्डल में राशि-चक्र रखा गया है।

क्रम से तारा-वर्गों की सूची

सुमेरु गोलार्द्ध					कुमेरु गोलार्द्ध	
१ ला	२ रा	३ रा	४ था	३ रा	२ रा	१ ला
मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल
तक्षक	वीणा	गरुड	मेष	महिष	वृत्त	शरठ
शिशुमार	जानुग	नरेन्द्र	वृष	वृक	अस्त्र	हृदाहि
शिफा	मुकुट	भुजङ्ग	मिथुन	वेदि	मयूर	घटिका
	श्वयुग	करिमुण्ड	कर्क	दूरेक्षण	चतुरस्र	सुवर्ण-यष्टि
	सप्तर्षि	सिंहनायक	सिंह	कोटीर	श्येनिका	कपोत
	वनोतु	सूत	कन्या	सिन्धु	सरित्	पोत
	चित्रक्रमेल	पर्शु	तुला	सूक्ष्मेक्षण	दाश	शलाका
	कश्यप	त्रिकोण	वृश्चिक	सारस	शुनक	अष्टास्र
	गोधा	दोला	धनुर्धर	शकुल	त्रिशंकु	
	हंस	वाजी	मकर	टङ्क	मुष्क	
	शिवा	अश्वतर	कुम्भ	तिमिङ्गिल	सुपर्ण	
		तिमि	मीन	व्याघ्र		
		बाण		भृङ्गी		
				स्वर्शिशु		
				दीप		
				चमस		
				काक		

सादी आँखों से देखने में सब तारे प्रायः एक वर्ण के जान पड़ते हैं। केवल कुछ बहुत बड़े मालूम पड़ते हैं और कुछ क्रम से छोटे मालूम पड़ते हैं। जो तारे छोटे मालूम पड़ते हैं, उन्हें वस्तुतः छोटा नहीं समझना चाहिए। सम्भव है कि अतिदूरता के कारण वे छोटे जान पड़ते हों। वर्ण भी सब तारों का एक सा नहीं है। प्रचण्ड शक्ति के दूरवीक्षण यन्त्रों से देखने पर नीले, पीले, हरे, सफेद आदि अनेक वर्ण के तारे देख पड़ते है। देखने में जैसा परिमाण तारों का मालूम पड़ता है उसके हिसाब से लोगों ने तारों की श्रेणियाँ बनाई हैं। सबसे बड़े तारों को प्रथम श्रेणी के तारे कहते हैं। इसी क्रम से द्वितीय, तृतीय आदि श्रेणी के तारे हैं। श्रीश नामक एक प्रथम वर्ग का तारा मृगशिरा नक्षत्र के पास देख पड़ता है। दूरवीक्षण यन्त्र से देखने से यह भी पता लगता है कि कोई-कोई तारा दो या दो से अधिक सदा साथ साथ चलते हैं। सहचारिणी तारों में एक प्रकाशमय और उसका साथी प्रायः काला सा होता है। सम्भव है कि काला साथी प्रकाशमय तारा सूर्य का ग्रह हो। पर तारों की अप्रमेय दूरी के कारण इस बात का ठीक ठीक पता लगाना बहुत कठिन है।

तारों में पृथ्वी से अत्यन्त समीप वह वस्तु है जिसे हम लोग सूर्य कहते हैं। ज्योतिर्विद्या में प्रसिद्ध सूर्य को सूर्य कहने में और तारा-सूर्यों को तारे कहने में सुविधा होगी। तारा-सूर्य और प्रसिद्ध सूर्य भी बड़े वेग से आकाश में जा रहे हैं। पर पृथ्वी की अपेक्षा इन्हें स्थिर ही समझना चाहिए; क्योंकि दूरी के कारण साधारणतः इनकी गति का ठिकाना नहीं लगता। जिस सूर्य के चारों ओर पृथ्वी चलती है और जिसमें हम लोगों को इतना ताप, वृष्टि आदि मिल रही है और जो पृथ्वीवासियों के लिए जीवन रूप है—यहाँ तक कि जिसकी शक्ति का ध्यान वैदिक ब्राह्मण लोग अपनी गायत्री में किया करते हैं—उस सूर्य के आकार आदि के विषय में आगे कुछ कहना है।

[गोलाध्याय]

सूर्य की गरमी घर्म-मापक के (जिसे लोग तापमापक भी कहते हैं) अनुसार जितनी गरमी पर अङ्गार पानी सा होकर खौलने लगता है उससे दो हज़ार शतांश ऊँची रहती है। इस लिए उसमें केवल तरल पदार्थ रह सकते हैं। द्रव या घन पदार्थों का रहना सम्भव नहीं। सूर्य के बीच के गोले को सूर्य-बिम्ब कहते हैं। इसके चारों ओर वर्ण-मण्डल है। बिम्ब साधारण बाष्प से विलक्षण द्रव्य है। तैजस-रेखा-दर्शक में इसकी कोई रेखा नहीं पड़ती। वर्ण-मण्डल की चमकीली रेखा तैजस-रेखा-दर्शक में देख पड़ती है। वर्ण-मण्डल बाष्प-मय है। बिम्ब प्रायः ठीक गोला है। वर्ण-मण्डल भी गोला है। पर जहाँ-तहाँ जब-तब इससे उच्छ्राय (उछाल) निकलते हैं। वर्ण-मण्डल के चारों ओर अत्यन्त विस्तृत परिवेश-मण्डल है जिसका बाहरी आकार अनियत है और जिसका प्रकाश बिम्ब से बाहर-बाहर धीरे-धीरे घटता जाता है। परिवेश

अत्यन्त सूक्ष्म वाष्पीय द्रव्यों का बना है जिसमें सम्भव है कि जहाँ-तहाँ द्रव और घन-बिन्दु भी हों। परिवेश के चारों ओर और भी बड़ा ज्योतिर्मण्डल है जिसकी बनावट का पता कुछ भी नहीं चलता। जब कभी चित्र आदि में बिम्ब की तसवीर ली जाती है तब यह दानेदार-सा दिखते हुए पाले के रवे के सदृश मालूम पड़ता है। बिम्ब में जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े दाग भी देख पड़ते हैं। यह दाग क्या वस्तु है, इस पर बहुत विचार हुआ है; पर कुछ ठीक पता नहीं लगता। सौराण्ड,के विभाग के समय से क्रम से प्रकाश निकलते-निकलते सूर्य के प्रकाश का जब अन्त हो जायगा उस क्षण तक के काल को महा-कल्प कहते हैं। कितने वर्ष का महा-कल्प होता है इसकी गणना ठीक नहीं हो सकती। पर इसमें सन्देह नहीं कि महाकल्प कई करोड़ वर्षों का होता है। तैजस-रेखा-दर्शक के द्वारा सूर्य में चालीस या पैंतालीस तत्त्व–लोहा, चाँदी, ताँबा, सीसा, वङ्ग, आदि–देखे गये हैं। [पृथ्वी से सूर्य का मध्य अन्तर ११६०३७५० योजन है। सूर्य का व्यास—१०८०६० योजन है। (पैरेलैक्स) (लम्बन) ८.८०६ है]।

सूर्य के चारों ओर चलने वाले आठ बड़े ग्रह हैं और हजारों छोटे-छोटे ग्रह हैं। सूर्य से अत्यन्त समीप बुध है। बुध के बाद क्रम से, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, उरण, और वरुण ग्रह हैं। छोटे ग्रहों के नाम रम्भा, शची आदि दिये गये हैं। इनमें से केवल गति नाम का एक ग्रह पृथ्वी और मङ्गल के बीच में है और शेष सब मङ्गल और बृहस्पति के बीच में हैं। बड़े ग्रहों की गति आदि की सूची यहाँ दी जाती है।

ग्रहसारणी

ग्रह	मध्यान्तर	परिवर्तन-काल	व्यास	कक्षागति का वेग
	योजनों में	दिनों में	योजनों में	योजनों में-प्रति विकला
बुध	४५,००,०००	८७.९६९२५६	३७२	३.७२
शुक्र	८४,०८,६२५	२२४.७००७९८	९५३.६२५	२.७२१२५
पृथ्वी	१,१६,२४,७५०	३६५.२५६३६०	९८९.६२५	२.३१५
मङ्गल	१,७७,१२,८७५	६८६.९७९७०२	५३९५	१.८७५
बृहस्पति	६,०४,८१,६२५	४३३२.५८७९	१०७८२.३७५	१.०१५
शनि	११,०८,८७,२५०	१०७५९.२०१०	९०९६.५	.७५
उरण	२२,३०,९१,५००	३०५८६.२९	४१०९.८७५	.५३
वरुण	३४,९५,६६,०००	६०१८७.६५	३७२८.३७५	.४२५

बुध—बड़े ग्रहों में बुध सबसे छोटा है और सूर्य से अत्यन्त समीप है। इसका चिह्न ☿ है। पौराणिक झगड़ा है कि बुध बृहस्पति का बेटा है या चन्द्रमा का।

एक इसी प्रकार का झगड़ा ज्योतिष में भी है। यह झगड़ा यह है कि बुध चन्द्रम
के सदृश एक परिभ्रमण में एक बार परिवर्त्तन करता है या और ग्रहों के सदृश इस
परिवर्त्तन-काल परिभ्रमण-काल से भिन्न है। सम्भव है कि पौराणिक झगड़ा इस
ज्योतिष के झगड़े की अतिशयोक्ति हो। क्योंकि अत्यन्त जङ्गलियों के पुराण प्राय
निर्मूल होते हैं; पर सभ्यों के पुराण प्रायः अतिशयोक्ति-मूलक होते हैं। अभी य
झगड़ा तय नहीं हुआ है और बुध के परिवर्त्तन के काल का ठिकाना नहीं है। प
इसके परिभ्रमण का काल प्रायः ८८ दिन है। बुध सूर्य से इतना समीप रहता है कि
प्रातः सूर्यास्त को थोड़ी ही देर के बाद दिङ्मण्डल के नीचे चला जाता है। इसलि
इसका दर्शन होना कठिन है। जब देख पड़ता है तब श्वेत उज्ज्वल प्रथम श्रेणी क
तारा के सदृश मालूम पड़ता है। कभी-कभी बुध की गति में ऐसे विक्षेप होते हैं जिनक
कारण नहीं जान पड़ता। इसलिए कितने ही लोगों की कल्पना है कि बुध औ
सूर्य के बीच में भी कुछ ग्रह हैं जिनके कारण ये विक्षेप होते हैं।

शुक्र—बुध के बाद शुक्र ग्रह है। चिह्न अन्यत्र देखिये। कभी-कभी शु
जब सूर्यबिम्ब को पार करता है तब इस अद्भुत दृश्य को देखने के लि
जगह-जगह बड़े-बड़े ज्योतिषी इकट्ठे होते हैं। कहा गया है कि ग्रहों में अपना प्रका
नहीं है। चन्द्रमा के सदृश ग्रह भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। इसलिए जितने अंश
में सूर्य का प्रकाश पड़ता है उतना ही अंश एक बार प्रकाशित रहता है; सब अंश
सदा प्रकाशित नहीं रहता। अर्थात् चन्द्रमा के सदृश ग्रहों की भी कला घटती-बढ़ती
है। कलाओं के घटने-बढ़ने का दृश्य सादी आँखों से देख नहीं पड़ता। दूरवीक्षण से
शुक्र की कला-वृद्धि और कला-ह्रास का दृश्य बहुत उत्तम देख पड़ता है। कदाचित्
कला-ह्रास ही के कारण इसे मझले पौराणिक लोग काना देवता समझते हैं।
भारत में पहले-पहल खूब स्पष्ट यह पश्चिम में दृश्य हुआ होगा। या इसका विशेष वर्णन
भारतीयों को असुर, यवन, आदि से मिला होगा। प्रायः इसीलिए इसे लोग असुरों का गुरु
कहते हैं। देवताओं के गुरु अर्थात् सब से बड़े बृहस्पति का वर्णन आगे किया जायगा।

पृथ्वी—पृथ्वी सूर्य का तृतीय ग्रह है। चिह्न अन्यत्र है। बहुत लोगों ने प्रयत्न
किया है कि इस बात का पता लगे कि सौर [illegible] से अलग हुए पृथ्वी को
कितने दिन हुए। इसका ठीक पता नहीं [illegible] है। पर इस बात को हुए कई
लाख बरस हुए, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कई धार्मिक लोग पृथ्वी की अवस्था चार
हजार वर्ष की समझते थे। वे यही समझते थे कि जैसे कुम्भकार मिट्टी के लोन्दे-
लोन्दे बनाया करता है वैसे ही किसी ने पृथ्वी आदि प्राकृत पदार्थ भी बनाये हैं।
ज्योतिर्विद्या, भूगर्भ-विद्या आदि से अब ऐसी-ऐसी गप्पों का आदर केवल थोड़े से
दिव्य बुद्धिवाले भगत लोग करते हैं। अक्ष के चारों ओर परिवर्त्तन होने के समय
जो भूगोलार्ध सूर्य के सामने रहता है वहाँ दिन रहता है और जो गोलार्ध सूर्य के
पराङ्मुख रहता है वहाँ रात होती है। सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण के समय जिन

अंशों पर सूर्य की किरण जितनी सीधी पड़ती है उतनी ही गरमी अधिक होती है। और जहां किरण जितनी ही टेढ़ी पड़ती है वहाँ उतनी ही सर्दी अधिक पड़ती है। गरमी के दिनों में समुद्र आदि का जल सूर्य की किरणों से सूख कर कुछ दूर ऊपर वायु-मण्डल में भरते भरते मेघ सा हो जाता है और बरसात में धारासार से संसार को कृतार्थ करता है। संक्षेप यह है कि परिवर्त्तन-गति दिन-रात का कारण है और परिभ्रमण-गति ऋतु, अयन, वर्ष, ग्रहण आदि का कारण है। जब तक पृथ्वी सूर्य के उत्तर की ओर नाचती रहती है तब तक दक्षिणायन और जब तक सूर्य के दक्षिण की ओर नाचती है तब तक उत्तरायण होता है। दोनों मेरुओं के ठीक बीच में पृथ्वी की मध्य-रेखा है। इसे विषुव रेखा या विषुवत् रेखा भी कहते हैं। इस रेखा पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। इसलिए इसके आस-पास के देशों में बड़ी गरमी पड़ती है। और, गरमी के मारे वहाँ के रहने वाले बड़े काले होते हैं। विषुव रेखा पर दिन और रात सदा बराबर होता है। दोनों ध्रुवों के पास छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है। बरस, सब जगह, दो अयनो का होता है। दिन चाहे उसमें तीन सौ पैंसठ हों या एक हो। ध्रुवीय वर्ष जो एक दिन-रात के बराबर होता है उसी को लोग दिव्य वर्ष कहते हैं। कितने लोग मनुष्य के वर्ष का तीन सौ पैंसठ गुना करके देवता का वर्ष समझते हैं। यह बड़ी भारी भूल है।

सौराण्ड से पृथक् होने पर प्रति दिन बाष्प निकलते-निकलते पृथ्वी के ऊपर किस प्रकार मेघ जमे, और मूसलधार चिरकालिक वर्षा से कैसे पृथ्वी एकार्णव हो गई, और फिर समुद्र के प्रवाहों से जहाँ-तहाँ गढ़े हो गये और जहाँ-तहाँ पंक जमते-जमते, पथरीली ऊँची भूमि हुई; जहाँ-तहाँ पृथ्वी के गर्भ से ज्वाला के उद्भेद हुए, जिससे काले पत्थरों के पहाड़ निकल आये और फिर काल पाकर सूक्ष्मवीक्षण से देखने योग्य कीड़ों से लेकर मछली, कछुआ, सुअर आदि क्रम से बन्दर, निरस्त्र, शिलास्त्र, आयसास्त्र, सभ्य से सभ्य जातियों तक किस प्रकार जीव का विकास हुआ इत्यादि विषय भूगर्भशास्त्र और विकास-विद्या में दिये जायेंगे।

मङ्गल—मङ्गल सूर्य का चौथा ग्रह है। इसका चिह्न ♂ है। सादी आँखों से शुक्र और बृहस्पति खूब सफेद मालूम पड़ते हैं और मङ्गल लाल देख पड़ता है। कभी-कभी यह श्रीश तारा से भी अधिक भास्वर देख पड़ता है। पृथ्वी पर से जैसी इसकी निरीक्षा हो सकती है वैसी और किसी ग्रह की नहीं। प्रायः छः सौ सत्तासी दिनों में यह सूर्य के चारो ओर घूम आता है। चौबीस होरा (घण्टा), सैंतीस कला और साढ़े बाईस विकला से कुछ अधिक समय में यह अपने अक्ष पर घूम जाता है। मङ्गल के वायु की घनता पृथ्वी के वायु के चतुर्थांश से भी कम है। जब-तब मेघ के सदृश कुछ वस्तु इसके तल पर देख पड़ती है। ये मेघ हैं या पहाड़ हैं, कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। अनुमान किया जाता है कि गरमी-सरदी जैसी यहाँ ऊँचे से ऊँचे पहाड़ों पर है प्रायः वैसी ही वहाँ भी है। बरन

सरदी पहाड़ों की चोटियों पर से कुछ अधिक ही है। इस ग्रह के कुछ अंश चमकीले और कुछ काले मालूम पड़ते हैं। चमकीले अंश भूमि के हो सकते हैं और काले अंश पानी के। मङ्गल के दोनों मेरु-प्रदेशों पर एक सफेद टोप सा मालूम पड़ता है। सूर्य की गरमी पड़ते पड़ते यह नष्ट भी हो जाता है। इससे सम्भव है कि यह मेरुओं के ऊपर का बरफ़ होगा जो सूर्य की गरमी से पिघल जाता है। कितने ही लोग समझते हैं कि काले चिह्न पानी के नहीं हैं। किन्तु घास-पात के हैं। मङ्गल में बहुत ऊँचे पहाड़ नहीं हैं; जैसे यहाँ हैं। यदि काले चिह्न समुद्र समझे जायँ तो उनके बीच-बीच में एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़ने वाली पानी की धारा भी हैं। ये अकृत्रिम नहरें बहुत लम्बी-लम्बी हैं और उनकी संख्या भी बहुत बड़ी है। प्रायः छः-सौ ऐसी नहरें अभी ज्ञात हैं। इनकी जालियों से समूचा ग्रह भरा हुआ है। एक ज्योतिर्विद् की कल्पना है कि नहरें कृत्रिम हैं और मेरु के पिघले हुए बरफ़ के पानी से खेती करने के लिए वहाँ के लोगों ने इन्हें बनाया है। मङ्गल के साथ दो चन्द्रमा हैं। एक मङ्गल के अत्यन्त समीप है और रात में दो बार मङ्गल के चारों ओर घूम आता है। इस चन्द्रमा के बाहर से घूमने वाला एक दूसरा चन्द्रमा है जिसको मङ्गल के चारों ओर घूमने में दो रात-दिन लगते हैं। इन चन्द्रों का व्यास प्रायः सवा योजन होगा।

बृहस्पति—बृहस्पति सूर्य का पञ्चम ग्रह है। चिह्न अन्यत्र है यह। बड़े से बड़ा और भारी से भारी ग्रह है। इसी से इसे बृहस्पति अर्थात् बृहत् ग्रहों का पति और गुरु अर्थात् ग्रहों में भारी कहते हैं। सब ग्रह एक में मिला दिये जायँ तो भी उनसे यह ढाई गुना बड़ा है। सूर्य से इसका मध्य अन्तर ६०३७५००० योजन है अर्थात् यह पृथ्वी से ४८७५०००० योजन पर है। ग्यारह बरस, तीन सौ चौदह दिन, इक्कीस होरा, छत्तीस कला में यह सूर्य के चारों ओर घूम आता है। इसका ध्रुवीय व्यास १०५७१.२५ योजन है और विषुवीय व्यास ११२७३.७५ योजन है। इसका आयाम पृथ्वी से तेरह सौ नब्बे गुना है और इसका परिमाण पृथ्वी से तीन सौ गुना है। प्रायः नौ होरा, छप्पन कला में यह अपने अक्ष पर घूम जाता है। बृहस्पति का वायु समुद्र-वायु से छः गुना अधिक घना है; पर इतनी दूर तक नहीं गया है जितनी दूर तक कि पृथ्वी का वायु। बृहस्पति में बहुत-सी पट्टियाँ देख पड़ती हैं और जहाँ तहाँ अण्डे से दाग भी नजर आते हैं। ग्रह का घनत्व प्रायः सूर्य से मिलता है। इसलिए पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य से इस ग्रह का अधिक सादृश्य है। घनत्व में यद्यपि यह ग्रह सूर्य से मिलता है तथापि यह स्वयंप्रकाश नहीं है। एक दाग इसमें बड़ा लाल है और पट्टियाँ भी कुछ लाल सी मालूम पड़ती हैं। इससे इनके ज्वाला-मुख उद्भेद होने का सम्भव है। अभी तक आठ चन्द्रमा बृहस्पति के ज्ञात हैं। इसके चार चन्द्रमा पहले-पहल गुल्लव को ज्ञात हुए। प्रायः चौदह बरस पहले तक चार से अधिक चन्द्रमा बृहस्पति के लोगों को नहीं विदित थे। सन् १८१४ में बरनारद

ने त्रिक्ष-वेधालय से पाँचवाँ चन्द्रमा देखा, जो बारह घण्टे से कम में ग्रह के चारों ओर घूम आता है। १८२६ शकाब्द में उसी वेधालय से दो और चन्द्रमा देखे गए। १८३० में मेलोष्ट ने जीर्णवीचि वेधालय से एक आठवाँ चन्द्रमा देखा, जो बृहस्पति से बहुत दूर है और बड़ी लम्बी कक्षा में चलता है। इन सब के ग्रहण और वेध, अर्थात् बृहस्पति-मण्डल को आग्पार करने का दृश्य, बड़े कौतुक का होता है।

शनि—शनि सूर्य का छठा ग्रह है। चिह्न अन्यत्र देखिए। शक १७०३ में उरण के ज्ञात होने के पहले सूर्य से सब से अधिक दूरी पर यही ग्रह ज्ञात था। तीस वर्ष में यह सूर्य के चारों ओर घूम आता है। इसकी गठन कुछ बृहस्पति की सी मालूम पड़ती है। घनता इसकी सब ग्रहों से कम है। पृथ्वी के दशांश से भी कम, अर्थात् पानी से भी कम, इसकी घनता है। प्रायः साढ़े दस होरा में यह अपने अक्ष पर घूम जाता है। इसका दृश्य तल मङ्गल के सदृश घन द्रव्य का नहीं है। तरल, अर्थात् मेघ सदृश वाष्पीय द्रव्य का, है। इसकी पगड़ी और इसके चन्द्रमा अपूर्व देख पड़ते हैं। केवल प्रचण्ड शक्ति के दूरवीक्षण से इसकी पगड़ी और इसके चन्द्रमा देख पड़ते हैं। शनि के दश चन्द्रमा अभी तक ज्ञात हैं। सब से समीप का चन्द्रमा तेईस होरा में शनि के चारों ओर घूम आता है और सब से दूर का ५४६ दिन १२ होरा में। एक चन्द्रमा बृहस्पति का और एक चन्द्रमा शनि का ग्रह से उलटी चाल में चलता है। अर्थात् ग्रह पश्चिम से पूरब को जाता है और ये पूरब से पश्चिम को। वरुण में जो एक ही चन्द्रमा है वह भी उलटा ही चलता है। पगड़ी के सबसे बाहर के तह का व्यास २०८६५ योजन है। पगड़ी की दो लपेट के भीतर एक काली सी और लपेट है जिसके भीतर दो चमकीली लपेटें हैं। सब लपेटें मिल कर ४६६६.२५ योजन होता है।

उरण—उरण सूर्य का सातवाँ ग्रह है। चिह्न अन्यत्र देखिए। बड़े हर्शेल को १७०३ में पहले-पहल इसका दर्शन हुआ। बड़ी प्रचण्ड शक्ति के दूरवीक्षण में इसका मलिन समुद्री रङ्ग का बिम्ब देख पड़ता है। इसकी स्थिति यदि मालूम हो, और आकाश में यह जहाँ हो ठीक वहीं देखा जाय, तो सादी आँखों को भी यह कुछ दृश्य होता है। इसके चार चन्द्रमा हैं। ढाई दिन, चार दिन, नौ दिन, और साढ़े तेरह दिन में क्रम से ये ग्रह के चारों ओर घूम आते हैं।

वरुण—वरुण सूर्य का आठवाँ ग्रह है। चिह्न अन्यत्र है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी से तीस गुनी दूरी इसकी सूर्य से है। अर्थात् सूर्य से इसका मध्यान्तर ३४,६४,००,००० योजन है। १६५ सवर में यह सूर्य के चारों ओर घूम आता है। इसकी कक्षा प्राय गोली है। ऐसी गोली कक्षा शुक्र को छोड़ और किसी ग्रह की नहीं है। प्रचण्ड दूरवीक्षण से इसका रङ्ग मन्द नीला-सा मालूम पड़ता है। उरण और वरुण की परिवृत्ति का समय नहीं जाना गया है। क्योंकि इनके बिम्ब पर कोई दाग नहीं नजर आते, जिनके हटने-बढ़ने से इसका निश्चय किया जाय।

इसका वायु-मण्डल उदजनक से पूर्ण, बड़ा गहरा, जान पड़ता है। एक ही चन्द्रमा इसका देखा गया है। १७६८ में बड़े परिश्रम के बाद लवार्य ने इस ग्रह की स्थिति, गति आदि का निश्चय किया था।

ऊपर कह आये हैं कि रति को छोड़ कर और सब छोटे ग्रह मङ्गल और बृहस्पति के बीच से सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। छः सात सौ से ऊपर ये छोटे ग्रह आज तक जाने गये हैं। इनमें से कितने ही तो इतने छोटे हैं कि तौल में केवल कई सेर होंगे। कितनों ही का मत है कि कोई एक ही बड़ा ग्रह किसी धक्के से चूर-चूर हो कर आज इन छोटे ग्रहों के रूप में घूम रहा है।

सूर्य, उसके आठ बड़े ग्रह, बड़े ग्रहों के चन्द्रमा, छोटे ग्रह, और कई केतु मिल कर सौर जगत् स्थित हैं। सब बड़े ग्रह पश्चिम से पूरब, यानी सूर्य की प्रकट गति से उलटी गति में, चलते हैं। इनकी कक्षा एक दूसरे से बहुत दबी नहीं हैं। सब छोटे ग्रह भी एक ही मुँह, अर्थात् पश्चिम से पूरब को जाते हैं। पर एक दूसरे की अपेक्षा कक्षाओं का दबाव और उनकी दीर्घता में बहुत भेद है। सब चन्द्रमा प्रायः पश्चिम ही से पूरब जाते हैं। केवल उरण के चन्द्रमा उरण की कक्षा के प्रायः ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, घूमते रहते हैं। वरुण का चन्द्रमा, शनि का एक चन्द्रमा, तथा बृहस्पति का एक चन्द्रमा उलटी चाल से चलते हैं। अर्थात् पूरब से पश्चिम जाते हैं। सब मिल कर छब्बीस उपग्रह अथवा चन्द्र अभी तक ज्ञात हुए हैं। उनमें पृथ्वी का जो एक चन्द्रमा है वही चन्द्र नाम से लोगों में प्रसिद्ध है। मास या महीनों का नाम चन्द्रमा से होता है। इसीलिए इसे मास भी कहते हैं। पृथ्वी से सूर्य की दूरी, पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी की अपेक्षा, प्रायः चार सौ गुनी अधिक है। पृथ्वी जब सूर्य के चारों ओर घूमती रहती है तब चन्द्रमा बराबर पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और उसे लिये दिये पृथ्वी चलती है। सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के जितने अंश पर पड़ता है उतना अंश प्रकाशित रहता है। एक एक अंश करके पन्द्रह दिन में समूचा चन्द्र बिम्ब प्रकाश से भर जाता है और फिर पन्द्रह दिन में क्रम से एक-एक अंश घटता है। चन्द्रोदय और चन्द्रास्त चन्द्रमा के भ्रमण के कारण प्रतिदिन प्रायः अड़तालीस कला देर से होता है। चन्द्रमा का प्रायः एक ही मुँह पृथ्वी के सामने रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका परिवर्तन और परिभ्रमण एक ही समय में होता है। चन्द्रमा में प्रायः सभी काले और चमकीले दो अंश देख पड़ते हैं। कभी कभी बाल चन्द्रमा का भी पूर्ण बिम्ब काला सा मालूम पड़ता है। सूर्य की प्रभा पृथ्वी पर आकर वहाँ से उलट कर चन्द्रमा पर पड़ती है। इसी से यह काला बिम्ब नज़र आता है। चन्द्रमा में खड़ा हो कर यदि कोई पृथ्वी को देखता तो उसे पृथ्वी दस चन्द्रमा के बराबर एक बिम्ब सी देख पड़ती। चन्द्रमा में जो काले काले दाग़ हैं उन्हें पहले लोग समुद्र समझते थे। पर दूरवीक्षण की तरक्की के साथ साथ यह निश्चय होने लगा कि चन्द्रमा का तल ऊबड़ खाबड़ और पहाड़ों से भरा हुआ है। चन्द्र-

गोलक के वर्णन पर कई पुस्तकें पाश्चात्यों ने लिखी हैं। अब चित्रग्राह की सहायता से बहुत अच्छी तरह बिम्ब के चित्र लिये गये हैं। चन्द्रबिम्ब में सब से अद्भुत यह बात है कि जहाँ-तहाँ मरे हुए अग्नि-पर्वतों के मुख अभी तक देख पड़ते हैं। चन्द्र-पर्वतो की ऊँचाई नापने में बड़ी कठिनाई है, क्योंकि कोई समुद्र तो वहाँ है नही जिसकी पीठ से ऊँचाई का ठिकाना लगे। पर समीप के किसी गड्ढे से ऊँचाई नापी जा सकती है। तीन हजार से चौबीस हजार फुट ऊँचे पहाड़ इस पर है। चन्द्र-बिम्ब पर जल या वायु के होने का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। इसलिए वृष्टि का होना-जाना इत्यादि चन्द्रबिम्ब पर नही हो सकता। सूर्य की किरणों के पड़ने से सर्दी-गर्मी का भेद मात्र वहाँ है। वायु-मण्डल न होने से सर्दी भी पड़ती है तो खूब और गर्मी भी पड़ती है तो खूब ही। जल-वायु न होने से वहाँ जीव का अस्तित्व सम्भव नहीं है। नव-नव बाल-चन्द्रमा के काले पेट में कुछ चमकीले दाग देख पड़ते हैं। कितने ही लोग इन्हें जीते अग्नि-पर्वतों के उद्भेद समझते हैं। पूर्ण-चन्द्रमा के प्रकाश से पाँच लाख गुना सूर्य का प्रकाश है—अर्थात् पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश की घनता की अपेक्षा सूर्य के प्रकाश की घनता पाँच लाख गुना अधिक है। चन्द्र की कक्षा भी कूर्म-पृष्ठ है। पृथ्वी उस कूर्म-पृष्ठ के दो केन्द्रों में से एक है। पूर्णिमा को बीच में पृथ्वी और दोनो ओर सूर्य-चन्द्रमा पड़ते हैं और पृथ्वी की छाया चन्द्रमा के जितने अंश को काला कर देती है उतने अंश का चन्द्र-ग्रहण होता है। अमावास्या को पृथ्वी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा रहता है और सूर्य का जितना अंश चन्द्रमा से ठीक व्यवहित होता है उतने अंश का सूर्य-ग्रहण होता है।

सौर जगत् में पूँछ वाले ग्रह, जिन्हें केतु कहते हैं, कभी-कभी देख पड़ते हैं। केतु बड़ी लम्बी कक्षा में चलते हैं। सौ बरस में बीस या तीस सादी आँखों से देख पड़ते हैं। पर हर साल सात-आठ दूरवीक्षण से देखे जाते हैं। केतु में एक तारा के सदृश पिठर होता है जिसके चारों ओर एक पतली प्रभा रहती है। इस प्रभा से निकली हुई एक पूँछ होती है जो सूर्य से उलटी दिशा में देख पड़ती है। कितने केतु नियत समय से बड़े लम्बे कूर्म-पृष्ठ में चलते हैं। पर बहुत से केतु समान्तरच्छेद आदि दीर्घ-वृत्तों में चलते हैं। इसलिए उनका लौट आना असम्भव है। केतु-गति के चाप की निरीक्षा से या चाप की परीक्षा से या उसके फिर लौट आने से जाना जा सकता है कि उसकी गति तिर्यक्छेद में है, या समान्तरच्छेद में, या उभयतश्छेद में। जो केतु तिर्यक्छेद में चलते हैं, अर्थात् लौट आते हैं, वे सौर जगत् के हैं। दस वर्ष से लेकर हजारो वर्ष में लौटने वाले तक सौर केतु हैं। जो समान्तरच्छेद या उभयतश्छेद में चलते हैं वे नही लौटते और प्रायः किसी दूसरे तारा-सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं। सूर्य से इतनी दूरी पर रह कर भी केतुओं को श्वेत दीप्ति कहाँ से मिलती है, यह एक बड़ा प्रश्न है। केतुओं के भीतर कुछ वैद्युत परिणाम हो रहा है जिस से उन्हें यह दीप्ति मिलती है, ऐसा मालूम पड़ता है। केतुओं का पिठर दूरवीक्षण

में अपारदर्शी पुञ्ज-सा मालूम पड़ता है। पूँछ पारदर्शी है, इसलिए उसके पार के भी तारे आदि देख पड़ते हैं। उल्कापात से और केतुओं से प्रायः बहुत सम्बन्ध है। प्रायः जिस रास्ते से कोई केतु गया होता है उस रास्ते में वह बहुत-सा उल्का-जनक द्रव्य छोड़ता जाता है। इसलिए इन्हीं स्थानों पर प्रायः उल्कापात हुआ करता है। केतु का पुच्छ सूर्य-किरणों से क्यों सदा भागता है, इस प्रश्न का उत्तर अभी ठीक-ठीक नहीं जाना गया है। सम्भव है कि सूर्य की किरण स्वयं पूँछ को हटाती हो या किसी वैद्युत प्रेरणा से वह हटता हो। सम्भव है कि दोनों कारण साथ ही साथ काम करते हों। सादी आँखों से केतु का पुच्छ जैसा मालूम पड़ता है उससे कुछ विलक्षण ही दृश्य चित्रग्राह में चित्र लेने पर देख पड़ता है। चित्र में इसका पिठर एक गोला-सा मालूम पड़ता है और पुच्छ गिरहदार मकई के डण्डे-सा। केतु में दो प्रकार की प्रभा पाई जाती है। एक तो पूँछ के बाष्पों की श्वेत प्रभा और दूसरी पिठर पर प्रतिबिम्बित सूर्य की प्रभा। सूर्य समूचे सौर जगत् को लिए हुए एक विकला में सवा योजन के हिसाब से आकाश में चला जा रहा है। यदि कोई जाना हुआ केतु उसकी अपेक्षा स्थिर रहता तो सूर्य के समीप आने से केतु में उभयतश्छेद की गति देख पड़ती। पर केतु की गति में समान्तरच्छेद से इतना भेद नहीं पड़ता है जिससे जाने हुए केतुओं को सौर जगत् का न समझें। इस कारण प्रायः बहुतेरे केतु सौर ही जगत् के हैं; कदाचित् ही कोई आगन्तुक हों। लौट आने वाले केतु आज तक इतने विदित हैं:—

१	हली	७५.६ वर्ष में।
२	बल	६.६७ वर्ष में।
३	अंक	३.२६ वर्ष में।
४	टूतल	१३.७८ वर्ष में।
५	पण	७२.२८ वर्ष में।
६	उर्बर	७३.३२ वर्ष में।
७	यर्णक	५.६७ वर्ष में।
८	स्पय	७.५० वर्ष में।
९	भिक्षु	५.६६ वर्ष में।
१०	बरोटन	५.५२ वर्ष में।
११	धरिष्ट	६.५६ वर्ष में।
१२	ताम्रफल	५.८४ वर्ष में।
१३	सुविस्फुट	५.५१ वर्ष में।
१४	लिमिपास	५.२८ वर्ष में।
१५	वृक	९.८० वर्ष में।
१६	फनिगय	६.६४ वर्ष में।
१७	बरोस	७.२० वर्ष में।
१८	हुर्म	६.८६ वर्ष में।

बहुत-से उल्का-पाषाण आकाश में जहाँ-तहाँ पड़े हैं। साफ चाँदनी रात में घण्टे में आठ-दस उल्कायें गिरती हैं। प्रातः काल घण्टे में बीस तक उल्का-पात होते हैं। गणित से ठीक किया गया है कि प्रायः बीस लाख उल्का-पाषाण रोज वायु-मण्डल में आते हैं। यदि सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की प्रभा और मेघ न हों तो ये सब सादी आँखों से देख पड़ेंगे। पर बहुत-से उल्का-पाषाण दूरवीक्षण मात्र से दृश्य हैं। इन्हें यदि मिला लिया जाय तो कहा जाता है कि प्रति दिन चार करोड़ उल्का-पाषाण वायु-मण्डल में आते हैं। ग्रहादिक के सदृश ये भी सूर्य के चारों ओर तिर्यक्छेद में घूमते हैं। एक शताब्दी में प्रायः तीन बार भारी उल्का-वृष्टि पृथ्वी पर होती है। अनुमान किया जाता है कि तीस वर्ष चार महीने में सूर्य के चारों ओर घूम आने वाला कोई बड़ा भारी उल्का-प्रवाह चल रहा है और कहीं पर उसकी कक्षा पृथ्वी की कक्षा को काटती है। जब पृथ्वी इस छेदबिन्दु पर पहुँचती है तभी प्रायः भारी उल्का-वृष्टि होती है। एक विकला में ३.२५ योजन चलती हुई उल्का विकला में २.२८१२५ योजन चलने वाली पृथ्वी से, सामने आकर, भिड़ती है। इसी लिए विकला में उसकी गति ५.५ योजन की मालूम होती है। कार्तिक मास के आस-पास एक देखने लायक उल्का-वृष्टि होती है। सावन-भादों के आस-पास भी एक अच्छी उल्का-वृष्टि होती है। चमकीली उल्काओं में से प्रायः जलते हुए मङ्गेश* की-सी श्वेत-नील प्रभा आती है। उल्का-पाषाण जलते हुए और शब्द करते हुए कभी-कभी पृथ्वी पर गिरते हैं। यदि समूचा पाषाण वायु-घर्षण से जलकर खाक न हो गया तो पृथ्वी पर वह मिलता है। प्रायः वेग से आने के कारण उल्का-पाषाण कई फुट जमीन के भीतर घुस जाते हैं। जब गवाँर लोग कभी उल्का-पाषाण पाते हैं तब उसे देवता, देवी या देवताओं की माँ-बहिन कहकर पूजते हैं। उल्का-पाषाण प्रायः कोण के आकार के होते हैं। यूनान में पहले बहुतेरे स्थानों में इनकी पूजा होती थी। कितने आंग्ल वैज्ञानिकों का मत है कि मक्का का काला पत्थर भी एक उल्का-पाषाण ही है। आजकल अद्भुतालयों में ऐसे सैकड़ों-हजारों पत्थर स्थापित हैं। हरित-भूमि के पश्चिम में सुमेरुदर्शी प्रियारि महाशय के लाये हुए उल्का-पाषाणों में से सब से बड़ा साढ़े छत्तीस टन का है। मक्षिका-राज्य में बकवृत्त में एक बड़ा उल्का-पाषाण पाया गया था जो तेरह फुट लम्बा, छः फुट चौड़ा और पाँच फुट मोटा है। यह पचास टन से कम नहीं होगा। उल्का-पाषाण लहराते हुए बड़े वेग से ऊपर की सूक्ष्म वायु में चलते हैं; पर पृथ्वी के समीप की घन वायु में आते-आते उनकी गति कम होती जाती है। इसलिए गर्मी भी बहुत कम रह जाती है। कभी-कभी बहुतेरे पत्थर साथ ही साथ एक दो योजन की लम्बाई में गिरते हैं। पृथ्वी के छिलके में जितने तत्त्व पाये जाते हैं उनमें से एक तृतीयांश उल्का-पाषाणों में भी पाये जाते हैं। कोई नया तत्त्व इनमें अभी तक नहीं पाया गया है। अभी तक किसी उल्का-पाषाण में कोई शारीरिक द्रव्य नहीं पाया गया है। पृथ्वी के बाहर जीवों के होने का कोई प्रमाण अभी उल्का-पाषाणों से नहीं मिला है।

भूगोल-विद्या

और विद्याओं से भूगोल-विद्या में यह विलक्षणता है कि इसकी बातों के निःसन्देह असली अनुभव के लिए घर छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। घर बैठे-बैठे मनुष्य आकाश की सैर कर सकता है और ज्योतिविद्या की बातों का पता लगा सकता है। रुपये हों तो रेल, तार आदि सब कुछ घर में हो सकता है। भूमि खोद कर भूगर्भ का भी बहुत कुछ पता घर ही से लग सकता है। बाहर घूमने से ज्योतिष आदि विद्याओं में सहायता अवश्य मिलती है, पर इन विद्याओं के लिए बाहर जाना अत्यन्त आवश्यक नहीं है। परन्तु भूगोल-विद्या की बातों का यदि स्वतन्त्र और उत्तम अनुभव मनुष्य चाहे तो घर छोड़ कर बाहर घूमे बिना यह नहीं हो सकता। इसलिए शालीन जातियों को, अर्थात् प्रायः परदे में रहने वाली जातियों को, और विद्याओं का कुछ पता लगने पर भी भूगोल-विद्या से अलग ही रहना पड़ा है।

प्राचीन आर्य मेरु के आस-पास के स्थानों से बर्फ के प्रलय के कारण, तथा, सम्भव है, अपने उत्साह के कारण भी भारत आदि में आये थे। इसी से उन्हें भूगोल-विषयक बहुत-सी बातों का यथार्थ पता था। मेरु के चारों ओर सूर्य्य का घूमना तो सभी प्राचीन आर्य-ग्रन्थों में पाया जाता है। मेरु के आस-पास बस्ती थी। वहाँ प्राचीन सभ्यता के अधिवास भूमि में गड़े हुए थे। इस बात का पता महाभारत के लिखने वाले भगवान् कृष्ण द्वैपायन को भी था। मेरु के आस-पास उत्तर-कुरु में जाकर मरुत्तराज के समय के गड़े हुए सोने के बहुमूल्य पात्रों को लाकर युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के आरम्भ का वर्णन महाभारत में दिया हुआ है। मेरु के प्रदेशों में झबरा हाथी का होना यूरोप के लोगों को अभी विदित हुआ है। पर किरातार्जुनीय जैसे क्षुद्र काव्य के प्रणेता भारवि तक को ऐसे हाथियों की स्थिति विदित थी—जैसा कि उन्होंने "कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ" इस वाक्य में दरसाया है। तिमि, राघव आदि मछलियों के सदृश विशाल जन्तु प्रायः सुमेरु के समुद्रों ही में होते हैं। इनकी बातें भी भारतीयों को विदित थीं। कालिदास ने तिमियों का, मुँह खोल कर छोटे जन्तुओं से भरे हुए समुद्र के पानी को लेकर, माथे के छिद्रों में से पानी के फव्वारे निकाल कर, जन्तुओं को खाने का वर्णन रघुवंश में कैसा अच्छा किया है। देखिए :—

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥

पृथ्वी पर क्षीर-समुद्र से प्राचीन आर्य बर्फ से ढके हुए समुद्र को समझते थे। श्वेत-द्वीप, अर्थात् यूरोप, की सफेद जातियों के वासस्थान का भी इन्हें पता था।

भास्कराचार्य को पृथ्वी का आकार भी ठिकाने से मालूम था। कदम्ब के गोले के सदृश पृथ्वी में कदम्ब के केसर के सदृश चिपके हुए मनुष्य आदि का वर्णन भास्करीय गोलाध्याय में है। बड़े-बड़े कष्ट सह कर प्राचीन भारतीय इधर-उधर घूमते थे। आज आंग्लभूमि तक या अमेरिका तक पहुँचने में जो क्लेश नहीं है वह क्लेश पाणिनि को पुरुषपुर अर्थात् पेशावर के आस-पास की तक्षशिला और शालातुर की भूमियों से आकर पाटलिपुत्र में पढ़ने के समय हुआ होगा। यदि आर्यों के उत्तर से आकर भारत में रहने का, या यहाँ से अर्जुन आदि का फिर उत्तर-कुरु तक जाने का, खयाल करे तो हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। पर प्रकृति-माता की विषम अन्ध-लीला विलक्षण है। जरा सँभाल कर मनुष्य न रहे तो कैसी-कैसी आपत्तियाँ आ पड़ती हैं। अर्जुन के सदृश वीर और पाणिनि के सदृश विद्वान् तो कार्य के लिए कहाँ से कहाँ पहुँचते थे और कितने-कितने क्लेश सहते थे; और, आज, भट्ठी में घुड़की लगाने वाले तथा गंदी तरह उबाला हुआ उसना (भुजिया) चावल खाने वालों में भी शुद्धि का ऐसा अभिमान आ गया है कि विलायत जाने के नाम से उभड़ पड़ते हैं। अजी विलायत की कौन कहे, आजकल के विद्वानों की गलती तो अङ्ग या भागलपुर, वङ्ग या बङ्गाल और कलिङ्ग या बालासोर के आस-पास की भूमि में जाने पर विना दस रोज गोबर खिलाये और विना दस रुपये आपसे लिए जात-भाई के साथ न भट्ठी में घुड़की लगाने देते न घर पर उसना चावल खाने की इजाजत देते। इन लोगों का तो यह मत है कि मगह में भी न जाना चाहिए क्योंकि कदाचित् वहाँ मरे तो मरने पर धोबी की लादी ढोनी पड़ेगी।

कई सौ बरसों से भारत में वैसी ही विलक्षण भूगोल-विद्या चली है जैसी कि अज्ञानावस्था में देशान्तरों में रहती आई है। सुमेरु को एक सोने का पहाड़ समझ लेना, सूर्य-बिम्ब को रथ का एक पहिया मान लेना, सूर्य के सामने अँगूठे भर शरीर वाले साठ हजार बालखिल्य आदि की कल्पना कर लेना अपूर्व कविता ही तो है। इसे जाने दीजिए। पृथ्वी का कुछ विलक्षण ही आकार और आधार लोगों ने समझ लिया था। वराह के ऊपर या नीचे कच्छप, उसके ऊपर या कभी-कभी नीचे आठ हाथी और आठ हथिनी, उनके ऊपर हजार माथे के शेष, फिर शेष के एक माथे पर सरसों के बराबर पृथ्वी, फिर पृथ्वी के समतल पर—जिसमें शेष के माथे पर वह डगमगाय नहीं—कई पहाड़, फिर पृथ्वी के चारों ओर चारदिवारी के सदृश लोका-लोक पहाड़, फिर एक उदयाचल जिस पर सूर्य उगते हैं और एक अस्ताचल जिस पर सूर्य अस्त होते हैं, फिर सूर्य का डूब कर पृथ्वी के नीचे-नीचे समुद्र होकर ऊपर निकलना इत्यादि अनेक कल्पनायें पौराणिक कवि घर में बैठे ही बैठे करते गये। एक-आध बात की, सम्भव है, कुछ जड़-बुनियाद भी हो, जैसे सहस्रधार वायुमण्डल

को लोगों ने शेष समझ लिया हो, या दक्षिण ध्रुव के किसी सर्पाकार तारा-मण्डल को शेष समझ लिया हो, या सूर्य के प्रकाश के कारण ही मेरुभूमि को सुवर्णमयी समझ लिया हो। पर ऐसी बातों के पता लगाने से कुछ विशेष फल नहीं है। कल्पना बढ़ाते-बढ़ाते घर में बैठे-बैठे यहाँ वालों ने पृथ्वी को और पृथ्वी के अङ्गों को विलक्षण अवस्था को पहुँचा दिया। पृथ्वी के भीतर के खोखले में लोगों ने नाग और नाग-कन्याओं की स्थिति मान ली। दूर दक्षिण की ओर महाराज धर्मराज की नरक-भूमि समझ ली। भारत के बाद देव, गन्धर्व, विद्याधर आदि की भूमि की कल्पना भी कर ली। बेचारे बाणभट्ट तो भूतपत्तन अथवा भूटान और श्रीकूर्मि या सिक्किम के आस-पास सुनहरी जटा वाले किरातों की भूमि के समीप ही मनुष्य-भूमि की सीमा समझते थे। लामाओं का अपूर्व दर्शन भारत में होने पर भी, मानसरोवर के आस-पास त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत की भूमि को यक्षभूमि कौन नहीं समझता है? यहाँ के लोगों को अश्वमुख किन्नर आदि शब्दों से लोग बहुत दिनों से पुकारते आये। अज्ञान का कैसा माहात्म्य है कि भोज के पिता सिन्धुराज के समय में परिमल महाकवि ने भोज की मैया शशिप्रभा देवी को नागपुर की नागकन्या बना डाला है। बड़े-बड़े नरसर्पों से सुरक्षित शशिप्रभा का वर्णन परिमल ने अनेक बार किया है। अब कहिए, जिनकी दृष्टि में नर्मदा के पार उतरते ही नागपुर अर्थात् नागलोक था और अलमोड़ा के ऊपर ही विद्याधरों की भूमि थी उनसे भूगोल-विद्या की क्या आशा की जाय? ऐसे समयों में केवल भास्कर के सदृश दो-एक ज्योतिषियों को सूर्यसिद्धान्त आदि प्राचीन ग्रंथों से एक-आध बाहरी नगरों का नाम मालूम था। वे पृथ्वी के बीचोबीच लंका, उसके बहुत दूर पूर्व यमकोटि, और बहुत दूर पच्छिम रोमक नगर, तथा ठीक नीचे सिद्धपुर जानते थे। इनमें से लंका और यमकोटि का तो आज कुछ पता ही नहीं। कितने ही तो सिंहल को लंका समझते हैं। वर्तमान यवद्वीप को यमकोटि समझ लें तो कुछ क्षति नहीं है। रोमनगर तो प्रसिद्ध ही है। आज भी इतिहास में उसकी कीर्ति-पताका फहरा रही है। सिद्धपुर अमेरिका के मेक्सिको-राज्य को समझ सकते हैं। जब से रघुवर आदि दक्खिनी धर्मशास्त्रियों ने समुद्र-यात्रा पर अपना तुम्बा फोड़ा और आलस्य भगवान् की कृपा बढ़ती गई तब से नगरों आदि के नामों का भी पता लगना दुस्तर हो गया। आजकल के व्यवस्थापकों को तो प्रायश्चित्त आदि के लिए देशव्यवस्था निकालने में बड़ी ही दिक्कत होती है। चीनी-शीट, मर्तबान, हुक्का या गुड़क, ब्रह्मा या देव आदि पवित्र देवता या नैवेद्य के नाम से किसी देश का व्यवहार किया गया तो वह विलायत से कितनी ही दूर क्यों न हो, शास्त्री लोग वहाँ आने-जाने वालों को कुछ नहीं कहते। विलायत का भी नाम मातृभूमि के सदृश रहता तो भी प्रायः कुछ न बोलते। पर फ्रांस, विलायत, इङ्गलैंड, जर्मनी आदि अंगरेजी, फारसी के नाम से वे लोग इस तरह घबरा उठते हैं कि उन देशों की स्थिति आदि का विशेष पता लगाये बिना ही राम-राम छी-छी: कहने लगते हैं।

और, व प्रायश्चित्त की कौन कहे, प्रायश्चित्त करने पर भी, वहाँ जाने-आने वालों से विना मुकद्दमा पड़े बातचीत नहीं करना चाहते।

खैर, जो कुछ हो, आज तो रात-दिन पृथ्वी पर यहाँ से वहाँ घूमने वाले और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पता लगाने वाले अद्वितीय उत्साही पाश्चात्य वीरों की कृपा से भूगोल-विद्या का परोक्ष ज्ञान हमें बहुत कुछ हो रहा है। चार आने की भूगोल की प्रथम पुस्तिका से* जितना छोटी पाठशालाओं के छात्रों को पता लगता है उतना इस समय लाख श्लोक की संहिता से भी बड़े-बड़े विद्वानों को पता लगाना दुस्तर है। विद्या तो भारतीयों का धर्म ही है। हजार कोई कुछ कहे अन्ततः अविद्या से नाक सिकोड़ना और विद्या में मग्न रहना भारतीयों को प्यारा लगेगा ही। हम दिग्गजों के साथ पाताल के अन्धकार में कब तक रहेंगे। पृथ्वी, आकाश आदि की असली स्थिति का पता-ठिकाना, जहाँ से हो वहाँ से लगा कर, शाब्दिक परोक्षानुभव को, पैरों से घूम-घूम कर और आँखों से देख-देख कर, प्रत्यक्षानुभव में लाने का यत्न अवश्य ही करेंगे। यहाँ शब्दों से इसी परोक्षानुभव का कुछ उपाय किया जा रहा है जिससे तेजस्वी लोग अपरोक्षानुभूति के व्यापार में सहायता पावें।

भास्कर आदि जैसा समझते थे प्रायः वैसी ही गोल पृथ्वी है। सूर्य के चारों ओर वेग से घूमने के कारण सुमेरु और कुमेरु अर्थात् दोनों ध्रुवों पर पृथ्वी चिपटी है, अर्थात्, भूगोल का पूर्व से पश्चिम का व्यास उत्तर से दक्षिण के व्यास से कुछ बड़ा है। प्रायः त्रिकोण के आकार का यह भारतवर्ष है। भारत के दक्षिण भारतीय महार्णव है। दक्खिन में यह बहुत दूर तक चला गया है। अभी तक उत्तर से दक्खिन तक इस समु के आरपार कोई जा नहीं सका है। भारत के उत्तर हिमाचल है। यह पृथ्वी पर सबसे ऊँचा पहाड़ है। पहाड़ क्या, यह पहाड़ों की शृङ्खला है। हिमाचल के उत्तर चीन साम्राज्य है। चीन के उत्तर अत्यन्त विस्तृत मरु-प्राय ठंडी श्वैवेरभूमि है। यहाँ रूस्यों का साम्राज्य है। इसके उत्तर प्रायः बर्फ से ढका हुआ उत्तरीय समुद्र है। भारत के पूरब ब्रह्म देश है* जिसकी मध्य-भूमि को श्यामदेश और दक्षिणी जिह्वा को मलयदेश कहते हैं। ब्रह्म देश के दक्षिण, समुद्र में, वरुणद्वीप, सुमित्रद्वीप, यवद्वीप, शलमद्वीप, नवगुणद्वीप आदि टापू हैं। इन टापुओं के दक्खिन एक बहुत बड़ा टापू है जिसे औष्ट्रालय कहते हैं। औष्ट्रालय से दक्खिन और पूरब के कोने पर नवजीव-भूमि है। औष्ट्रालय के पूरब छोटे-छोटे बहुत-से टापू हैं, जो सब मिलकर पूर्णास्य-द्वीप-समूह के नाम से प्रसिद्ध है। मलयजिह्वा के पूरब फलप नाम से प्रसिद्ध द्वीपकदम्ब है। चीन के पूरब, समुद्र में, कई बड़े-बड़े द्वीप हैं जो कर्पूरद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म-देश के पूरब कर्पूरद्वीप आदि का आश्रय शान्त महार्णव है जो

---

*यहाँ इरावती नदी है। उसके आस-पास श्वेत हाथी मिलते हैं जिन्हें ऐरावन या (पूर्वदिक्पाल) इन्द्र का हाथी कहते हैं।

को लोगों ने शेष समझ लिया हो, या दक्षिण ध्रुव के किसी सर्पाकार तारा-मण्डल को शेष समझ लिया हो, या सूर्य के प्रकाश के कारण ही मेरुभूमि को सुवर्णमयी समझ लिया हो। पर ऐसी बातों के पता लगाने से कुछ विशेष फल नहीं है। कल्पना बढ़ाते-बढ़ाते घर में बैठे-बैठे यहाँ वालों ने पृथ्वी को और पृथ्वी के अङ्गों को विलक्षण अवस्था को पहुँचा दिया। पृथ्वी के भीतर के खोलने में लोगों ने नाग और नाग-कन्याओं की स्थिति मान ली। दूर दक्षिण की ओर महाराज धर्मराज की नरक-भूमि समझ ली। भारत के बाद देव, गन्धर्व, विद्याधर आदि की भूमि की कल्पना भी कर ली। बेचारे बाणभट्ट तो भूतपत्तन अथवा भूटान और श्रीकूमि या सिक्किम के आस-पास सुनहरी जटा वाले किरातों की भूमि के समीप ही मनुष्य-भूमि की सीमा समझते थे। लामाओं का अपूर्व दर्शन भारत में होने पर भी, मानसरोवर के आस-पास त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत की भूमि को यक्षभूमि कौन नहीं समझता है? वहाँ के लोगों को अश्वमुख किन्नर आदि शब्दों से लोग बहुत दिनों से पुकारते आये। अज्ञान का कैसा माहात्म्य है कि भोज के पिता सिन्धुराज के समय में परिमल महाकवि ने भोज की मैया शशिप्रभा देवी को नागपुर की नागकन्या बना डाला है। बड़े-बड़े नरसर्पों से सुरक्षित शशिप्रभा का वर्णन परिमल ने अनेक बार किया है। अब कहिए, जिनकी दृष्टि में नर्मदा के पार उतरते ही नागपुर अर्थात् नागलोक था और अलमोड़ा के ऊपर ही विद्याधरों की भूमि थी उनसे भूगोल-विद्या की क्या आशा की जाय? ऐसे समयों में केवल भास्कर के सदृश दो-एक ज्योतिषियों को सूर्यसिद्धान्त आदि प्राचीन ग्रंथों से एक-आध बाहरी नगरों का नाम मालूम था। वे पृथ्वी के बीचोबीच लंका, उसके बहुत दूर पूरब यमकोटि, और बहुत दूर पच्छिम रोमक नगर, तथा ठीक नीचे सिद्धपुर जानते थे। इनमें से लंका और यमकोटि का तो आज कुछ पता ही नहीं। कितने ही तो सिंहल को लंका समझते हैं। वर्तमान यवद्वीप को यमकोटि समझ लें तो कुछ क्षति नहीं है। रोमनगर तो प्रसिद्ध ही है। आज भी इतिहास में उसकी कीर्ति-पताका फहरा रही है। सिद्धपुर अमेरिका के मक्सिको-राज्य को समझ सकते हैं। जब से पराशर आदि दकियानूसी धर्मशास्त्रियों ने समुद्र-यात्रा पर अपना तुम्बा फोड़ा और आलस्य भगवान् की कृपा बढ़ती गई तब से नगरों आदि के नामों का भी पता लगना दुस्तर हो गया। आजकल के व्यवस्थापकों को तो प्रायश्चित्त आदि के लिए देशव्यवस्था निकालने में बड़ी ही दिक्कत होती है। चीनी-प्लेट, मशीन, दवा या मुल्क, प्रजा या देश आदि पतित देवता या नैवेद्य के नाम से किसी देश का व्यवहार किया गया तो वह विलायत से कितनी ही दूर क्यों न हो, शास्त्री लोग वहाँ जाने-आने वालों को कुछ नहीं कहते। विलायत का भी नाम मालूम भूमि के सदृश रहता तो भी प्रायः कुछ न बोलते। पर फ्रान्स, विलायत, इङ्गलैंड, जर्मनी आदि अंगरेजी, फारसी के नाम से वे लोग इस तरह घबरा उठते हैं कि उन देशों की स्थिति आदि का विचार पता लगाये बिना ही राम-राम छी-छी कहने लगते हैं।

और, व प्रायश्चित्त की कौन कहे, प्रायश्चित्त करने पर भी, वहाँ जाने-आने वालों से बिना मुकद्मा पड़े बातचीत नहीं करना चाहते।

खैर, जो कुछ हो, आज तो रात-दिन पृथ्वी पर यहाँ से वहाँ घूमने वाले और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पता लगाने वाले अद्वितीय उत्साही पाश्चात्य वीरों की कृपा से भूगोल-विद्या का परोक्ष ज्ञान हमें बहुत कुछ हो रहा है। चार आने की भूगोल की प्रथम पुस्तिका से* जितना छोटी पाठशालाओं के छात्रों को पता लगता है उतना इस समय लाख श्लोक की संहिता से भी बड़े-बड़े विद्वानों को पता लगाना दुस्तर है। विद्या तो भारतीयों का धर्म ही है। हजार कोई कुछ कहे अन्ततः अविद्या से नाक सिकोड़ना और विद्या में मग्न रहना भारतीयों को प्यारा लगेगा ही। हम दिग्गजों के साथ पाताल के अन्धकार में कब तक रहेंगे। पृथ्वी, आकाश आदि की असली स्थिति का पता-ठिकाना, जहाँ से हो वहाँ से लगा कर, शाब्दिक परोक्षानुभव को, पैरों से घूम-घूम कर और आँखों से देख-देख कर, प्रत्यक्षानुभव में लाने का यत्न अवश्य ही करेंगे। यहाँ शब्दों में इसी परोक्षानुभव का कुछ उपाय किया जा रहा है जिससे तेजस्वी लोग अपरोक्षानुभूति के व्यापार में सहायता पावें।

भास्कर आदि जैसा समझते थे प्रायः वैसी ही गोल पृथ्वी है। सूर्य के चारों ओर वेग से घूमने के कारण सुमेरु और कुमेरु अर्थात् दोनों ध्रुवों पर पृथ्वी चिपटी है, अर्थात्, भूगोल का पूर्व से पश्चिम का व्यास उत्तर से दक्षिण के व्यास से कुछ बड़ा है। प्रायः त्रिकोण के आकार का यह भारतवर्ष है। भारत के दक्षिण भारतीय महार्णव है। दक्खिन में यह बहुत दूर तक चला गया है। अभी तक उत्तर से दक्खिन तक इस समु के आरपार कोई आ नहीं सका है। भारत के उत्तर हिमाचल है। यह पृथ्वी पर सबसे ऊँचा पहाड़ है। पहाड़ क्या, यह पहाड़ों की शृङ्खला है। हिमाचल के उत्तर चीन साम्राज्य है। चीन के उत्तर अत्यन्त विस्तृत मरु-प्राय ठंडी औवेरभूमि है। यहाँ रूस्यों का साम्राज्य है। इसके उत्तर प्रायः बर्फ से ढका हुआ उत्तरीय समुद्र है। भारत के पूरब ब्रह्म देश है* जिसकी मध्य-भूमि को श्यामदेश और दक्षिणी जिह्वा को मलयदेश कहते हैं। ब्रह्म देश के दक्षिण, समुद्र में, वरुणद्वीप, सुमित्रद्वीप, यवद्वीप, शलभद्वीप, नवगुणद्वीप आदि टापू है। इन टापुओं के दक्खिन एक बहुत बड़ा टापू है जिसे औष्ट्रालय कहते हैं। औष्ट्रालय से दक्खिन और पूरब के कोने पर नवजीव-भूमि है। औष्ट्रालय के पूरब छोटे-छोटे बहुत-से टापू है, जो सब मिलकर पूर्णास्य-द्वीप-समूह के नाम से प्रसिद्ध है। मलयजिह्वा के पूरब फलप नाम से प्रसिद्ध द्वीपकदम्ब है। चीन के पूरब, समुद्र में, कई बड़े-बड़े द्वीप हैं जो कर्पूरद्वीप के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म-देश के पूरब कर्पूरद्वीप आदि का आश्रय शान्त महार्णव है जो

---

*यहाँ इरावती नदी है। उसके आस-पास श्वेत हाथी मिलते हैं जिन्हें ऐरावत या (पूर्वदिक्पाल) इन्द्र का हाथी कहते हैं।

अमेरिका के दोनों भागों के पश्चिम किनारे तक पहुँच गया है। इसका विस्तीर्ण दक्षिण मुख भारतीय महार्णव से मिला हुआ है तथा अत्यन्त संकुचित उत्तरमुख वराङ्गबाहु के नाम से प्रसिद्ध है और उत्तर ध्रुव के समुद्र से जा मिला है। भारत के पश्चिम-दक्षिण की ओर आरब्य देश है। आरब्यों के उत्तर पारसीक देश है। पारसीकों के उत्तर रूप्य और चीन साम्राज्यों के अंश हैं। आरब्यों के तथा पारसीकों के पश्चिम विस्तीर्ण तुरुष्क राज्य है। आरब्यों के दक्षिण भारतीय समुद्र की एक संकुचित बाहु है, जिसे रक्तसागर कहते हैं। रक्तसागर के दक्षिण बहुत बड़ी अफ्रिका-भूमि है। अफ्रिका-भूमि के पूरब एक बड़ा टापू है, जिसे मदागस्कर कहते हैं। रक्तसागर के पच्छिम ओर अफ्रिका और आरब्य भूमि से जरा-सा सम्बन्ध था, जिसे लोग सुवीज-ग्रीवा कहते थे। इसे काट कर पाश्चात्यों ने सुवीज कुल्या बनाई है। सुवीजग्रीवा के पच्छिम अफ्रिका-भूमि से उत्तर मध्य-सागर है। चिरकाल तक जैसे भारतीय लोग भारत ही के कुछ अंशों को मनुष्य-भूमि समझते थे और उनके आगे की भूमियों का इन्हें कुछ भी विशेष ज्ञान नहीं था वैसे ही मध्य-सागर के आस-पास के सभ्य लोग बहुत दिनों तक मध्य-सागर के आस-पास की भूमि को छोड़ कर और किसी भूमि का विशेष ज्ञान नहीं रखते थे। मध्य-सागर के उत्तर अंश में पृथ्वी की तीन जिह्वायें हैं। पूर्वी जिह्वा का नाम यवन देश है। बीचवाली जिह्वा का नाम इष्टालय देश है। पश्चिमी जिह्वा का नाम सुफेन-देश है। यवन-देश के उत्तर तुरुष्क और रूप्य लोग हैं। तुरुष्कों के पच्छिम हूणगृह नाम की भूमि है। हूणगृह के पच्छिम अन्त्रिम-भूमि है। इसके पच्छिम और इष्टालयों के उत्तर शर्मण्य साम्राज्य है। इष्टालयों के पच्छिम और शर्मण्यों से दक्खिन सुफेनों के उत्तर में, स्फाराङ्ग (या फ्रान्स) देश है। सुफेनों के, फ्रांसीसियों के और शर्मण्यों के पच्छिम तुङ्गमहार्णव है। इसका दक्षिणमुख भारत-महार्णव से और उत्तरमुख सुमेरु समुद्र से लगा हुआ है। शर्मण्यों के पच्छिम और फ्रांसीसियों के उत्तर तुङ्गसागर में श्वेतद्वीप अथवा आंग्लभूमि है। तुङ्गसागर के उत्तरमुख में हिम-भूमि नाम का बड़ा टापू है। तुङ्गमहार्णव के पच्छिम, सबसे उत्तर की ओर, अति विस्तीर्ण हरित-भूमि है। हरित-*भूमि के दक्खिन अमेरिका-भूमि का उत्तर खण्ड है, जिसके दक्खिन अमेरिका का दक्षिण* खण्ड है। उत्तर और दक्षिण अमेरिका को जोड़नेवाली संकुचित भूमि पर्णमयग्रीवा कहाती है।* अमेरिका के पच्छिम हम लोगों का पूर्वपरिचित शान्त महार्णव है। दक्षिण-अमेरिका की दक्षिण-जिह्वा शान्त-महार्णव में घुसी हुई है और उत्तर अमेरिका के उत्तर प्रदेश सुमेरु समुद्र से मिले हुए हैं। दोनों अमेरिका के बीच तुङ्गमहार्णव में पूर्व-सिन्धु नाम का द्वीप-समूह है।

---

*सुवीजग्रीवा के सदृश पर्णमयग्रीवा को भी अब पाश्चात्य और प्रायः काट चुके हैं। कुछ दिनों में पर्णमय-कुल्या से होकर जहाज तुङ्ग सागर से शान्त-सागर में आ सकेंगे।

पृथ्वी के दोनों ध्रुवों के ठीक बीच से पूरब-पच्छिम होती हुई जो रेखा मानी गई है, जहाँ सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं और इस कारण बड़ी गर्मी पड़ती है, उसे भूमध्य-रेखा कहते हैं। यहाँ रात-दिन बराबर होते हैं। इसलिए इसे विषुवत्-रेखा या विषुव-रेखा भी कहते हैं। इसके आस-पास की भूमि को उष्ण-मेखला कहते हैं। उष्ण-मेखला के दोनों तरफ की भूमि को समशीतोष्णमेखला कहते हैं। दोनों ध्रुवों के चारों ओर की भूमि को शीत-मेखला कहते हैं। सर्दी-गर्मी के कारण पृथ्वी के ऐसे विभाग किये गये हैं। इसके अतिरिक्त पौधे, जन्तु आदि के हिसाब से भी पृथ्वी के विभाग लोगों ने किये हैं। पौराणिक भारतीयों ने आम-जामुन की भूमि को जम्बूद्वीप कहा था। इसी के अनेक खण्डों में से एक खण्ड भारतवर्ष है। पर इनकी जामुन कुछ अजीब होती थी। एक-एक जामुन हाथी के बराबर होती थी और उसका रस बहकर सोना हो जाता था। इसी रस की नदी, अर्थात् जम्बू नदी, से उत्पन्न होने के कारण लोगों ने सोने का नाम जाम्बूनद रखा था। और भी प्लक्षद्वीप आदि अनेक द्वीप लोगों ने बताये थे, जिनकी स्थिति आदि का आज कुछ पता नहीं है। पौधे के हिसाब से आजकल पृथ्वी की पाँच मेखलायें समझी जाती हैं। एक सुमेरु मेखला है, जहाँ बहुत बरफ है और बरफवाले पौधे होते हैं। सुमेरु मेखला के चारों ओर उत्तर-मेखला है। उत्तर-मेखला के चारों ओर समशीतोष्ण-मेखला है। उसके बाद दक्षिण-मेखला है। उसके बाद समुद्र-मेखला। सुमेरु प्रदेशों में काई से भी सूक्ष्म कुछ ऐसे उद्भिद होते हैं जिनमे कहीं-कहीं बरफ का रङ्गमात्र बदल जाता है। इनके अतिरिक्त और कोई पौधा वहाँ नहीं होता। इसके बाद की भूमि में कई प्रकार की काइयाँ और झाड़ियाँ होती हैं। कितने ही पौधे, जो और जगह पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हैं, यहाँ बिलस्त, आध बिलस्त की झाड़ी हो कर रह जाते हैं। इसके बाद की भूमि में कितने ही सदा हरे रहने वाले और कितने ही पत्ते बदलने वाले वृक्ष होते हैं। और अधिक गर्म भूमि में, जहाँ पानी कम होता है, केवल घास-पात होते हैं। जहाँ और भी कम पानी होता है वहाँ केवल मरुस्थल के कुछ पौधों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जहाँ पानी भी खूब होता है और सूर्य का ताप और सूर्य की प्रभा खूब प्रचण्ड है ऐसे समशीतोष्ण देशों में हजारों प्रकार के पौधे होते हैं। जीवों के अनुसार भी लोगों ने इसी तरह, मेखलाओं का विभाग किया है।

पृथ्वी पर प्रायः चार वर्ण के मनुष्य हैं—श्वेत, रक्त, पीत और नील। श्वेत वर्ण के लोग प्रायः यूरोप में पाये जाते हैं। रक्त वर्ण के लोग अमेरिका में रहते थे; आजकल उनकी संख्या घटती जाती है। चीन कर्पूर द्वीप आदि के लोग पीत वर्ण के हैं। अफ्रिका के लोग नील वर्ण के हैं। भारत आदि कई देशों में वर्ण-विभाग रखने का बहुत प्रयत्न रहा, तथापि चारों वर्ण जहाँ-तहाँ से आकर देश की सुन्दरता के कारण बसे और बसते जाते हैं। इसलिए बहुत वर्ण-संकर होता जाता है। प्रायः नील वर्ण के लोग असभ्य होते हैं। ये गर्म मुल्कों में रहते हैं। केवल वर्णान्तरों के समागम से

यहाँ-तहाँ कुछ शिक्षा इन लोगों में आई है। जन्मान्तर की कल्पना, टोटका पूजना, पिशाच-पूजा, जन्तु-पूजा, वृक्ष-पूजा आदि इनमें बहुतायत से है। लाल वर्ण के लोग केवल अमेरिका ही में पाये गये हैं *। अमेरिका में ध्रुव-प्रदेश से लेकर विषुव-वृत्त तक ये फैले हुए थे। बड़े-बड़े मकान, मन्दिर आदि इनके थे। चिरकाल तक बिना वर्णान्तरों के समागम के इन लोगों में सभ्यता का विकास हुआ था। पाँच-चार सौ बरस से इनमें श्वेत वर्णों का समागम हुआ है। सुफेन आदि लोग जब से अमेरिका में पहुँचे तब से इन्हीं लोगों के समागम से रक्त वर्ण का ह्रास होने लगा। रक्त वर्णों में बड़े-बड़े मन्दिर और देव-मूर्त्तियाँ अभी तक पाई जाती हैं। पीत वर्ण वाले लोग प्रायः समशीतोष्ण-देश में रहते हैं। नील वर्ण और रक्त वर्ण वाले लोगों से इनका धर्म अधिक शुद्ध है और सभ्यता अधिक ऊँची है। श्वेत वर्ण वाले लोग सबसे अधिक सभ्य हैं। समशीतोष्ण-भूमि के उत्तर भाग में ये रहते थे। अब ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ ये न पाये जायँ। ये बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक होते हैं। इनका धर्म अत्यन्त शुद्ध है। सबसे ऊँची सभ्यता पर ये लोग पहुँचे हैं। वर्णान्तरों पर प्रायः इन्हीं का साम्राज्य है। प्रायः सोलह अर्बुद मनुष्य पृथ्वी पर हैं। साठ अर्बुद से अधिक मनुष्य पृथ्वी पर नहीं रह सकते। प्रजा की जैसी बढ़ती हो रही है उससे मालूम पड़ता है कि दो सौ बरस के भीतर पृथ्वी पर रहने को जगह न मिलेगी। श्वेत वर्ण के लोग प्रायः अस्सी करोड़ हैं। पीत वर्ण के लोग साठ करोड़ हैं। लाल वर्ण के लोग प्रायः तीन करोड़ हैं और नील वर्ण के लोग अठारह करोड़ हैं।

जङ्गलों में लोग प्रायः जङ्गली फल और कभी-कभी मांस खा कर रहते हैं। उन्हें कपड़ों की आवश्यकता नहीं पड़ती। सुभीते से खाना-पीना मिल जाने से और कपड़े-लत्ते की जरूरत न पड़ने से उनकी बुद्धि नहीं बढ़ने पाती। जङ्गली जानवरों से बचने के लिए कुछ जमीन के घेर-घार करने की जरूरत पड़ती है और धनुर्वाण आदि सीधे-सादे हथियारों की भी आवश्यकता होती है। जब शिकार करने की अधिक आवश्यकता होने लगती है और दुर्बल लोगों के कपड़े-लत्ते आदि छीन कर काम चलाना पड़ता है तब धीरे-धीरे बुद्धि का विकास होने लगता है। केवल फलाहारी जङ्गली को अपने जङ्गल के बाहर जाने की प्रायः जरूरत नहीं पड़ती। शिकारी लोग चाहे जङ्गल में, चाहे मैदान में रहते हैं। साहसी लुटेरे लोग प्रायः पहाड़ आदि के दुर्ग में रहते हैं और वहाँ से दूर-दूर तक जाकर लूट-पाट करते हैं। जहाँ केवल घास वाले मैदान बहुत हैं वहाँ पर लोग गाय, बकरी चराकर जिन्दगी बिताते हैं और रहने का खेमा लिये इधर-उधर घूमते हैं। इन लोगों को भेड़, बकरी, गाय, घोड़ा, ऊँट आदि पालना

* सम्भव है कि ये लाल वर्ण वाले श्वेत वर्ण वालों द्वारा एक बार पहले भी भारत से निकाले गये हों और यही वार्ता लेकर परशुराम की क्षत्रिय-नाश-कथा बनी हो।

पड़ता है। कुत्ते आदि कितने ही जङ्गली जानवरों को भी अपने काम में लाना पड़ता है, क्योंकि इन्हीं से इन लोगों की रक्षा होती है। पर जो जङ्गली जानवर वश में नहीं आ सकते उन्हें ये लोग एकदम नष्ट करने का यत्न करते हैं। जो डाकू, लुटेरे आदि आलसियों को लूट-पाट कर जीते हैं, उनसे रक्षा के लिये घूमने वाली जातियों को फौज रखनी पड़ती है। यदि सैकड़ों, हजारों इकट्ठे न रहें तो लुटेरों से जान न बचे। नदियों के समीप उपजाऊ मैदान में कृषक लोग रहते हैं। गाँव बनाकर, ज़मीन जोत-बो कर, ये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। शिकारी लोग, या घूमने वाले लोग, अपनी जगह छोड़ कर दूसरी जगह भी चले जाते हैं। इनका भू-माता से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कृषक लोगों का। कृषक लोग मातृभूमि से अत्यन्त प्रीति रखते हैं और उसे छोड़ना नहीं चाहते। समुद्र के किनारे मछली मारने वाली जातियाँ रहती हैं। समुद्र से सम्बन्ध रखने के कारण नाव बनाने और चलाने आदि की इनकी शक्ति बढ़ती जाती है। समुद्र के समीप के देशों में, (जहाँ का जल-वायु कुछ ऐसा है कि जितना ही परिश्रम करो उतनी ही जीवन की सुविधायें बढ़ती हैं) आलस्य से पड़े-पड़े काम नहीं चलता है। ऐसी ही भूमियों में सभ्यता खूब बढ़ी है। जिन भूमियों में आलस्य से काम चल जाता है वहाँ के लोगों की सभ्यता खूब बढ़ने नहीं पाती। जहाँ जीवन के लिए अधिक परिश्रम की अपेक्षा है वहीं के लोग खान खोदते हैं, वाणिज्य के लिए देशान्तरों में आते-जाते हैं और कृषि के लिए बड़ी कठिनता से भूमि-शोधन करते हैं। खेमों में घूमने वाली जातियों की बस्ती घनी नहीं होती, दूर-दूर तक बिखरी हुई रहती है—जैसे कि अरबों की बस्ती। खेती करने वालों की बस्ती भी दूर-दूर तक फैली रहती है और बहुत घनी नहीं होती। केवल अजपुन, भारत, चीन आदि देशों में, जहाँ थोड़ी ही भूमि से बहुत लोगों का काम चल जाता है, बस्तियाँ घनी पाई जाती हैं। पर जहाँ खान आदि की चीजों के सुभीते के कारण बड़े-बड़े वाणिज्य के कारखाने हैं वहाँ बस्ती बहुत घनी है। सब से घनी बस्ती शर्मण्य देश के कुछ अंशों में है। सबसे कम घनी बस्ती पच्छिमी औष्ट्रालय में है। यवद्वीप में वर्गकोस पीछे १२७२ मनुष्य हैं। भारत में वर्गकोस पीछे ६६८ मनुष्य हैं। आंग्ल देश में वर्गकोस पीछे २२३२ मनुष्य हैं। शर्मण्य देश के एक अंश में वर्ग कोस पीछे २६७२ मनुष्य हैं। श्वीबेर में वर्ग-कोस पीछे चार आदमी का पड़ता पड़ता है। पच्छिम औष्ट्रालय में वर्गकोस पीछे एक आदमी से भी कम पड़ता है। जब-तब मनुष्य अपनी बस्ती छोड़ कर नई बस्तियाँ बनाते हैं। कभी-कभी जल-वायु की गड़बड़ी से, खेत आदि के खराब होने या बह जाने से, भूकम्प आदि के उपद्रव से, महामारी आदि के प्रकोप से, एक ही स्थान में बहुत घनी बस्ती हो जाने से, बलो लोगों के द्वारा निकाले जाने से या नैतिक और धार्मिक पीड़ाओं से मनुष्य अपना घर छोड़ दूसरी जगह चले जाते हैं। ऐसे मनुष्य जहाँ पहुँचते हैं वहाँ के दुर्बल लोगों को प्रायः खदेड़ते हैं। इस प्रकार नई बस्तियों की तरङ्गें-सी उठने लगती हैं। कभी-कभी अच्छी भूमि

में चारों ओर से लोग पहुँचने लगते हैं। सोना, हीरा, कोयला, आदि के खेतों के आस-पास तथा अमेरिका की गोधूम-भूमि के आस-पास वस्तियाँ इसी प्रकार घनी होती गई हैं। पर जन्मभूमि का प्रेम मनुष्यों में स्वाभाविक है और बाहरी कारणों की बाधा या लालच के बिना मनुष्य अपना घर छोड़ना नहीं चाहता। जन्मभूमि का प्रेम देशभक्ति का कारण होता है। मरुभूमि में घूमनेवाली जातियों में भूमि-सम्बन्ध कच्चा रहता है। इसलिए उनमें प्रायः देशभक्ति नहीं होती। चारों ओर से समुद्र, पहाड़ आदि से घिरे हुए देशों में देशभक्ति नहीं होती। समुद्र की सीमा सबसे पक्की होती है और टापू के राज्य बहुत स्थिर होते हैं। समुद्र के बाद सीमा बनाने में पहाड़ों का दर्जा है। नदियों का सिवाना बहुत पक्का नहीं होता। कभी-कभी मरुस्थल भी एक देश को दूसरे देश से अलग करते हैं। भाषा-विभाग से भी देश का विभाग होता है। कभी-कभी कृत्रिम दुर्ग-शृङ्खला, महाप्राचीर आदि से भी देशों का सिवाना बँधा रहता है। अस्त्रिय और इष्टालय के बीच एक बड़ी सी दुर्ग-शृङ्खला है। चीन के उत्तर, बहुत दूर तक, बारह सवारों के लिए बगल-बगल चलने के लायक, एक महाप्राचीर है।

पृथ्वी पर राज्य भी अनेक प्रकार के हैं। स्वेच्छानुसारी राजा केवल यूरोप के पूरब तथा जम्बूद्वीप में पाये जाते हैं। पूरब में केवल कर्पूरद्वीप समिति-तन्त्र राजा का राज्य है। कर्पूरद्वीप को छोड़ कर समिति-तन्त्र राजाओं के राज्य केवल यूरोप में पाये जाते हैं। शुद्ध प्रजातन्त्र राज्य यूरप में फ्रांस आदि में है। पर ऐसे राज्य की स्थिति विशेष कर अमेरिका में है। जम्बूद्वीप में चीन के नये प्रजातन्त्र राज्य को छोड़ कर आज तक ऐसे राज्य नहीं देखे गये। नई बस्तियों का शासन कहीं-कहीं लो-स्वतन्त्र राजपुरुषों के अधिकार में है और कहीं-कहीं पूर्ण प्रजातन्त्र है। नई बस्तियों का प्रजातन्त्र-शासन केवल बृटिश साम्राज्य में पाया जाता है। कहीं-कहीं देश-शासन का एक निश्चित केन्द्र है, जैसे आंग्ल-भूमि में या फ्रांस में। कहीं-कहीं अनेक स्वतन्त्र राज्य नैतिक कार्यों के लिए एक सङ्घात बनाये बैठे हैं। शर्मण्यों में ऐसे अनेक राज्यों का सङ्घात है। अमेरिका में अनेक प्रजा-राज्यों का सङ्घात है। प्रत्येक राज्य प्रान्त, मण्डल, जनपद आदि अवान्तरीय भागों में बँटा रहता है। प्राचीन समयों में आत्मरक्षा के लिए नगरों में घनी बस्तियाँ थीं। इसी लिए पुराने नगर प्राकार, परिखा, अटारी आदि से सुरक्षित रहते थे। फिर, कुछ समय बाद, खान आदि के समीप या देश-रक्षा के लिए अपेक्षित स्थानों में या वाणिज्य के योग्य स्थानों में शहर बसने लगे। समुद्री और दरियाई बन्दरगाहों पर, बाष्प-यान-पथ के विराम-स्थानों पर, तथा नदी-प्रतर, उपत्यका-द्वार, पर्वतावतार, चतुष्पथ आदि पर, इसी प्रकार, शहर बसने लगे। जहाँ पर भूमि नीची है और दलदलों से भरी है वहाँ साधारण सड़क और रेल की सड़क प्रायः पहाड़ियों की ऊँची भूमि में जाती हैं। पर जहाँ पहाड़ ऊँचे हैं वहाँ सब मार्ग तराइयों और मैदान से होते हुए जाते हैं। कहीं-कहीं बीच की बाधाओं को हटाने के लिए नदी, समुद्र आदि पर सेतुओं और

पहाड़ों में सुरंगों की अपेक्षा होती है। ऐसे कार्यों के लिए वाष्प-विज्ञान की निपुणता और बहुत धन की अपेक्षा होती है। वाणिज्य के लिए भूमि, जल-वायु आदि के स्वभाव की परीक्षा करनी पड़ती है। पालवाली नाव चलानेवालों को तो जल-धारा और और वायु-धारा के खूब ही अधीन रहना पड़ता था। अब धूमनौकाओं के चलने से जल-वायु की इतनी अपेक्षा नहीं रही है; तथापि बहुत दूर की यात्राओं में समुद्र-विद्या और अन्तरिक्ष-विद्या की आवश्यकता पड़ती ही है। कृषि-वाणिज्य आदि की चीजों के निकालने और उत्पन्न करने के लिए भूमि, जल, वायु, जन्तु आदि के स्वभाव की परीक्षा की भी बहुत अपेक्षा है। कैसा अन्न कहाँ पैदा हो सकता है, कृषि के लिए बैल, घोड़े, भैंस आदि कौन जन्तु कहाँ सुलभ है—इत्यादि का ज्ञान कर्षक के लिये अत्यन्त अपेक्षित है।

अब यह देखना है कि पृथ्वी के अंशों का ज्ञान सभ्य मनुष्यों को कैसे-कैसे हुआ। आर्यों का ध्रुव-प्रदेश से इधर-उधर होना भाषा-तत्त्व, भूगर्भ-शास्त्र आदि से कुछ-कुछ अनुमित होता है। मध्य सागर के आस-पास से फणीश जाति के लोग बहुत दूर पूरब और पच्छिम तक वाणिज्य करते थे। मध्य-सागर के दक्खिन करध्वजपुर और सुफेन में गाधिजपुर नाम से प्रसिद्ध इनकी बस्तियाँ थीं। कितने ही लोगों का अनुमान है कि सिंहल आदि से लेकर आंग्ल-भूमि तक इनका वाणिज्य प्रचलित था। मध्य-सागर के हरिकुलमुख से लेकर भारत के दक्खिन तक इनका वाणिज्य था, इसमें बहुत सन्देह नहीं है। करध्वजपुर शकाब्दारम्भ से प्रायः आठ-नौ सौ वर्ष पहले बसा था। करध्वजपुर से हनु और हिमार्क दूर-दूर के देशों के अन्वेषण में निकले थे, ऐसी प्रसिद्धि है। फणीशों के बाद यवन लोग भी बड़े सांयात्रिक थे। पृथेश, मांसला नामक यवनोपनिवेश से, शकाब्द से चार सौ वर्ष से भी पहले, सुवर्ण-भूमि को खोजते आंग्ल-भूमि होते हुए, सम्भव है कि हिम-भूमि तक भी गया हो। पारसिक आदि जाति से लड़ते-झगड़ते मगद्राणि के राजा और यवन के नायक अलिकचन्द्र सिन्धुनद के इस पार तक आ पहुँचे थे। वे नन्दराज की राजधानी तक दौड़ मारना चाहते थे। पर चन्द्रगुप्त आदि की बुद्धि से उनकी सेना में कुछ ऐसा भेद उत्पन्न हुआ कि सिन्धु के आस-पास ही से उन्हें लौट जाना पड़ा। अलिकचन्द्र के पोतनायक नयार्क सिन्धु-मुख से समुद्र में होते हुए अपने देश में पहुँचे। असुरों की प्राचीन राजधानी भव्यलूनपुरी में, भारत से आने पर कुछ ही दिन के बाद, अलिकचन्द्र की मृत्यु हुई, नहीं तो पुनः समुद्र में और भूमि पर यात्राओं से और देशों की भी ये खबर लेते। अन्तत. अलिकचन्द्र का उत्तराधिकारी, यवनराज शल्यक का दूत मेधस्त, पाटलिपुत्र में मौर्यसिंह चन्द्रगुप्त के दरबार में कितने ही दिनों तक रहा। तुरमय नाम के कई राजा मिश्र देश में या अजपुत्रों में हुए। इनके समयों में ज्योतिर्विद्या और भूगोल-विद्या की बहुत कुछ उन्नति हुई। पृथ्वी का वर्तुल आकार और परिमाण पाश्चात्यों को इन्हीं के समय में परिज्ञात हुआ। जगद्विजयेच्छु रोम नगरी की चढ़ती जवानी में, यात्रा के शौक से,

व्यसन की चीजों के वाणिज्य के लिए, तथा साम्राज्यार्थ, रोम-वासियों ने अनेक देशों से सम्बन्ध किया। मध्य-सागर के आस-पास के यवन, मिश्र, करध्वज आदि देशों से लेकर, सुफेन, गौर, शर्मण्य, श्वेतद्वीप आदि तक रोमनगर का अधिकार हुआ। आरव्य, पारसीक, शक और भारत तक रोम के वीरों की यात्रायें होती थीं। निरय नामक सम्राट् के समय में नील-नद के मूल के अन्वेषण का यत्न हुआ था। हयपाल रक्त-सागर से होते हुए भारत तक पहुँचा था। सुवेर सम्राट् के समय में तो रोम से भारत और चीन तक रास्ता लग गया था। रोम-साम्राज्य के दो विभाग होने पर जब से एक सम्राट् कंसतन्तुपुर में रहने लगा तबसे पूरब की ओर यात्रा और भी बढ़ी। जुष्टनय के समय में दो साधु चीन से कौशेय कृमि के अण्डे छड़ी में छिपा कर ले गये, जिनसे कोशा या रेशम के कपड़े बनने लगे। शकों की शताब्दी में आरव्य सभ्यता खूब बढी। अपने धर्म के जोश से इन लोगों ने धीरे-धीरे सुफेन से भारत तक अपना साम्राज्य बढ़ाया। यवनों के भूगोल-ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद हुआ। धूलमणि नाम का अरबी सौदागर पारस की खाड़ी से भारत और चीन तक गया। कुछ दिनों के बाद दनुभूमि और नरभूमि से जहाजी लुटेरे श्वेत द्वीप आदि में पहुँचे। ये गौर-देश से होते हुए श्रीशल्य तक बसे। कई सौ वर्ष तक नवगर्त से ही कर, भारत से उत्तर यूरोप तक, रास्ता लगा था। सूद-भूमि में आज भी आरव्य मुद्रायें पाई जाती हैं। नर-भूमि से लोग जाकर हिम-भूमि में बसे। इनका रक्तारीश नामक नायक हरित-भूमि तक गया और हिम-भूमि वालों से हरित-भूमि के किनारों को बसाया। यरीशमूनु ने उत्तर अमेरिका के किनारों की खोज की। रोमसाम्राज्य के नाश के साथ जो वन्य विसर्प हुआ था उसका अन्त होने-होते कई ख्रिस्तीय युद्ध हुए, जो स्वस्तिक युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। जारुशाण में जो ईसा की कब्र है उसको मुसलमानों से छीनने के लिए युद्ध करते समय ईसाइयों को देश-देशान्तर से होते हुए जाना पड़ा। इस प्रकार इन युद्धों के द्वारा मनुष्यों का भूगोल-ज्ञान बढ़ा। रोम के ईसाई पुरोहित पोप लोगों ने भी तातार आदि में दूत भेजे थे। जब इष्टालय में रोम साम्राज्य के मृत अङ्गों से फिर छोटे-छोटे प्रजा-राज्य उत्पन्न हुए तब वेणीश आदि नगरों ने भारत की चीजों की बहुत कुछ सौदागरी शुरू की। इष्टालय से जाकर पाल १७ वर्ष तक कुवलय-राज के दरबार में रहा था। उदयार्क भी मलय-द्वीप-समूह, चीन आदि होते हुए लामा लोगों की अलकापुरी तक गया था। बटुक नाम का आरव्य यात्री अफ्रिका, पारस आदि होता हुआ भ्रमते-भ्रमते दिल्ली नगर के तुग राजाओं के दरबार में आठ वर्ष रह कर, सिंहल होते हुए, मलय-द्वीप समूह को पार कर, राजदूत की हैसियत से चीन तक गया। निकुलशान्ति पारस से हो कर मालवर के किनारे से सुमित्र, यव आदि द्वीप में होता हुआ चीन के दक्खिन से लौटकर पच्चीस वर्ष के बाद अपनी जन्मभूमि वेणीश नगर में पहुँचा। स्वमिप ने भी ऐसी ही विस्तीर्ण यात्रा की। गोलहवीं ख्रिस्त-शताब्दी से जहाज-घड़ी का उपयोग होने लगा। पूर्तगाल के राजकुमार हरि के (जो नाविक उपाधि से प्रसिद्ध हैं) समय में उनके उत्साह से भू-यात्रा और भूगोल

विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। पाश्चात्य यात्रियों को तुङ्ग-सागर और दक्षिण-सागर होते हुए भारत तक पहुँचाने की इन्हें बड़ी इच्छा थी। पुर्त्तगल वाले दक्खिन से होते हुए भारत में पहुँचना चाहते थे। इसी बीच सुफेन की रानी ईशवेला के उत्साह से तुङ्ग-सागर को पार करके कुलुम्ब पच्छिम से भारत पहुँचना चाहता था। वह भारत तो न पहुँचा, पर अमेरिका का परिज्ञान कर गया। इधर पुर्त्तगल के वस्क महाशय भी प्रायः उसी समय अफ्रिका के दक्खिन से, समुद्र होते हुए, भारत आ पहुँचे। पाश्चात्य लोग जिस सुवर्ण-भूमि की खोज में कितने ही दिनों से मरते थे वह भूमि मिल गई। जिस दिन वस्क महाशय दाक्षिणात्य नगर कलिकूट में पहुँचे उस दिन से पाश्चात्यों की उन्नति का बड़ा भारी द्वार खुल गया। कुछ दिन बाद कुल्यपुरी के अमेरिक महाशय दक्षिण अमेरिका गये। अमेरिका नामकरण इन्हीं के नाम पर हुआ। अब तो प्रजारि आदि सुफेन-देशीय पेरु प्रभृति प्राचीन राज्यों के नाश में लगे। मृगहर्ष नामक पुर्त्तगल-निवासी, वेशवार द्वीप की खोज में, पच्छिम चला। पत्रगोणिका आदि होते हुए वह शान्त-महासागर में पहुँचा। शान्त-महासागर को पार कर, फल-द्वीप में पहुँचकर, वन्य जातियों के हाथ से उसने अपने प्राण खो दिये।

इस प्रकार सुफेन वाले तो पृथ्वी के ऊपर से नीचे चारों ओर घूम आये। उधर पुर्त्तगलवाले भी भारत, मलय, वेशवार द्वीप आदि में कारखाने खोल रहे थे। मुद्गलराज अर्कवट की कचहरी में इनके धर्म्मदूत पहुँचे थे। अब पुनः कृत-युग सा आ रहा था। भारतीय लोग "कलिः शयानो भवति" की अवस्था में थे। पर पाश्चात्य लोग तो "कृत सम्पद्यते चरन्" का अनुसरण करते हुए पृथ्वी के किसी अंश को बिना देखे छोड़ना नहीं चाहते थे। आम्ल-भूमि, हर-भूमि और स्फारङ्ग-भूमि से उत्साही लोग भारत-भूमि में पहुँचे तथा और भी दूर-दूर की भूमियों में पहुँचने लगे। कितने ही आंग्ल-यात्रियों ने उत्तर की ओर से चीन पहुँचने का रास्ता निकालना चाहा। कई जहाज उत्तर के हिम-समुद्र में नष्ट हो गये। चञ्चलार्य उत्तर में क्षीर-समुद्र तक पहुँचे और रूष्यों की राजधानी मुस्कपर होते हुए घर आये। फिर कई यात्री कारासागर तक गये। हरसून्, वराङ्ग आदि महोद्योगी महात्मा लोग सुमेरु-सागर के कितने ही अंशो तक पहुँचे। ये कई बार आग्न सायात्रिक मृगहर्ष के रास्ते से पृथ्वी के चारों ओर हो आये। ड्रेक शान्त-महासागर से मृगहर्ष-नलिका से होते हुए अमेरिका के उत्तर से लौट आये। बीच-बीच में अन्धगिरि आदि महापर्वत, पत्रगोणिका आदि प्रदेश और अमरनद आदि महानदों की खोज-खाज भी चलती रही। भारत-भूमि में प्राच्य-सिन्धु नामक आंग्ल-वणिक्-समिति स्थापित हुई। आम्ल-वणिक्समितियाँ कुछ दिन के लिए कर्पूर-द्वीप आदि में भी चली, पर मुद्गलों के और उनके बाद महाराष्ट्रों का नाश होने से भारत कुछ ऐसी अवस्था में आ पड़ा कि पाश्चात्य लोग अपने-अपने राज्य-स्थापन का प्रयत्न यहाँ करने लगे। इस प्रयत्न में पूरी सफलता आंग्ल समिति ही को हुई। भारत में आंग्ल राज्य-स्थापन के पहले से दक्षिण-सागर की भी सैर पाश्चात्य लोग कर रहे थे।

हर-भूमिवासी ग्रह्याङ्ग महाशय ग्रौष्ट्रालय द्वीप की पच्छिमी भूमि पर उतर चुके थे। वहाँ की कलहंस नदी का भी दर्शन इन्हें हो चुका था। तस्मन महाशय और आगे, नवजीव-भूमि तक, पहुँचे। इन्हें यात्रियों से उत्प्रेक्षित दक्षिण-सागरीय कुमेरु द्वीप के अन्वेषण की बड़ी इच्छा थी। अब पाश्चात्यों में नाप-जोख की विद्या भी खूब हो चली। चीन, त्रिविष्टप आदि के नक्शे इन्होंने बनाये। देशदारी आदि पादरी आगरा से हिमालय पार कर अलकापुरी में पहुँचे। हर-भूमि के यात्री समबल भी अलका आदि में पहुँचे। गत दो-तीन शताब्दियों में पृथ्वी के सब अंशों का पाश्चात्यों के द्वारा कैसा पूर्ण अन्वेषण हुआ है, इसके विवरण के लिए एक बहुत बड़ी पुस्तिका चाहिए। इस छोटे से वर्णन में कहाँ तक क्या कहें। शुक आदि एक-एक यात्री की एक-एक यात्रा पर बड़ी-बड़ी पुस्तिकायें बन चुकी हैं। आजकल तो भूगोल-विद्या की अनेक समितियाँ पाश्चात्यों के परेस, नन्दन आदि नगरों में वर्त्तमान हैं। आज पृथ्वी पर सौ से अधिक ऐसी सभायें हैं। इन सभाओं के लाखों सभासद हैं। सौ, दो सौ भौगोलिक पत्र आज प्रकाशित हो रहे हैं। हाल में महात्मा षड्बल, शक्लतन् आदि प्रायः दक्षिण-सागर में कुमेरु तक की यात्रा कर आये हैं। महात्मा प्रियार्य व्यास उत्तर ध्रुव तक अभी हो आये हैं। अभी सुनते हैं कि अमन्दसेन ठीक दक्षिण ध्रुव से लौटे आ रहे हैं। कृत-युग के प्रवर्त्तक धन्य हैं ऐसे महात्मा! कलि में सोने वाले हम लोग इनका चरित भी सुनें और पढ़ें तो डर बना रहता है कि कोई प्रायश्चित्त न लगा दे।

भूगर्भ-विद्या

जैसे आयुर्वेद, गान्धर्ववेद आदि बहुत प्राचीन हैं, भूगर्भ-वेद वैसा प्राचीन नहीं है। यह नरशास्त्र आदि के सदृश एक नई विद्या है। सौराण्ड, अर्थात् ब्रह्माण्ड, से पृथक् होने पर पृथ्वी में किन कारणों से कैसी-कैसी तहें पड़ती गईं जिससे आज पृथ्वी वर्त्तमान रूप में पहुँची है, इसका यथाशक्ति निर्णय करना ही भूगर्भ-वेद का काम है। प्रायः सौ वर्ष से इस विद्या का ठीक आविर्भाव समझना चाहिए। इङ्गलैण्ड देश में पहले-पहल कुछ लोग इसके निर्माण में तत्पर हुए। अब पाश्चात्यों में यह विद्या एक स्वतन्त्र शास्त्र हो चली है। जब तक किसी शास्त्र की एक-आध बातें पृथक्-पृथक् मालूम रहती हैं, पर उनका परस्पर सम्बन्ध अज्ञात होने के कारण कोई अनुगम नहीं दिया जा सकता, तब तक ऐसी बिखरी हुई बातों को शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। गोबर इत्यादि कई पदार्थों पर बिजली आसानी से गिरती है, चुम्बक सुई को खींचता है, इत्यादि बातें प्राचीन वैदिकों को तथा चीन आदि देश वालों को भले ही मालूम थी, पर इतने से उनमें विद्युद्विद्या का प्रचार था, यह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह, भूगोल के भीतर पृथ्वी देवी का नरकासुर से समागम हुआ, तब पृथ्वी से मङ्गल ग्रह उत्पन्न हुआ, इसी लिए मङ्गल का "भौम" नाम हुआ, यह सब मङ्गले पुराण वालों ने कहा है। यदि पौराणिक अतिशयोक्ति को छोड़ दें तो इस उक्ति का मूल यही मालूम पड़ता है कि पृथ्वी पहले भयानक अग्नि (नरक) से सम्बन्ध रखती थी और इसके तपे हुए बृहद्गोलक से 'मङ्गल' का आविर्भाव हुआ। इसी तरह समुद्र के भीतर बड़े-बड़े अग्निपर्वतों की स्थिति का कुछ आभास पाकर पौराणिकों ने वडवानल की कल्पना कर ली थी। इन बातों से जान पड़ता है कि भूगर्भ की स्थिति की एक आध बातें हजारों वर्ष पहले से लोगों को विदित थी। इसमें सन्देह नहीं है। पर पृथक्-पृथक् ऐसी एक-आध बातों के ज्ञान को विद्या या शास्त्र नहीं कह सकते। मछली, कछुआ, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के क्रम से पृथ्वी में जीवों की उत्पत्ति कहने वालों को ऐसी झलक अवश्य थी कि पहले जलचर, फिर उभयचर, फिर स्थलचर, तब भयानक जङ्गली मनुष्य, तब छोटे-छोटे विद्वान मनुष्य, फिर लड़ाके अर्ध-सभ्य लोग, फिर पूरे सभ्य वीर, फिर कर्म-कौशल रखने वाले योगी, और फिर जाति के क्षीण होने के समय संन्यासी-वैरागी उत्पन्न होते है। इस बात का विकास और विकासोपरोध से सम्बन्ध अवश्य है; फिर भी ऐसी बातों के ज्ञान को विकास-विद्या नहीं कह सकते। भूगर्भ का और भूतल के जन्तुओं का क्रम-विकास ठीक-ठीक समझने का, और उसे शास्त्र में परिणत करने का, सौभाग्य आधुनिक ऋषियों को ही प्राप्त हुआ है। इसलिए इस शास्त्र

के आविष्कारक (ऋषि) आधुनिक ही हैं। पहले के लोग यह समझते थे कि अपने हाथों अथवा इच्छा या ध्यान आदि से, किसी साकार या निराकार व्यक्ति या शक्ति ने, जिसने तारा, आकाश आदि को बनाया है, पृथ्वी को तहाँ को भी बनाया है, और उसी ने अपनी इच्छा से इस पर जन्तुओं को भी बनाया है। इसके लिए प्रमाण सिवा क़िस्सा-कहानियों के और कुछ नहीं है। असली बातों का पता या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है या अनुमान से; जैसे पहाड़ पर उठा हुआ धुआँ देखने से मनुष्य कहता है कि पहाड़ पर आग है; या और जगह धुआँ और आग का नियत सम्बन्ध देख कर यदि वह पहाड़ पर धुआँ देखे तो भी मनुष्य अनुमान करता है कि वहाँ आग है; पर अनुमान के खुले शत्रु चार्वाक लोग और उनके अनुगामी अन्य छिपे हुए शत्रु प्रायः कहते हैं कि प्रत्यक्ष-अनुमान से सब कुछ नहीं मालूम हो सकता, क्योंकि अतीत, अनागत सब वस्तुओं को किसी मनुष्य ने नहीं देखा। यहाँ पर 'मनुष्य' शब्द से पुराने और नये सिद्ध, ऋषि, महर्षि आदिकों का ग्रहण नहीं है, क्योंकि अनुमान के शत्रु प्रायः ऐसे लोगों को अमानुष समझते हैं। इन लोगों का यह सिद्धान्त है कि जब दुनिया भर की अतीत, अनागत और वर्तमान सारी आग और धुआँ को किसी ने नहीं देखा, तब यह कैसे कहा जाय कि धुआँ है तो आग भी अवश्य है। सम्भव है कि कोई प्राचीन विश्वामित्र या नवीन सुन्दरानन्द तप कर रहे हों और उनके माथे से धुआँ निकल रहा हो। ऐसे अनुमान के विरोधी या तो केवल प्रत्यक्ष ही पर रह जाते हैं या 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' बकते रहते हैं। ये यह नहीं समझते हैं कि अनुमानवादी, प्रत्यक्ष-अनुमान से सभी कुछ देखा जाय, यह कभी नहीं कहता। सब लड़कों के माँ-बाप को मैंने देखा है, यह कौन कह सकता है? तथापि अनुमान यही है कि जन्तुओं के माँ-बाप उन्हीं के सदृश जन्तु होते हैं; भिन्न, लोढ़ा आदि के माँ-बाप नहीं हो सकते। कहने वाले भले ही कहें कि अगस्त्य जी घड़े से उत्पन्न हुए थे; अग्नि, वायु, प्रजापति आदि ऋषि शून्य में से चले आये थे; शुकदेव जी आग निकालने की लकड़ियों से पैदा हुए थे; पर ऐसी बातें चाहे किसी की हों, इस देश की हों या अन्य देश की हों, पुरानी हों या नई हों, कोई विचारवान् इन्हें मान नहीं सकता। यदि कोई पूछे कि जिन जङ्गलों में हम नहीं गए हैं, वहाँ के फल क्या होते हैं, तो यही कहना चाहिए कि और जन्तु वहाँ के फल खा जाते हैं या वे सड़-गल जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उन जङ्गलों के फल पिशाच खा जाते हैं, जैसा लड़के आपस में बहुधा कहा करते हैं कि शहर की मिठाइयाँ रात को जिन लोग खरीद ले जाते हैं। इसी से प्रत्यक्षानुमानप्रिय वैज्ञानिक लोगों ने, विशेष निर्माणवाद की बादहवाई बातें समझ कर, देखी जाती हुई कार्य्य-कारण की बातों से, भूगर्भ और जन्तुओं की स्थिति का निश्चय करने की चेष्टा का प्रारम्भ हाल में किया है। भाप निकलने से जल होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। आग पर पानी का बर्तन यदि रखा जाय और खौलते हुए पानी के बर्तन के कुछ ऊपर कटोरा आदि रखा जाय तो उस पर जल के कण आ जाते हैं। ऐसे ही दिन भर की गर्मी से उड़े हुए पानी के कण रात को खिड़की के

शीशे पर लग जाते हैं; जिन्हें देख कर कवियों ने चन्द्रकान्त मणि की कल्पना कर ली थी। ऐसे ही गर्मी में उड़ी हुई भाप ऊपर ठंडी वायु में जाकर पानी या बनौरी के आकार में नीचे गिरती है। ऐसी बातों से वैज्ञानिकों ने यह अनुमान किया है कि गौराण्ड से निकलने के बाद चिरकाल तक भाप निकलते-निकलते जब भूतल खूब ठंडा हो गया और चारों ओर हवा भी ठंडी हो चली तब भाप पानी के रूप में परिणत हुई। पृथ्वी प्रायः जलमयी हो चली। गर्मी उसके भीतर ही भीतर रह गई। अब प्रत्यक्ष निर्णीत बातों से यह देखना चाहिए कि पृथ्वी के ऊपर आज जो पदार्थ हैं उनकी स्थिति, गति आदि का ठिकाना बिना विशेष निर्माण के किस प्रकार हुआ, क्योंकि विशेष निर्माण यदि कोई बात न होती तो आज भी जहाँ-तहाँ अद्भुत वस्तु और बे-माँ-बाप के ऋषि आदि उत्पन्न हो जाया करते। प्रत्यक्ष निर्णीत बातों से यह देखने में आया है कि जल के प्रवाह से कहीं-कहीं तो पृथ्वी घिसती जाती है और कहीं उस पर पाँक जमती जाती है। इससे एक अनुमान यह हुआ कि जल के व्यापार के कारण पृथ्वी के तल पर बहुत से परिवर्तन हुए हैं। दूसरी बात यह देखने में आई है कि कहीं-कहीं अग्निगर्भ पर्वतों के भीतर से दहकती हुई चीजें निकलती हैं, जो पृथ्वी के तल पर ढेर पड़ी रहती हैं। तो अग्नि और जल ये दोनों पृथ्वी के परिवर्तन के मुख्य कारण हुए। पृथ्वी की सर्दी, गर्मी आदि बदलने के कुछ और भी कारण ऐसे हैं जिनका पृथ्वी की गति से सम्बन्ध है। वैज्ञानिकों ने यह अनुमान किया है कि पृथ्वी की अक्ष-यष्टि सूर्य्य से एक ही सम्बन्ध नहीं रखती, कभी-कभी बदल भी जाती है। इस बदलने के कारण पृथ्वी के कुछ भागों में अकस्मात् सर्दी या गर्मी के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। ऐसे ही कारणों से ध्रुव-देश के चारों ओर किसी समय इतनी बर्फ पड़ी कि वहाँ के मनुष्य, रोमशहस्ती आदि अनेक जीव बर्फ में जम गये। आज तक भी ध्रुव के चारों ओर कुछ दूर तक यह बर्फ वर्त्तमान है।

ऊपर कहे हुए कारणों में पहले-पहल वैज्ञानिकों ने दो मुख्य कारणों का अवलम्बन किया। आज से प्रायः सौ वर्ष पहले इन वैज्ञानिकों ने अपने दो दल कर डाले। कुछ तो सुतनु नामक विद्वान् का पक्ष लेकर अग्नि के उद्भेद के कारण ही पृथ्वी में सब परिवर्तन हुए, ऐसा मानने लगे। ये वैवस्वत दल वाले कहे जाते हैं। दूसरे दल वाले वरनर साहब के अनुसारी थे। ये जल को ही सारे परिवर्तन का कारण समझते थे। ये वारुण दल वाले कहे जाते हैं। अन्धहस्ति-न्याय से दोनों दल वाले सत्य के दो अंशों को लेकर चिरकाल तक नाहक आग्रह में पड़े थे। परन्तु अब भूगर्भ-विद्या वालों ने खूब समझ लिया है कि न केवल जल से न और केवल अग्नि ही से, किन्तु दोनों ही के कारण भूतल में परिवर्तन होते रहते हैं।

संक्षेप से इस प्रकार यहाँ भूगर्भ-विद्या के आविर्भाव का वृत्तान्त दिया गया। इस विद्या के अनेक अङ्ग हैं। पृथ्वी-ग्रह का सूर्य्य आदि से क्या सम्बन्ध है और पृथ्वी को गौराण्ड से अलग हुए कितने दिन हुए, ऐसी बातों का निश्चय करना इस विद्या

का पहला उद्देश्य है। वायुमण्डल, जलमण्डल, और पाषाणमण्डल पृथ्वी के तीन अङ्ग हैं। इन अङ्गों में क्या-क्या द्रव्य हैं और उनकी संघटना कैसी है, इन बातों का निश्चय करना इस विद्या का दूसरा उद्देश्य है। अग्नि और जल के कारण कैसे परिवर्त्तन पृथ्वी-तल में होते हैं, इसका निश्चय करना इसका तीसरा उद्देश्य है। भूगर्भ के गठन का निश्चय करना चौथा उद्देश्य है। किस क्रम से पृथ्वी-तल बना, इस बात का निश्चय करना इस विद्या का पाँचवाँ उद्देश्य है। उद्भिद और जीवों का विकाश किस क्रम से पृथ्वी के अतीत और वर्त्तमान तल पर हुआ, इसका निश्चय करना विकाश-विद्या का उद्देश्य है। विकाश-विद्या वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही शास्त्र है, तथापि भूगर्भ-विद्या से उसका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यहाँ दोनों पर एक ही साथ विचार करना उचित समझा गया है।

पृथ्वी की सृष्टि

पाणिनि के अनुसार सृष्टि का अर्थ है अलग होना। उपनिषदों में भी आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से जीव हुए—यही क्रम रक्खा गया है। पर श्लोक बनाने वाले भृगु आदि धर्मशास्त्रियों ने और मझले पौराणिकों ने मनुस्मृति, भागवत आदि की कविता में सब वस्तुओं में स्त्री-पुरुष-भाव का आरोप करके एक ऐसा रूपक खड़ा किया है जिससे, कुम्हार और बढ़ई आदि जैसे कृत्रिम वस्तुओं को बनाते हैं वैसे ही पृथ्वी, आकाश, उद्भिद्, जीव आदि को भी किसी कारीगर ने बनाया है, ऐसा खयाल बहुतेरों में पैदा हो जाता है। दर्शन और विज्ञान से कम परिचय रखने के कारण मतवाद वाले सभी जगह ऐसे ही रूपकों का झण्डा खड़ा करते हैं। अब यदि कविता के रूपकों और अति-शयोक्तियों को छोड़ें और दर्शन और विज्ञान की रीति से असली बात का यथाशक्ति निश्चय करना चाहें तो सौराण्ड से पृथ्वी कब निकली, इसका अनुमान इन बातों से हो सकता है:—(१) ताप किस हिसाब से तप्त पदार्थ से बाहर होता है, (२) प्रतिवर्ष कितनी मोटी पाँक कितने जल के प्रवाह से जमती है, (३) पानी में नमक आदि खास-खास द्रव्यों का कितना अंश कितने दिनों में इकट्ठा होता है, (४) पृथ्वी की गति और मेरुओं का चिपटा होना और (५) सूर्य्य के ताप का समय। ऐसी ही ऐसी बातों से सौराण्ड से पृथ्वी की सृष्टि, अर्थात् उसके पृथक् होने के समय, का किसी तरह कुछ अन्दाजा हो सकता है। इन गणनाओं में बहुत सन्देह और मत-भेद होने की सम्भावना है। पर करें क्या? ऐसी गणना तो प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है और प्रत्यक्षमय लौकिक बातों में कोई गड़बड़ हो तो आश्चर्य ही क्या है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि दिव्य पुस्तकों में दिव्य दृष्टि वाले वक्ता भी, सर्वज्ञ होने पर भी, परस्पर-विरुद्ध बातें कहते हैं। पश्चिमी लोग सृष्टि को हुए चार ही पाँच हजार वर्ष मानते हैं। पूर्वी लोग सृष्टि हुए अनेक करोड़ वर्ष मानते हैं। पैर से चलते-चलते फिसलें भी, या रेल से चलते-चलते गाड़ी टकराने से मर भी जायें तो सर से चलने या प्राणायाम से चलने की चेष्टा

कैसे करें? प्रत्यक्ष-अनुमान से धोखा खाते-खाते भी, वादहवाई बाबा-वाक्यों पर विश्वास करके, दो दिन की या दो करोड़ वर्ष की सृष्टि कैसे मानें। वादहवाई बातों को छोड़ कर गणित आदि के सीधे रास्ते से चलते-चलते जहाँ तक पहुँचें वही ठीक है। निश्चय-भूमि में जायँ तो भी अच्छी बात है; सन्देह-भूमि में जायँ तो भी अच्छी बात है।

जो चार-पाँच गणनायें भूसृष्टि के निश्चय-सम्बन्ध में, अवलम्बम्प से, ऊपर सूचित की गई है उनके अनुसार कलवीण आदि महर्षियों ने अनुमान किया है कि प्रायः दस करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी सौराण्ड से अलग हुई थी। इन वैज्ञानिकों ने यह दिखलाया है कि यदि पृथ्वी दस करोड़ वर्ष से इधर होती तो उसके भीतर जैसी गर्मी आज है उससे बहुत अधिक होती। इतने समय से बहुत अधिक पुरानी भी यदि पृथ्वी होती तो भी गणित के अनुसार ताप नीचे बढ़ता हुआ न पाया जाता, जैसा कि आज कल पाया जाता है। समुद्र के ज्वार-भाटा के आकर्षण के कारण पृथ्वी की परिवर्त्तन-गति पहले से क्रमशः धीमी होती जाती है। यदि पृथ्वी एक अर्बुद वर्ष (अर्थात् १० करोड़) से बहुत पुरानी होती तो प्रबल वेगवती परिवर्त्तन-गति के कारण ध्रुव-प्रदेश इस समय जितने चिपटे है उससे कहीं ज्यादा चिपटे होते। सूर्य की गर्मी पृथ्वी पर कितने दिनों से आ रही है, इसकी गणना करने के लिए भी कितने ही लोगों ने चेष्टा की है। पर इस विषय का गणित ठीक नहीं हो सकता। रदीय नामक एक द्रव्य हाल में ऐसा ज्ञात हुआ है जिससे सम्भव है कि पृथ्वी के भीतर गर्मी बहुत दिनों से एक ही प्रकार की रही हो। इस द्रव्य के ज्ञात होने से कलवीण आदि वैज्ञानिकों की गणना में बहुत कुछ सन्देह हो गया है। इसलिए भूगर्भ-वेदियों का अनुमान है कि पृथ्वी की आयु एक अर्बुद वर्ष से कहीं अधिक हुई। नदियों के प्रवाह से एक जगह की जमीन किस हिसाब से घिसती है, और दूसरी जगह किस हिसाब से पाँक जमती है, इसके गणित से भी भूमि की अवस्था का कुछ अन्दाजा लग सकता है। अमेरिका की मिश्रशिप्रा नदी प्रति वर्ष सामान्यतः एक फुट के षट्सहस्रांश ($\frac{1}{6000}$) के हिसाब से अपने तल को घिस कर मिट्टी समुद्र में ले जाती है। अर्थात् ६००० वर्ष में एक फुट जमीन वह खा जाती है। अब यद्यपि यह सम्भव है कि प्राचीन समयों में अग्निगर्भ पर्वतों या नदियों का वेग आज से कहीं बढ़-चढ़ कर रहा होगा, तथापि मिश्रशिप्रा के व्यापार को देखने से यह जान पड़ता है कि कई करोड़ वर्षों में एक समूचा महाद्वीप एक जगह से कट कर दूसरी जगह बन सकता है। इसी प्रकार योग्यतम जन्तुओं की रक्षा और विकाश के क्रम से एक जाति के जन्तुओं से दूसरी जाति के जन्तु बनने के लिये कितने अधिक समय की अपेक्षा है, इसका खयाल करने से भी पृथ्वी की अवस्था अनेक कोटि वर्ष की होने का अनुमान होता है। तथापि इन बातों से पृथ्वी की अवस्था का कुछ पता नहीं लगा। बात अभी सन्देह ही में रह गई। इस से कुढ़ कर कितने ही दिव्य दृष्टि वाले समझेंगे कि इस अनिश्चय से तो दिव्य दृष्टि ही के द्वारा सब बातों का निश्चय अच्छा। पर यह बात वैसी ही है जैसे 'मुदगर-दूत' के नायक श्रीमान् मूर्खदेवजी ने लोगों को उपदेश

दिया था कि लड़के बहुत जल्दी बीमार हो जाते हैं और मर जाते हैं, इस लिए पत्थर या लोहे के लड़के रखे जायँ तो बहुत सुभीता हो। वैज्ञानिकों का यह नियम है कि जिस काम के लिए जो वस्तु मिल सके वह चाहे कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो उसी से काम लेना चाहिए, जब तक कोई ठिकाने की चीज उससे अच्छी न मिले। ये लोग गप्पों से कभी काम नहीं लेते। रेल का टिकट लेने में कितनी ही धक्कम-धुक्की हो, खड़ाऊँ पर उड़ने का, या पिनक की समाधि में ध्यान से चाहे जहाँ चले जाने का, यत्न ये लोग नहीं करते। यहाँ केवल राह दिखला दी गई है कि ऐसी-ऐसी बातों के मूल पर पृथ्वी की अवस्था का अनुमान हो सकता है। इसी रीति से लोग अन्वेषण कर रहे हैं और अन्वेषण करना ही चाहिए। बिना मूल के जैसा जी में आवे वैसा निश्चय कर देना और लोगों को वैसा ही उँटवा-पक्कड़ पकड़ा देना विज्ञान का काम नहीं है। राह दिखलाने वाले का यही काम है कि छोटे-बड़े शहरों की टूटी-फूटी राह, जैसी वस्तुतः वर्त्तमान हो, दिखला दे। शुद्ध सोने के शहरों में पहुँचने के लिए शुद्ध हीरे की कुटी हुई सड़कें बतलाना उन लोगों का काम है जिनके यहाँ चिन्तामणि, कल्प-वृक्ष आदि अधिकता से हुआ करते हैं।

पृथ्वी की रचना

पृथ्वी का सबसे बाहरी भाग वायुमण्डल है। वायु-मण्डल के भीतर जल-मण्डल है। जलमण्डल से लिपटा हुआ पाषाणमण्डल है।

(क) वायुमण्डल पृथ्वी का तरल आवरण है। यह पृथ्वी के चारों ओर सब जगह है और पृथ्वी के परिवर्त्तन में बहुत सहायता देता है। इसकी बनावट, इसके तत्व, इसकी सर्दी-गर्मी का घटना-बढ़ना इत्यादि कारणों से पृथ्वी पर परिवर्त्तन होते रहते हैं। वायुमण्डल की जैसी अवस्था आज है वैसी पहले न थी। पहले उसकी अवस्था कुछ विलक्षण ही रही होगी, इसमें संदेह नहीं। जब समूची पृथ्वी ताप के मारे तरल अवस्था में थी तब उसके चारों ओर किसी वायु-मण्डल का होना सम्भव ही नहीं था। तरल पृथ्वी के बहुतेरे अंश जलमण्डल और पाषाणमण्डल में जम गये। बाकी अंश वायुमण्डल के रूप में रह गया। पृथ्वी की बाहरी पपड़ी पर आधे से अधिक आग्नेय तत्त्व (Oxygen) पाया जाता है। पृथ्वी के भीतर सभी जगह कोयले की तहें पाई जाती हैं। समुद्र में कितने ही प्रकार के नमक पाये जाते हैं। ये सब पदार्थ पहले वायुमय थे और वायु में से जम कर अपने-अपने स्थान पर पहुँचे हैं। प्राचीन समयों में पृथ्वी की एक अङ्गारभारिणी अवस्था भी थी। उस अवस्था में सारी पृथ्वी वृक्षों से भरी हुई थी। जमीन में गड़ जाने से, काल पाकर, वे प्रायः सारे के सारे पत्थर-कोयले के रूप में परिणत हो गये हैं। उस समय, सम्भव है, वायुमण्डल आज से अधिक गर्म और जलीय वाष्प से परिपूर्ण रहा हो। उस समय वायुमण्डल में द्व्याग्नेय अङ्गार भी बहुत-सा रहा होगा। इस समय वायुमण्डल में, आयाम के अनुसार, चार अंश क्षार और एक अंश आग्नेय का आपात-मिश्रण-रूप है। वायु के दस हजार

अंशों में प्रायः साढ़े तीन अंश द्वयाग्नेय अङ्गार भी वर्त्तमान है। इसके साथ और भी कितने ही तरल और घन पदार्थों के सूक्ष्म अंश मिले हुए हैं। वायु में अनेक वाष्प भी मिले हुए हैं जिन में जलीय वाष्प मुख्य है, जो वायु में सदा रहता है, पर सर्दी-गर्मी के हिसाब से उसका परिमाण घटता-बढता रहता है। घन होने से यही जलीय वाष्प ओरा, कुहरा, मेघ, वर्षा, बनौरी, पाला, बर्फ आदि के रूप में देख पड़ता है। वायुमण्डल मे जल के पृथ्वी पर, और पृथ्वी से समुद्र में पहुँचने से और, फिर, समुद्र से पृथ्वी पर और पृथ्वी से वायुमण्डल में पहुँचने से ही यह हमारा पृथ्वी-ग्रह जन्तुओं के निवासयोग्य हो रहा है, और इसी व्यापार के कारण आज पृथ्वी की ऊँचाई-निचाई का निर्माण होता जा रहा है।

(ख) **जलमण्डल**—जलमण्डल पृथ्वी-तल के तीन चौथाई अंश को ढके हुए है। इस मण्डल के मुख्य अङ्ग महासागर और उपसागर है, जो परस्पर मिले होने पर भी सुभीते के लिए अनेक नामों से निर्दिष्ट किये जाते हैं। समुद्र का जल और जलों से अधिक भारी और नमकीन होता है। जहां नदियों का और बर्फ आदि का पानी अधिक मिला रहता है वहाँ समुद्र का पानी और जगह से कम भारी होता है। जहां गर्मी अधिक होने के कारण भाप बहुत निकलती रहती है वहाँ का पानी बहुत भारी होता है। मीठे पानी की अपेक्षा समुद्र के पानी का भारी होना उचित ही है, क्योंकि उसमें मिले हुए नमक का परिमाण बहुत अधिक है। समुद्र के पानी के १०० अंश में प्रायः ३५ अंश नमक का रहता है। यह नमक स्वाद्य, मगनेश, राटिका, पुटाश आदि से सम्बन्ध रखता है। और द्रव्यो के भी अत्यन्त सूक्ष्म अंश समुद्र के जल में पाये जाते हैं। प्रायः डेढ करोड पानी के अंश मे एक अंश सोना भी पाया गया है। बहुत से नमक चिरकाल से समुद्र में जमे हुए है, पर नये-नये द्रव्य प्रतिक्षण मिट्टी से समुद्र में जा रहे हैं। झरनों से, सोतो से और नदियो से जितना पानी अन्ततः समुद्र में जा रहा है उसमें कुछ न कुछ खनिज के अंश मिले रहते हैं। इस लिए पृथ्वी की बाहरी पपड़ी में जितने तत्त्व हैं सभी की समुद्र में स्थिति हो सकती है। समुद्र का पानी उड जाने से और सूखे पत्थरों में नमक जम जाने से सेंधा नमक और काले नमक की उत्पत्ति होती है। कितने ही सफेद पत्थर भी इसी प्रकार समुद्र में जम कर हुए हैं। संक्षेप यह है कि तह वाले सभी पत्थर समुद्र में पाँक के जमते-जमते उत्पन्न हुए हैं। केवल सतह के पत्थर अग्नि-गर्भ पर्वतों के उद्भेद से पृथ्वी के ऊपर निकलते हैं।

(ग) **पाषाणमण्डल**—तरल और द्रव आवरणो से ढके हुए पृथ्वी के घन अंश को पाषाणमण्डल कहते है। पाषाणमण्डल के दो अश है। बाहरी पपड़ी और भीतरी पिठर। बाहरी पपड़ी ठंडी है। उसकी रचना का वर्णन ही भूगर्भ-विद्या का मुख्य विषय है। भीतरी पिठर का निर्माण बाहरी पपडी से कुछ विलक्षण है। बाहरी पपड़ी प्रायः पौने चार योजन मोटी है। उसकी अनेक तहें हैं। उसके नीचे प्रायः बेतह का अत्यन्त कठिन पिठर है। कहीं-कहीं बाहरी पपड़ी अधिक मोटी भी है। पर अनुमान किया

जाता है कि बाहरी पपड़ी सवा छः योजन से मोटी कहीं नहीं है। पृथ्वी के दक्षिण और पूर्व के हिस्से में भारत महार्णव और शान्तमहार्णव का पानी चिरकाल से अपनी वर्तमान स्थिति में है। इससे यह अनुमान होता है कि पृथ्वी के गुरुतम अंश कुमेरु और केन्द्र के बीच में है। इतना भारी अंश उत्तरार्द्ध में नहीं है। गाम्भीर्यमान-रेखा का झुकाव समुद्र की ओर है। इससे मालूम होता है कि पहाड़ों के नीचे पृथ्वी उतनी भारी नहीं है जितनी मैदानों के नीचे है और मैदानों के नीचे भी उतनी भारी नहीं है जितनी समुद्र के नीचे है। पृथ्वी के अन्तःपिठर में कौन-कौन से तत्त्व हैं, इसका हम लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं है। अन्तःपिठर में बड़ी गर्मी है, इसके कई प्रमाण अवश्य है। बाहरी पपड़ी के भीतर से अग्निगर्भ पर्वतों के मुख के द्वारा कहीं-कहीं बराबर और कहीं-कहीं समय-समय पर, गर्म भाप और पिघला हुआ पत्थर निकलता है। बहुत से अग्निगर्भ पर्वत आज भी जीते-जागते हैं। मरे हुए अग्निगर्भ पर्वत तो पृथ्वी पर प्रायः सभी स्थानों में चिरकाल से वर्त्तमान हैं। सीताकुण्ड और राजगृह के कुण्डों के सदृश गर्म झरने हजारों स्थानों में देखे जाते हैं। कितने ही झरनों में तो पानी बराबर खौलता रहता है। खानों, सुरङ्गों और गहरे सूराखों से पता लगता है कि पृथ्वी के भीतर-भीतर गर्मी बढ़ती जाती है। पचास-साठ फुट में तापमान के हिसाब से प्रायः एक अंश गर्मी अधिक हो जाती है।

पृथ्वी के अन्तःपिठर की क्या अवस्था है, इसके विषय में अनेक कल्पनायें हुई हैं। पर अभी तक इस विषय में भूगर्भविद्या वालों का ऐकमत्य नहीं है। एक कल्पना तो यह है कि पृथ्वी का पिठर पिघले हुए द्रव्यों का समूह है। दूसरी कल्पना यह है कि केन्द्र तक पृथ्वी कड़ी है। केवल कहीं-कहीं पिघले हुए द्रव्यों या भाप से भरे हुए अवकाश हैं। तीसरी कल्पना यह है कि अन्तःपिठर उज्ज्वल बाष्पों का बना हुआ है। उसमें विशेष कर बाष्पमय लोहा है। पर चारों ओर के महाभार से यह बाष्प इतना दबा हुआ है जिससे समस्त भूगोल भीतर से बाहर तक बेहद कड़ा समझा जा सकता है। इस बाष्पीय पिठर के ऊपर एक पिघली हुई तह है, जिसके ऊपर फिर ठंडी और घनी पपड़ी है। अन्तःपिठर की बनावट चाहे जैसी हो, भूकम्प की परीक्षा से मालूम पड़ता है कि प्रायः छः योजन की मोटी बाहरी पपड़ी के नीचे लगभग एक ही आकार का प्रायः एकरस अन्तःपिठर है। वह बहुत कड़ा है और उसमें कम्प समान वेग से पहुँचता है।

पृथ्वी के भीतर इतनी गर्मी क्यों है, इस विषय में भी अनेक कल्पनायें हैं। कितने ही लोग तो यह समझते हैं कि पहले जिस ताप-सागर से अलग हो कर यह भूग्रह निकला है उसी का अवशिष्ट अंश इसके अन्तःपिठर के रूप में वर्त्तमान है। दूसरी कल्पना यह है कि केन्द्राकर्षण के कारण पृथ्वी की तह की वस्तु क्रम से दबती जाती है। इसी दबाव के वेग के कारण भीतर बहुत अधिक गर्मी पाई जाती है। रदीयतत्त्व के व्यापार से भी भीतर गर्मी अधिक है। प्रायः सभी आग्नेय पाषाणों में रदीय देखा गया है।

बाहरी पपड़ी मुख्यतः खनिजों की बनी हुई है। प्रायः तीस तत्त्वों के अंश बाहरी पपड़ी में अधिक पाये जाते हैं; और तत्त्वों के अंश बहुत कम हैं। इस पपड़ी में पाये गए भिन्न-भिन्न तत्त्वों में से मुख्य आग्नेय और श्लेपक (silicon) हैं। प्रति सैकड़ा सतालीस हिस्सा आग्नेय और अट्ठाईस हिस्सा श्लेपक पाया जाता है। धातुओं में फी सदी नौ हिस्से से अधिक एल्युमिनियम, साढ़े चार हिस्से से अधिक लोहा, साढे तीन हिस्से से अधिक खटिका, ढाई हिस्से से अधिक मंगेश, प्रायः उतना ही स्वाद्य और ढाई हिस्से से कुछ कम पुटाश पाया जाता है। ऐसा देख पड़ता है कि भूगर्भ की बाहरी पपड़ी का तीन चौथाई भाग धातु-भिन्न तत्त्वों से बना है और एक चौथाई धातुओं से। शुद्ध तत्त्वों के अतिरिक्त अनेक तत्त्वों के आग्नेय कण पृथ्वी में मिलते हैं। उनके अतिरिक्त और भी कितने ही कण सूक्ष्म अंशों में मिलते हैं। किसी एक खनिज का या कभी-कभी अनेक खनिजों का मिल कर भी बना हुआ द्रव्य प्रायः पाषाण के नाम से प्रसिद्ध है। भूगर्भ-विद्या में बेतह के ग्रावा का, तह वाले पत्थरों का, चिकनी मिट्टी का और बालू का भी पाषाण शब्द से उल्लेख किया जाता है। भूगर्भ-विद्या में सुभीते के लिए पाषाणों के अनेक वर्ग किये गये हैं। एक वर्ग तो आग्नेय पाषाणों का है, जो उद्भेद के कारण बाहर से भीतर आये हैं। इन्हें निस्तर-पाषाण कहते हैं, क्योंकि इनमें तह नहीं होती। इन पाषाणों में श्लेपक बहुत अधिक रहता है। खान का काच भी इन्हीं पाषाणों का एक भेद है। ये पाषाण काले से काले और भास्वर से भास्वर पाये जाते हैं। ग्रावा के अतिरिक्त और सारे पाषाण नकली भी बनाये जा चुके हैं। ग्रावा बहुत गहरी जमीन में, बहुत दिनों में जमते-जमते बना है। इतना दबाव और इतना समय यन्त्रशालाओं में काम में नहीं लाया जा सकता। पृथ्वी के ऊपर इस समय आग्नेय पाषाण बहुत अधिक नहीं है। पर थोड़ा-बहुत सभी जगह मिलता है। पृथ्वी के भीतर तो बहुत मिलता है। तह वाले प्रस्तर दूसरे वर्ग के पाषाण हैं। समुद्र के भीतर और जमीन के बाहर भूमि प्रायः ऐसे ही पत्थरों की बनी हुई है। कितने तो पुराने पत्थरों के घिसे हुए अंशों के जमने से उत्पन्न हुए हैं, जिसका एक उदाहरण बालू है। पानी में से छन कर जमते हुए तत्त्वों से भी कितने ही प्रस्तर बने हैं। सेंधा नमक इसका एक नमूना है। उद्भिदों के जमीन में गड़ जाने से जो पत्थर-कोयले आदि की तहें बनी हैं वे तीसरे प्रकार के प्रस्तर हैं। ये तीनों प्रकार के पत्थर जलीय कहे जाते हैं। इन्हीं तहदार पत्थरों में अनेक उद्भिद, जीव-जन्तु आदि के चिह्न जमे हुए वर्तमान हैं। इनमें एक तह के ऊपर दूसरी तहें भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती गयी हैं। इससे पृथ्वी-तल के परिवर्त्तन के इतिहास का पता लगता है। आग्नेय या निस्तर और जलीय या प्रस्तर नामक पाषाणों के अतिरिक्त एक तीसरे वर्ग का भी पाषाण है जिसे परिणत पाषाण कहते हैं। इन पाषाणों में मिसरी के जैसे रवे होते हैं। कितने ही स्लेट इसी प्रकार के पत्थर हैं। जान पड़ता है कि खनिज पदार्थ बहुत गर्मी से पिघल कर पानी में जमते-जमते इन पाषाणों के आकार में परिणत हो गये हैं।

हिन्दी की वर्त्तमान दशा

> 'या शिल्पशास्त्रादि पयो महार्हं
> संदुह्यते योजितबुद्धिवत्सैः ।
> वैज्ञानिकैर्विश्वहिताय शश्व-
> त्तां भारतीं कामदुघामुपासे ॥"

—वाङ्मयमहार्णवे ।

बारहवीं शताब्दी में, अर्थात् आज से कोई सात सौ बरस पहले, कन्नौज के राजा जयचन्द्र के समय में नैषधकार श्रीहर्ष राज-कवि थे। प्राय: इसी समय में दिल्ली के राजा पृथुराज अथवा राय पिथौरा की सभा में चन्द कवि हुए थे। इनकी कविता जिस प्राकृत में है, इसी को किसी प्रकार हिन्दी भाषा का एक पूर्व रूप कह सकते हैं। उस समय से आज तक सात सौ बरस में कितने ही परिवर्त्तनों के बाद आज खड़ी हिन्दी कुछ ऐसी उठ खड़ी हुई देख पड़ती है कि अब उसमें गद्य-पद्यात्मक साहित्य निकल चला है और आशा है कि इस भाषा के बोलने वाले और समझने वाले—जिनकी संख्या पाँच-सात करोड़ से ऊपर ही होगी—यदि ठीक प्रयत्न करें और शक्ति का व्यर्थ व्यय न कर उत्साहपूर्वक तन, मन, धन से लगें तो थोड़े ही दिनों में हिन्दी का साहित्य उपयोगी ग्रन्थों से पूर्ण हो जायगा। हिन्दी की जो दशा थी उसका वर्णन करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। यहाँ खड़ी या पक्की हिन्दी की वर्त्तमान दशा के विषय में ही कुछ कहने का उद्योग किया जा रहा है, जिससे इस भाषा ने क्या कर लिया है और क्या इसका कर्त्तव्य है, इस विषय का कुछ परिचय प्राप्त हो जाय।

अब पक्की हिन्दी एक ठिकाने की भाषा हो चली है। इस हिन्दी और उर्दू में प्रायः नाम ही मात्र का भेद है। हिन्दी बोलने वाले उर्दू-रूप-धारी हिन्दी को भी खूब समझ लेते हैं। और उर्दूवाले इसके हिन्दी-रूप को भी समझते ही हैं। इसलिए पंजाब से लेकर पश्चिमी बंगाल तक और तराई से लेकर नागपुर तक हिन्दू-मुसलमान आदि सभी जातियों की साहित्य-भाषा अर्थात् किताबी-भाषा हिन्दी ही है, चाहे घर में वे 'ऐली-गैली,' 'एल्युन-गेल्युन', 'आइछि-जाइछि,' 'आवत हौं-जात हौं', 'अलई-गलई' आदि कैसे भी शब्दों का व्यवहार करते हों। फिर भी अनेक कोटि बड़े-बड़े सभ्य और असभ्य मनुष्यों की जो यह किताबी-भाषा है इसकी आज कैसी दशा है यह यदि गुप्चुप-गुप्ता कह दिया

जाय तो कितने ही लोगों की आँखें खुल जायँगी, पर यदि उन आँखों में ज्योति होगी तो चारों ओर कुछ विलक्षण, बीभत्स, और नैराश्यजनक दृश्य देख पड़ेगा। इतने करोड़ मनुष्यों की भाषा, विशेषतः ऐसे मनुष्यों की भाषा—जिनमें से कितने ही बड़े लाट की सभा के सदस्य हैं और हाईकोर्ट के जज हैं तथा श्वेतद्वीप की पार्ल्यमेण्ट में भी बैठने का प्रयत्न कर रहे हैं और एक-आध पार्ल्यमेण्ट की सीढ़ियों तक पहुँच भी गए हैं—अभी ऐसी दशा में है कि इसमें अभी तक न तो एक भी छोटे से छोटा विश्व-कोष है, न सैकड़ों शास्त्रों में से एक-आध के अतिरिक्त किसी शास्त्र के ग्रन्थ ही हैं। जिन एक-आध शास्त्रों के ग्रन्थ हैं वे अभी बच्चों के खेल ही के सदृश हैं। अनेक कोटि बालकों की मातृरूपा जो यह भाषा है इसके तुच्छ भाण्डार में वैज्ञानिक और दार्शनिक आदि ग्रन्थों की चर्चा कौन करे, स्वतन्त्र उत्तम काव्य, नाटक आदि भी नहीं हैं। उपन्यासों की संख्या केवल कुछ बढ़ी-चढ़ी सी देख पड़ती है। पर इन उपन्यासों में न तो कोई नवीनता है, न कोई उपदेश है और न विशेष साहित्य के गुण ही हैं। कुछ थोड़ी-सी हाथ की गर्मी से गलने पर नाक में उड़कर लगने वाले और बेहोशी देने वाले मोतियों की और पाकेट में रखने लायक कमन्दों की कहानियाँ जहाँ-तहाँ भरी हुई हैं जिनसे पुलिस के मारे आज-कल चोरों का भी काम नहीं चल सकता।

साहित्य की अभी यही दशा है कि उपयोगी ग्रन्थ न तो पहले से बने हुए हैं और न आज ही कोई बनाने की चेष्टा कर रहा है। आगे की आशा कुछ की जाय तो किसके बल पर? कौन ऐसा सभ्य देश है जहाँ मातृभाषा में नये और पुराने तत्त्वों के अनुसन्धान के लिए और उत्तमोत्तम ग्रन्थों के निर्माण के लिए अनेकानेक संस्थायें आज लाखों, करोड़ों रुपयों के खर्च से नहीं स्थापित हैं? क्या भारतवर्ष अपने को सभ्य नहीं कहता है? क्या उत्तर भारत को लोग आर्यावर्त्त नहीं कहते आये हैं? यदि यह स्पष्ट विदित हो जाय कि अब आर्यावर्त्त घोर अविद्या के अन्धकार में रहने वाले अनार्यों की भूमि हो चली है तब तो फिर इस भूमि के वर्णन के समय अन्य सभ्य जातियों का नाम लेना बड़े भारी प्रायश्चित्त का काम होगा। पर यदि यह वही भूमि है जहाँ याज्ञवल्क्य, पाणिनि, आर्य्यभट, भास्कर आदि अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक हुए थे, और यदि वन्य-रुधिर का बहुत कुछ समावेश होने पर भी आर्य-रुधिर का कुछ भी अंश इस भूमि में रह गया है, तो इस भूमि के निवासियों को यह कह देना सभी देशहितैषियों का परम कर्त्तव्य है कि संस्कृत, हिन्दी आदि देशभाषाओं को जिस अवस्था में इन लोगों ने रखा है उससे किसी सभ्य जाति में ये मुँह दखाने लायक नहीं हैं। देश-भाषा में दर्शन-विज्ञान आदि के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के निर्माण के लिए यदि सौ सस्थायें भी भारत में होतीं तो भी यहाँ के मनुष्य अन्य सभ्य जातियों से कुछ बढ़े-चढ़े नहीं कहे जा सकते थे। परन्तु यहाँ तो एक भी ऐसी समिति नहीं है जहाँ वर्ष में दो-एक बार अच्छे-अच्छे विद्वान् एकत्र हों और विद्या-प्रचार, ग्रन्थ-निर्माण आदि के विषय में पूर्ण विचार कर आपस में कार्य बाँट कर अपने-अपने घर जायँ और

पुनः-पुनः सम्मिलित हो कर देखें कि उनमें से किसने कितना कार्य किया और जब इनके ग्रन्थ, व्याख्यान आदि तैयार हो जायें तो उन्हें प्रकाशित करने, पढ़ने, पढ़ाने आदि का पूर्ण व्यय से प्रबन्ध किया जाय। दो-चार नगरों में जो संस्थायें हैं, वे तो केवल सड़ी-गली, सौ-पचास बरस की दोहा-चौपाई की पोथियों के अन्वेषण में और टके की डिक्शनरियों के निर्माण में देश के समय, शक्ति, उत्साह और धन का व्यय कर रही हैं। और जो एक-आध सामयिक सम्मेलन हैं उन्हें भी न तो द्रव्य ही की सहायता है और न अभी कोई ऐसा मार्ग ही सूझता है जिससे सभ्यता की अभिमानवाली, हिन्दी बोलनेवाली, भारतीय जातियों में असली विद्या का प्रचार हो और घोर अविद्या का नाश हो।

अविद्या का कुछ ऐसा स्वभाव होता है कि जिन पर इसका बोझ रहता है वे इसे बड़ी प्रसन्नता से ढोते हैं और इसे महाविद्या के सदृश देवी समझकर पूजते हैं। कुछ तो ऐसा ही सभी बोझ ढोनेवालों का स्वभाव होता है। काल पाकर भारी से भारी बोझ भी हल्का ही जान पड़ता है। शरीर पर हजारों मन की वायु का बोझ इसी अभ्यास के कारण कुछ नहीं मालूम पड़ता। ऐसे ही अविद्या का बोझ भी अविद्या के भक्तों को कभी नहीं सताता। इस बोझे का एक और भी बड़ा भारी गुण है कि इसके भक्त इसकी गुरुता को नहीं समझते। इतना ही नहीं, कुछ दिनों में इससे बड़ा प्रेम करने लगते हैं। सुनने में आया है कि बेतिआ के पास कुछ ऐसी भूमि है जहाँ लोगों का गला बहुत फूल आता है। इस व्याधि को घेघा कहते हैं। उस अद्भुत भूमि के लोग बिना घेघा के मनुष्य को देख कर बहुत ही हँसते हैं और कहते हैं कि यह कैसे मनुष्य हैं जिनके गले में उठगनी नहीं है। ऐसे ही अविद्या के बोझ वाले वस्तुतः विद्या ही को व्यर्थ का बोझ समझते हैं और बिना अविद्या के पुरुषों को नास्तिकता आदि में पचते हुए समझते हैं। जिस भूमि के अधिकांश मनुष्य ऐसी अविद्या-व्याधि से पीड़ित हों, उस भूमि का सुधार सहज में नहीं हो सकता। ऐसी भूमि के सुधार में कितनी कठिनाइयाँ हैं वह तो उत्तर भारत के नेताओं को विदित ही है। अफीम की पिनक में समाधि का आनन्द लेनेवाले या साड़ी-घुँघरू पहन कर नाचने वाले महात्माओं के आराम के लिए बीस लाख का मन्दिर बनवा देना या तीर्थ के कौओं की प्रियतमाओं को ऋण करके भी पालने वाले बाबू लोगों के लिए सरायखाता बनवाने में करोड़ों खर्च कर देना यहाँ के लोगों के लिए आसान-सी बात है। पर विज्ञान की वृद्धि में ऐसे दुर्व्ययों का सहस्रांश भी निकाल लेना बड़े-बड़े वक्ताओं और नेताओं के लिये भी कठिन काम है। पर काम कठिन हो या सहज, जब छोटे-बड़े सभासम्मेलन आदि देश में हो रहे हैं और देशवाले अपनी सभ्यता के गौरव पर इतने जोर से चिल्ला रहे हैं तो आज उनका क्या कर्त्तव्य है यह हमें कहना ही पड़ेगा।

शिक्षा के तीन अङ्ग हैं—संग्रहाङ्ग, संघटनाङ्ग और कार्याङ्ग। जैसे प्राणिमात्र का यह धर्म है कि वह भोज्य पदार्थों को बाहर से अपने अङ्गों में रखता है और उनसे

अपने रुधिर आदि की पुष्टि कर फिर बड़े-बड़े कार्यों को करता है, वैसे ही प्रत्येक जीवित भाषा की प्राणरक्षा और बल-वृद्धि नवीन, प्राचीन और बाहरी विज्ञानों का संग्रह कर अपने शरीर में पचा लेने ही से हो सकती है। इसी बाह्य विज्ञान के संचय को संग्रहाङ्ग कहते है। बाहर से लाये हुए विज्ञानों को जब तक ठीक पचाया न जाय तब तक उनके संग्रह का कुछ फल नही। भात, दाल, पूरी, मिठाई आदि मुख के द्वारा पेट में जाकर पचें तभी बल को बढ़ा सकते हैं। इन्हें केवल माथे पर रख लेने से गिद्ध, कौओं के झुकने के अतिरिक्त और फल नहीं हो सकता। संगृहीत विज्ञानों को मुख के द्वारा पेट में पहुँचाकर उनसे हाथ-पैर आदि की पुष्टि करने को संघटनाङ्ग कहते है। हाथ-पैर आदि की पुष्टि होने पर फिर नये विज्ञान आदि का आविर्भाव करना, प्राचीन विज्ञानों से काम लेना—इसी को कार्याङ्ग कहते है। अभी विद्या का संग्रहाङ्ग तो कुछ-कुछ कितने ही समय से भारत में परिपोषित हो रहा है, पर और दोनों अङ्ग ऐसी हीनावस्था में है कि भारतीय शिक्षा को यदि इन दोनों अङ्गों की दृष्टि से सर्वथा विफल कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

अंग्रेजी शिक्षा भारत में खूब हो रही है इसमें कुछ सन्देह नही। पर यह शिक्षा भी वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों में ऐसी पूर्ण नही है जैसी काव्य-साहित्य आदि के अंशों में है। अंग्रेजी विज्ञान के जो भोज्य पदार्थ भारतवासियों के यहाँ आते भी है वे कही बाहर ही पड़े-पड़े बासी हो जाते है। भारत-सरस्वती का मुख संस्कृत है। इस मुख तक तो यह विज्ञान अभी पहुँचा ही नही है। जब तक मुख में नहीं पड़ेगा और मुखके द्वारा उपयुक्त होकर अङ्गों के सदृश, हिन्दी, बँगला, तामिल, मराठी आदि भाषाओं में बल नहीं पहुँचावेगा तब तक भारतीय शिक्षा का संघटनाङ्ग कैसे ठीक हो सकता है? ज्योतिर्गणित, दर्शन, वैद्यक आदि जो कुछ भारत-सरस्वती के मुख-रूप संस्कृत में थे, उन्ही के कारण तो कुछ बल और प्रतिष्ठा समस्त देश की जहाँ-तहाँ आज भी हो रही है। हिन्दी, बँगला आदि जो भारत-सरस्वती के हाथ-पैर है, इनके रगों और पुट्ठों में संस्कृत के रुधिर की ऐसी आवश्यकता है कि बिना उसके वैज्ञानिक और दार्शनिक शब्द ही बन नही सकते। एक अंग यदि कुछ शब्द गढ ले तो भी वह दूसरे अङ्गों के अनुकूल नही होता। इसलिये जैसे संग्रहाङ्ग के लिए अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता है वैसे ही संघटनाङ्ग के लिय संस्कृत की उन्नति की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में संस्कृत, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में शिक्षा-प्रचार का ऐसा आरम्भ होना चाहिए जिससे हमारे देश में भी विज्ञान का वैसा ही पूर्ण प्रचार हो जसा जर्मनी, इङ्गलैंड आदि अन्य देशों में हो रहा है। इस महायत्न के लिए बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की अपेक्षा है। पर सुनने में आता है कि विश्वविद्यालय तो ऐसे बनेंगे जहाँ बाहरी भाषाओं के पढ़ने से और माला सटकाने से प्रायः कुछ समय ही नही बाकी रहेगा जिसमें विज्ञान की चर्चा हो।

एसे बड़े कार्य में देश के जितने नेता है उन सबो को मन, वचन, कर्म से लग जाना चाहिए था। पर पार्ल्यमेंट म आसन खोजने से और मजहबी गाली-गलौज से कुछ भी समय बचे तब तो विचार देश क नेता इधर दृष्टि दें। जो हो, कार्य यही उपस्थित

है कि किसी सम्मेलन में विद्वानों को एकत्र कर एकबार अत्यन्त आवश्यक नियम ग्रन्थों की सूची बनाकर आपस में कार्य-भार बाँट कर जैसे हो सके—प्राण देकर भी—इन ग्रन्थों के निर्माण, प्रकाश और प्रचार के लिए, जिनसे हो सके वे यत्न करें। एक ऐसी सूची बहुत दिन हुए मैंने *काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा* को बाबू श्याम-सुन्दर दास के द्वारा दी थी। उससे कुछ भिन्न, परन्तु उसी प्रकार की सूची यहाँ आपके सामने भी उपस्थित करता हूँ। जहाँ तक हो सकता है इन ग्रन्थों के निर्माण और प्रकाश के लिए और भी यत्न हो रहे हैं। पर बड़े-बड़े सज्जन जो सम्मेलन में उपस्थित हैं, यदि वे इधर दृष्टि करेंगे तो सम्भव है कि कार्य में शीघ्र अच्छी सफलता हो।

प्रायः सौ विषयों की सूची आगे दी हुई है। इन विषयों पर छोटे-बड़े ग्रन्थ बनें और उनके प्रकाश और प्रचार के लिए पूर्ण प्रबन्ध किया जाय तो देश का बड़ा उपकार हो।

१. ज्योतिर्विद्या
२. भूगर्भ शास्त्र
३. भूस्थिति
४. सागर-स्थिति
५. प्राचीन उद्भिद
६. प्राचीन प्राणी
७. उद्भिद् शास्त्र
८. प्राणि शास्त्र
९. प्राचीन तत्त्व-संग्रह
१०. मनुष्य शास्त्र
११. मनुष्य-जाति शास्त्र
१२. ध्वनि शास्त्र
१३. प्रभा शास्त्र
१४. ताप शास्त्र
१५. अयस्कान्त शास्त्र
१६. विद्युत् शास्त्र
१७. यन्त्र शास्त्र
१८. औषध वैद्यक
१९. शल्य वैद्यक
२०. स्वास्थ्य शास्त्र
२१. पशु वैद्यक
२२. अस्थि-विभाग
२३. शरीर शास्त्र
२४. अंक-गणित
२५. बीज-गणित
२६. क्षेत्र-गणित
२७. कोण-गणित
२८. कलन-गणित
२९. त्रिकोणमिति
३०. हार्दनिक-गणित
३१. भेक्टर-गणित
३२. गति-गणित
३३. स्थिति गणित
३४ भाव शास्त्र
३५. आचार शास्त्र
३६. न्याय शास्त्र
३७. रेखा-गणित
३८. नीति शास्त्र
३९. अर्थ शास्त्र
४०. व्यवहार शास्त्र
४१. समाज शास्त्र
४२. ईश्वरवाद
४३. धर्म-परीक्षा
४४. मनस्तत्त्व

४५. सत्परीक्षा
४६. ज्ञान-परीक्षा
४७. पाक-विद्या
४८. कृषि-विद्या
४६. वपन-विद्या
५०. वास्तु-विद्या
५१. नाद-विद्या
५२. रञ्जन-विद्या
५३. आलोक-चित्रण
५४. उत्करण-विद्या
५५. मूर्त्ति-विद्या
५६. आयुध-विद्या
५७. मल्ल-विद्या
५८. नाट्य-विद्या
५६. जलयान-विद्या
६०. स्थलयान-विद्या
६१. वायव्ययान-विद्या
६२. खनि-विद्या
६३. जीविका-भेद
६४. क्रीड़ा-भेद
६५. समय-निर्णय
६६. भारत का इतिहास
६७. इङ्गलेंड का इतिहास
६८. अमेरिका का इतिहास
६६. आष्ट्रिया का इतिहास
७०. फ्रांस का इतिहास
७१. जर्मनी का इतिहास
७२. ग्रीस का इतिहास
७३. इटली का इतिहास
७४. नेदरलेंड का इतिहास
७५. पुर्त्तगाल का इतिहास
७६. रोम का इतिहास
७७. रूस का इतिहास
७८. जापान का इतिहास
७६. स्पेन का इतिहास
८०. टर्की का इतिहास
८१. चीन का इतिहास
८२. भाषा-तत्त्व
८३. लिपि का इतिहास
८४. व्याकरण-तारतम्य
८५. संस्कृत साहित्य
८६. भारत का साहित्य
८७. अरब का साहित्य
८८. फारस का साहित्य
८६. ग्रीस का साहित्य
६०. रोम का साहित्य
६१. अंग्रेजी साहित्य
६२. जर्मन साहित्य
६३. फ्रांस का साहित्य
६४. इटली का साहित्य
६५. रूस का साहित्य
६६. स्पेन का साहित्य
६७. चीन का साहित्य
६८. जापान का साहित्य
६६. वाणिज्य
१००. अलङ्कार

हिन्दी में विश्वकोष की अपेक्षा

आज प्रायः सभी सभ्य जातियों में विश्वकोष वर्तमान है। अंग्रेजी में तो एक रुपये से लेकर पाँच सौ तक के विश्वकोष देखे जाते हैं। जर्मन, फ्रांसीसी आदि भाषाओं में भी ऐसा ही है। पर भारत में जहाँ कम से कम दस करोड़ मनुष्य हिन्दी बोलते और समझते हैं, हिन्दी में अभी एक भी विश्वकोष नहीं है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (अंग्रेजी विश्वकोष) की उम्र आज सौ वर्ष से अधिक हो चुकी है। इसका सबसे पहला जन्म तीन जिल्दों में हुआ था। विकसित होते-होते आज यह उन्तीस जिल्दों की मूर्त्ति धारण किये बैठा है।

'कालिदास कौन थे' या 'आरा नगर की जन-संख्या कितनी है' यह देखना हो तो भारतीयों को इसी कोष में ढूँढना पड़ता है या इसी के बच्चों से काम चलता है। हिन्दी मात्र जानने वाले इन कोषों में हाथ नहीं दे सकते। इसलिए उन्हें इन बातों का पता लगाना कठिन होता है। भाषान्तर जाननेवाले हिन्दी भाषाभिज्ञों का धर्म था कि वे प्रत्येक विज्ञान की कम से कम एक पुस्तिका अपनी मातृभाषा में बनाने की चेष्टा करते और साथ ही एक विश्वकोष भी तैयार करते, जो कि सब विज्ञान, दर्शन आदि का भाण्डागार होता। दो सौ रुपये महीने के व्यय से एक उत्तम मासिक पत्र निकल सकता है, जिसमें क्रम से वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक आदि प्रबन्ध और एक उत्तम विश्वकोष के खण्ड क्रम से ही निकल सकते हैं। क्या दो सौ रुपये महीना देनेवाले भी आदमी या एक रुपया महीना देनेवाले दो सौ आदमी हिन्दी भाषा-भाषियों में से नहीं मिलेंगे कि जिससे यह कार्य चल निकले? यदि इतना भी नहीं हो सकता, तो हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने किस भरोसे चले हैं! विश्वकोष जैसे कार्य में कुछ सहायता बड़ोदा आदि की देशभाषोन्नति के लिए स्थापित पूँजियों से भी मिल सकती है। हिन्दीभाषियों में बी० ए०, एम्० ए० आदि उपाधिवाही भी बहुतेरे हैं। जरा-सा ये लोग चित्त दें, तो विश्वकोष का कार्य शीघ्र चल निकले।

यदि कमी है तो एक बात की। बड़ी सभा, सम्मेलन आदिकों ने अभी इस ओर अपना ठीक चित्त नहीं दिया है और हिन्दी के बड़े नायकों ने भी इधर दृष्टिपात नहीं किया है। बहुत-से कार्य भारत में हो रहे हैं, जिनमें कितने अपेक्षित हैं और कितने ही अनपेक्षित हैं, पर पुस्तक-निर्माण का कार्य बहुत ढीला-सा चल रहा है। साधारण छोटी पुस्तकें भी देशी भाषाओं में ठिकाने की नहीं मिलती, तो विश्वकोष की फिर क्या कथा। विश्वकोष की ओर अभी तक केवल बङ्गाली भाइयों की दृष्टि पड़ी है। एक बङ्गीय विद्वान् ने बड़ी कठिनाइयाँ झेलकर जैसे तैसे एक छोटा-मोटा विश्वकोष तैयार किया है। पूरी सहायता न मिलने से बँगला विश्वकोष उत्तम नहीं बना है।

पर नहीं से तो अच्छा है। जिस भाषा में उत्तम से उत्तम साहित्य मिलता है, उसी के राष्ट्र-भाषा पद पर पहुँचने की आशा की जाती है। यदि हिन्दी वाले अपनी भाषा को कभी इस पद पर पहुँचाने की आशा रखते हैं तो अंग्रेजी आदि अत्युन्नत भाषाओं के बराबर नहीं तो बँगला के बराबर तो अपनी भाषा को बढ़ाने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

जिस भाषा में विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि के स्वतन्त्र उत्तम निबन्ध नहीं, प्राचीन या वैदेशिक आकर-ग्रन्थों के अनुवाद नही, दो एक उत्तम छोटे-बड़े विश्वकोष नहीं, उस भाषा को अपनी मातृभाषा कहने वालों को तो लज्जा के मारे तब तक सभ्य जगत् में मुँह नहीं दिखाना चाहिये और अपनी भाषा के विषय में शेखी नहीं छाँटनी चाहिये, जब तक वे अपने प्रयत्नों से अपनी मातृभाषा के इन कलंकों को दूर न कर लें। आज यदि हिन्दी भाषा वाले एक बहुत बड़ा विश्वकोष भी तैयार कर लें तो उन्हें उस यश का लाभ नहीं हो सकता है जो कि इस कार्य के अग्रणी पाश्चात्य भाइयों को मिला है, क्योंकि एक नया काम करने में पाश्चात्यों का बड़ा परिश्रम और व्यय हुआ है। हाल में अंग्रेजी विश्वकोष के अन्तिम संस्करण में भी करोड़ों रुपये व्यय हुए हैं और पन्द्रह सौ वैज्ञानिक तत्त्वदर्शी ऋषियों का परिश्रम लगा है। इस महासंहिता के भारत में आ जाने से और सैकड़ों वर्ष से आंग्ल-शिक्षा के प्रचार होते आने से भारतीय विद्यार्थियों को एक छोटी-मोटी विश्वसंहिता बनाने में अब बहुत प्रयत्न और बहुत व्यय की अपेक्षा नही है। हमें तो जहाँ-तहाँ से अनुवाद करके एक संहिता बना लेनी है। पर भारतीय देवताओं की आलस्य-निद्रा ऐसी गहरी है कि इनसे पाश्चात्य ऋषियों के देखे हुए तत्त्वो का अनुवाद मात्र हो जाय और एक विश्वकोष के आकार का संग्रह भी बन जाय, तो इस भाग्यहीन भूमि का फिर भाग्य पलटता हुआ समझा जाय। हे साहित्यसम्मेलन के सभ्य और तमाशबीन महाशयगण! उदार भाव से शीघ्र एक उत्तम हिन्दी मासिक पत्र निकालिये, जिसमें प्रति मास खण्डशः एक बड़ा विश्वकोष, एक संक्षिप्त विश्वकोष और वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों के अंश निकलते जायँ। आप लोग आज उसी देश में साँस ले रहे हैं, जहाँ हजारों ऋषियों के बनाये हुए मंत्रो का संग्रह वैदिक संहिताओं में हुआ था, जहाँ शतपथ ब्राह्मण आदि का आविर्भाव हुआ था, जहाँ भारत के युद्ध हो जाने के बाद कलि में भी महाभारत के सदृश पञ्चम वेद या अति प्राचीन विश्वकोष का निर्माण हुआ था। इसी भारतभूमि में हजारों-हजार मुनि लोग पौराणिक संहिताओं को सुनते थे और उसके प्रचार में लगे रहते थे। आज भी इन्हीं लोगों के प्रताप से बिचारे कथकों की कथाओं से राम, युधिष्ठिर आदि ऐतिहासिक नाम या मङ्गल, बृहस्पति आदि ज्योतिष के नाम घर-घर विदित हैं। धिक्कार है हम नवसिखुओं को कि सैकड़ों वर्षों से हम अलिकचन्द्र, नयपाल्य आदि की कथाओ को रटते-रटते रह गए, पर आज तक वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक आदि नाम भी हमारे द्वारा हमारी कहानियों से,

हमारे लेखों से, हमारे लेक्चरों से और हमारी गप्पों से हमारे भाइयों में गली-गली विदित नहीं हुए। अशिक्षितों की कौन कहे, बड़े-बड़े पण्डितों और ग्रेजुएटों की भी प्रायः ऐसी दशा बनी हुई है कि, उनमें रामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र, यन्त्र, सामुद्रिक, वैद्यक, ज्योतिष आदि की बातें जिस प्रकार साधारणतः भारत में विदित हैं उसी प्रकार साम्प्रतिक इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि के तत्त्व अभी तक विदित नहीं हुए। यह अपराध किसका जिससे यह अज्ञान आज तक चला जा रहा है, और वह गुण किसका जिससे प्राचीन तत्त्वों का आज भी अप्रतिहत प्रचार चला जा रहा है? यह अपराध उन स्वार्थियों का जो विद्या केवल नौकरी के लिए पढ़ते हैं, और टके की नौकरी पा कर मुँह फुलाये या नौकरी भी न पाकर मुँह बनाये बैठे रहते हैं। वह गुण उन महात्माओं का जो पहले भी विद्या के लिए विद्या पढ़ते थे और आज भी उसी प्रथा को जैसे-तैसे चला रहे हैं। दूर पश्चिम विलायत में अथवा दूर पूरब जापान आदि में महा-पण्डितों की व्यवस्था के डर से आप नहीं जाते हैं। पर वङ्ग-देश में तो —

"अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमहाघेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥"

इत्यादि पवित्र वाक्यों के रहने पर भी कुली से लेकर वकील के काम तक करने को पहुँचते हैं। क्या वङ्गीय विद्वानों को देख कर भी कुछ उत्साह नहीं होता, कुछ लज्जा नहीं आती? हिन्दी बोलने वाले अगर डिप्टी-कलक्टर, डिप्टी सुपरिंटेंडेण्ट या कलक्टर हो गये या कम से कम वकालतखाने में मक्खी भी मारने लगे तब तो इन्हें पढ़ी-लिखी हुई बातों के भूल जाने के अतिरिक्त और किसी काम के लिए समय ही नहीं मिलता और जिन बेचारों को नौकरी-चाकरी, धन-दौलत नहीं है उन्हें पेट का ही बहाना है। अब रह गये बीच-बीच वाले एडिटर आदि जो थोड़ी बहुत हिन्दी सेवा कर रहे हैं। पर वङ्गीयों में देखो तो बंकिम बाबू, आर० सी० दत्त आदि डिपटी कलक्टरी से लेकर कमिश्नरी तक करते थे। वे तो हिन्दी वाले मिस्टरों के सदृश केवल अधिकार-कीट नहीं थे। उन्होंने देश की बहुत कुछ सेवा की। साथ-साथ आफिस का काम भी उनका ठिकाने से ही चलता था और नौकरी में भी हिन्दीवालों से कुछ कम तरक्की उनकी नहीं हुई। आजकल के बेचारे विश्वकोष आदि लिखने वालों या कितने और साहित्यसेवी वङ्गीयों की दशा देखिये। उन्हें न तो तो नौकरी का ही बल है और न घर का कुछ धन है, तथापि वे कितना काम कर रहे हैं! न अधिकार के बहाने फूले हैं और न पेट के बहाने मुँह बनाये बैठे हैं। रात्रिन्दिव देश की सेवा करते-करते अधिकार में, विज्ञान में, धन में, उत्साह में, शिल्प में, वाणिज्य में यदि आज वे कम हैं तो बाहरी लोगों से कम हैं, भारत के किसी प्रान्तवासी से कम नहीं हैं। इन लोगों से भी तो विद्या का प्रेम सीखो। कुछ काम आरम्भ करो, सभा, समाज, लेक्चर, बक-बक आदि सभी अच्छा लगता है, जब कुछ काम आरम्भ हो।

जब कहीं सम्मिलित होते हो, तो दस-बीस आदमी मिल कर आपस में काम बाँटो। तमाशबीनों में बहुत से ईमानदार आदमी भी आते हैं। उनसे द्रव्य-संग्रह करो। बाहरी राजे-महराजे, वकील-मुखतार, सुखतार आदि से भी उनके सेंत के पैसे में से कुछ लो। साल के अन्त में फिर मिलो, तो आपस में यह पूछ-ताछ करो कि, किसने कितना काम किया। खाली वोट में हाथ उठाने से क्या होगा। हाथ-उठाई की सभायें तो देश में बहुत सी मौजूद ही हैं। बड़े प्रारम्भ से असली कार्य आरम्भ होना चाहिए। दस-बीस मनुष्य-भी हाथ-उठाई आदि में विशेष श्रद्धा न रख कर असली कार्य्यों का आरम्भ कर दें तो दस-बीस वर्षों में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका से तिगुने आकार की एक महासंहिता देश में महिषमर्दिनी भगवती के सदृश उठ खड़ी हो और अज्ञानरूपी महिष का कहीं पता न रहे और विलायती या जापानी साहित्य से बढ़ कर नहीं तो बराबर गौरव का साहित्य-पूर्णचन्द्र देश में उदित हो जाय जिससे मोहदम्म की तामसी सन्ध्या देश को छोड़ कहीं दूर पलायित हो पड़े।

हिन्दी में उच्च शिक्षा

सभी सभ्य देशों में आज शिक्षा का प्रचार देश ही की भाषा में हो रहा है। वैदेशिक भाषा में शिक्षा का प्रचार कदाचित् भारत के ही सदृश दीन-हीन देशों में होता होगा। वैदेशिक भाषा सीखने के लिए कम से कम दस वर्ष समय लगता है, तथापि उस भाषा के बोलने या लिखने में वैसा कौशल नहीं होता है जैसा कि अपनी भाषा में प्रायः अनायास ही हो जाता है। कहा जाता है कि जिस भाषा में आदमी सोच न सके, जिसमें आदमी सपना न देखे उस भाषा को अपनी भाषा नहीं कह सकते। ऐसी भाषा में चाहे कितनी शिक्षा हो, हृदय नहीं खुलता है। यही कारण है कि चिरकाल से भारत म ज्ञान-विज्ञान का रास्ता बंद है। नये आविष्कारों की तो कौन कहे, जितना ज्ञान-विज्ञान दुनिया में आविर्भूत हो रहा है उसका भी आसानी से प्रचार भारत में नहीं हो पाता। देशवाले बेचारे वैदेशिक भाषा सीखने में यौवन की शक्ति गँवा कर, बस्ता बाँध कर कचहरी जाने के समय, जो कुछ थोड़ा बहुत पढ़े-लिखे रहते हैं, उसे तिलाञ्जलि देने का प्रबन्ध कर लेते हैं। करें क्या? जहाँ जाना है, जहाँ से रोटी का प्रबन्ध होगा, वहाँ विद्या का उपयोग नहीं। एकाध यदि रोटी पर अधिक ध्यान न दे कर इम्तहान पास करने के बाद भी पढ़ने-लिखने की चर्चा जारी रखने लगे तो बेचारे संस्कृत-हिन्दी आदि देश-भाषाओं में लिखने आदि की शक्ति नहीं रहने के कारण पुरानी कथाओं के अंग्रेजी अनुवाद में भिड़ जाते हैं और ऐसे कार्यों से कुछ उपाधि वगैरह हासिल कर लेते हैं। इस तरह इन दो प्रकार के देशी लोगों से तो देश में ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि की ओर एक रत्ती भी सहायता नहीं मिलती। अब बचे विदेशी लोग। यहाँ आने पर इन लोगों की भी यहाँ के जलवायु के कारण या न जाने क्यों बड़ी अपूर्व दशा हो जाती है। जैसे भारत के शहरों में धूलि-दुर्गन्ध आदि से इनकी नाक पर कोई असर होता हुआ न देख कर मालूम पड़ता है कि यहाँ के जलवायु से इनकी बाहरी इन्द्रियों की शक्ति कुछ नष्ट सी हो गई है, वैसे ही इनके अनेक कार्यों से जान पड़ता है कि इनकी मानस-शक्ति भी यहाँ आने ही से दूषित हो जाती है। जिन लोगों ने देश पर रजआ आदि वैज्ञानिकों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ निकाले हैं वे ही यहाँ भूत-प्रेत पिशाच आदि पर लेक्चर देते हुए और भोले-भाले लोगों से चन्दा वसूल करते हुए पाये जाते हैं। भारत में दो-तीन हजार वर्ष के पुराने गड़े हुए मुर्दों या मुर्दमाली चीजों को खोद निकालना और उनके ऊपर अनेक गप्पें छाँटना, यही आजकल मुख्य विज्ञान हो रहा है और भीष्म आदि का प्रेत टेबुल पर बुलाना यही दर्शन हो रहा है। जहाँ देशी-विदेशी सब लोगों में ऐसी कुबुद्धि जाग

रही है उस देश में प्लेग और दुर्भिक्ष का प्रत्यक्ष नरक प्रजाओं को अपने गर्भ में निगलता हुआ क्यों न हर साल देख पड़े ? यह सब दशा असली ज्ञान और विज्ञान के अभाव से है। पचीस-तीस वर्ष मे दुनिया भर का ज्ञान और विज्ञान जापान ने अपनी भाषा में संगृहीत कर लिया। इसके लिए जापान को अनेक कष्ट उठाने पड़े हैं; हजारों व्यक्तियों को यूरोप जा-जा कर रहना पड़ा है। पर भारत में कई सदियों से यूरोप सिर पर गड़गड़ा रहा है; तो भी यहाँ साधारण ज्ञान-विज्ञान का संग्रह आज तक देशीभाषाओं में नहीं हुआ और शिक्षा में उसका निवेश भी नहीं हुआ। विचारणीय यह है कि यदि एक हजार आदमियों को विलायत से एक-एक सुई लानी हो तो प्रत्येक जा-जा कर अपने लिए सुई लावे या एक ही जा कर एक हजार सुई ला कर सब को दे दे। वैसे ही यहाँ सब ज्ञान-विज्ञान का अनुवाद कर दस-बीस आदमी देश-भाषाओं में उसका प्रचार कर देते ऐसा न कर प्रत्येक व्यक्ति वैदेशिक भाषा पढ़ कर अपने लिए ज्ञान-विज्ञान के लाभ का यत्न करता है। इस पर कितने लोग यह कहते हैं कि देश-भाषाओं में शिक्षा होने से यूरुपीय विज्ञान का यहाँ प्रचार बन्द हो जायगा। कितने यह भी कहते हैं कि अंग्रेजी न पढ़ेंगे तो कैसे अंग्रेजी-विज्ञान यहाँ अपनी भाषा में ला सकेंगे। ये लोग सर्वथा अपना चरित्र भूल रहे हैं। पढ़ते तो हैं जीविका के लिये या खेल के लिये और झूठ ही कहते हैं कि हम ज्ञान-विज्ञान का अनुवाद करेंगे। हमलोग अंग्रेजी पढ़ना सर्वथा बन्द नहीं करना चाहते। केवल इतना ही चाहते हैं कि अंग्रेजी में ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद कर यहाँ प्रचार करने के लिये भी सौ-पचास आदमी हर साल अंग्रेजी पढ़ा करें, न कि केवल नई कमाई करने के लिये या बाप-दादे की कमाई गँवाने के लिये। ऊँची-नीची सब शिक्षा देश की भाषाओं में हो। अभाव है पुस्तकों का, पर मुँहा-मूँही देखने से कुछ भी नहीं होगा। किसी देश में ग्रन्थ बनने तक वैदेशिक भाषा में शिक्षा नहीं होती थी। देश-भाषाओं में शिक्षा होने के कारण स्वयं ग्रन्थ बनते गये हैं। जब तक बाहर से काम चलता जायगा घर की भाषाओं में ठिकाने से किताब कभी नहीं बनेगी। बाजारू बिसकुट खानेवाले घर में रसोई बनाना नहीं सीख सकते।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है। शिक्षा प्राथमिक तथा उन्नत देश-भाषाओं में क्यों नहीं हो रही है और किसके करने से होगी? कितने लोग समझते हैं कि यह सरकार का दोष है कि शिक्षा देश-भाषाओं में नहीं हो रही है। बहुत-से लोग समझते हैं कि जनता का दोष है। वस्तुत. यह सब दोष न तो सरकार का है न जन-समाज का। शिक्षा का विषय ऐसा जटिल है और इसमें सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विषय ऐसे मिलते हुए हैं कि सरकार से तो इसका पूर्ण सुधार हो ही नहीं सकता है। बाकी बची जनता, सो उस बेचारी को तो नायक लोग जैसा कहते हैं वैसा करती है। सवेरे नाक बन्द करने के अनन्तर थोड़ी प्रार्थना कर लेने के बाद अध्ययन के लिए कोई मेम साहिबा स्कूल बनवावे तो उसके लिये लाखों रुपये और सैकड़ों बीघे जमीन देने के लिये यहाँ

लोग तैयार हैं। कोई एकाध गुरुकुल या ब्रह्मचर्य्याश्रम खोल दे तो उसमें भी सहायता देने को हमलोग, तैयार हैं। कोई हिन्दु या मुसलमानी विश्वविद्यालय बने तो उसमे भी हम लोग मुँह नहीं मोड़ने वाले हैं। पर साथ ही साथ यह भी खयाल रहे कि जनता अशिक्षित है, शिक्षित होती तो उसे उपदेश की जरूरत ही नहीं होती। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक ढंग पर स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि सभी बन रहे हैं पर सभी में वैदेशिक भाषा ही में मुख्य शिक्षा का प्रबन्ध रखा जा रहा है। जनता बेचारी अज्ञ होने के कारण कुछ बोल नहीं रही है। सब करामात समाज के थोड़े से नेताओं की है। ये लोग जिधर चाहें सरकार को भी नचा रहे हैं और जनता को भी घुमा रहे हैं। ये यदि अनिवार्यभाव से देश में शिक्षा-प्रचार का प्रबन्ध करना चाहें तो दस-बीस वर्षों में देश-भाषाओं में सब प्रकार के ग्रन्थ भी बन जायँ और सब प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध भी हो जाय।

हिन्दी की उन्नति और प्रचार

देश और देशभाषा के भक्त बहनो तथा भाइयो ! हिन्दी साहित्य की उन्नति और हिन्दी भाषा के प्रचार पर विचार करने के लिये आज सातवीं बार आप सम्मिलित हुए हैं। इस कार्य में पं० मदनमोहन मालवीय और बाबू श्यामसुन्दर दास आदि महोत्साही देश-सेवक और हिन्दी के प्रेमी आपके नेता हो चुके हैं। इस वर्ष भी सरस्वती के प्रौढ़ सेवक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, साहित्य-समुद्र में सेतु बाँधने वाले श्यामविहारी मिश्र, विश्वकोष के खजाञ्ची बाबू नगेन्द्र नाथ बसु, गीता-रहस्य को हिन्दी में सुलभ करने वाले पं० माधवराव सप्रे, बंगीय हिन्दी-सेवक बा० शारदाचरण मित्र आदि हिन्दी-मातृक प्रान्तों के तथा अन्य प्रान्तों के हिन्दी-सेवी सुजनों में से किसी एक को आप अपना नेतृत्व दे सकते थे। मेरी अयोग्यता ऐसी स्पष्ट है कि इसे समझने के लिये बहुत अनुसन्धान की अपेक्षा न थी, तथापि अखबार वाले लाल-बुझक्कड़ों ने बड़े परिश्रम के साथ इस अयोग्यता का उद्घाटन किया, जिसके लिये उन्हें अनेक धन्यवाद हैं। पर ऐसी घटना आ पड़ी कि जिस प्रकार किसी बड़े उद्यान में अनेक अद्भुत वनस्पतियों पर न जा कर देखनवालों की दृष्टि नवजात अंकुर ही पर प्रणयबद्ध हो जाय, उसी प्रकार आपकी दृष्टि उपर्युक्त महानुभावों की महती देश-सेवा और देशभाषा-प्रेम पर न जमी और मेरी हृदय-भूमि में हिन्दी के लिये जो प्रेमांकुर है उसी पर लुब्ध हो गई। एक गुणाढ्य की एक बृहत्-कथा के स्मरण से बिहार के महाकवि बाणभट्ट की जिह्वा भीतर खिंची जा रही थी और कविता में प्रवृत्त होना नहीं चाहती थी। अब कहिये, अनेक गुणाढ्यों की अनेक लम्बी कहानियों का स्मरण करता हुआ आपका यह बिहारी सेवक कैसे अपनी जिह्वा * हिलावे ? बाण हर्ष की भक्ति से हर्षचरित में प्रवृत्त हुए। मैं भी आप हिन्दी-सेवियों में भक्ति के कारण सहर्ष इस उत्साह के अवसर में सम्मिलित होता हूँ। मेरे द्वारा बिहार प्रान्त की विनीत सेवा आप लोग स्वीकार करें। बिहार की प्राचीन मागधी का नाम तो फूहड़ है, वहाँ के लोग भी 'हाथी आती है', 'छड़ी अच्छा है' इत्यादि गँवारू बोली बोलनेवाले हैं; तथापि यह मागधी केवल मागधी नहीं थी, समस्त भारत की राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा थी और साम्प्रतिक हिन्दी की मातृदेवी है। इस सम्बन्ध

---

* आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि ।
जिह्वान्तःकृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्त्तते ।।
तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः ।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम् ।।

हर्षचरितोपक्रमे ।

का खयाल रखते हुए आप विहार पर प्रेम रखते हैं और इसकी विनीत सेवा आपको अवश्य स्वीकृत होगी।

कर्त्तव्य के अनेक भेद हैं। कुछ काम ऐसे हैं, जो इच्छा के प्रतिकूल करणीय होते हैं, जिनका साधन एक भयानक दण्ड-सा मालूम होता है। कुछ कार्य ऐसे हैं, जिनका साधन उदासीन बुद्धि से किया जाता है और केवल बाहरी फल के लिये ही एसे कार्यों म मनुष्य पड़ता है। कुछ कार्य ऐसे हैं जनके साधन के साथ-साथ फल का भी लाभ होता जाता है और ऐसे कार्यों में मनुष्य बड़े उत्साह से पड़ते हैं। देश-देशान्तरों से आये हुए सज्जनों का समागम एक ऐसा ही कार्य हैं जिसके साधन में अत्यन्त उत्साह होता हैं और बाह्यफल की अपेक्षा न रख कर कार्यारम्भ के समय ही से चित्त आनन्दित होता जाता है। प्रति वर्ष ऐसा अवसर एक बार आता है जिसमें आप सज्जनों का सम्मेलन होता है, तथापि यह समागम ऐसा रमणीय है कि प्रति वर्ष नवीन ही सा जान पड़ता है। माघ कवि ने कहा है—"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।"

पचीस-तीस वर्ष पहले अंग्रेजी फीट-फाटवाले बाबू तथा संस्कृत के प्रचण्ड पण्डित दोनों ही हिन्दी भाषा की ओर संकुचित दृष्टि से देखते थे। लैटिन, ग्रीक आदि आकर भाषाओं के प्रेम में विह्वल यूरोपवाले भी अंग्रेजी, फरासीसी, जर्मन, इटालियन आदि नवीन देश-भाषाओं पर पहले ऐसी ही कुदृष्टि रखते थे; पर विज्ञान के विकास के साथ जब पुरोहित और किरानी आदि से उतर कर कृषीवल, शिल्पी, सौदागर आदि में विद्या पसरने लगी और शिक्षा का असली अर्थ तथा उपयोग लोग समझने लगे, तब समाज के नेताओं की बुद्धि सुधरी और समाज-शिक्षा का मुख्य द्वार देश की प्रचलित भाषा ही हो सकती है, यह बात सबको झलकने लगी। जब से संस्कृत के परिचय से यूरोप में निर्वचन-शास्त्र का आविर्भाव हुआ, तब से देश-भाषाओं का गहन परिचय बढ़ा और उनका मूल्य आकर-भाषाओं के बराबर व्याकरण-साहित्य की दृष्टि से भी होने लगा। अब तो अक्सफर्ड, कामब्रेज आदि बड़े विश्वविद्यालयों में प्रचलित भाषाओं का अद्भुत वैज्ञानिक प्रणाली पर अध्यापन होता है। भारत में भी अब अवस्था बदलने लगी है। शिक्षाधिकारियों की अभी पूर्ण दृष्टि तो इधर नहीं है तथापि अब देश-भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन-अध्यापन की ओर प्रवृत्ति जनोद्योग से कुछ काल में हो चले तो आश्चर्य नहीं। विश्वविद्यालयों से कुछ थोड़ी बहुत सहायता आप को इस कार्य में भले ही मिल जाय पर वस्तुतः नागरी-प्रचारिणी सभा, विज्ञान-परिषद्, साहित्य-सम्मेलन तथा हिन्दी के पत्रों और पत्रिकाओं पर ही यह कार्य निर्भर है। अपने गुणों से तथा सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र आदि महाकवियों की अपूर्व प्रतिभा से हिन्दी केवल भारत में ही नहीं, द्वीपान्तरों में भी माननीय हो रही है। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी हो ही रही है, थोड़े दिनों में महोत्साह मारवाड़ी भाइयों के सुव्यापक वाणिज्य आदि से रङ्गून, लन्दन, और नवार्क में भी इसका प्रचार होना दुर्घट नहीं दीख पड़ता।

मुझे जहाँ तक स्मरण है, आपके सुयोग्य सभापतियों ने तथा अन्य व्याख्याताओं ने सम्मेलन के भूतपूर्व अधिवेशनों में हिन्दी-साहित्य का इतिहास कह सुनाया है; इधर एक बड़ा इतिहास प्रकाशित हो भी चुका है। इसलिये यहाँ इस विषय पर काल बिताना व्यर्थ है। आप अपने साहित्य को भारतीय अन्य भाषाओं के साहित्यों से तथा वैदेशिक साहित्यों से मिलाकर देखें एवं स्वतन्त्र विचार भी करें कि आप के साहित्य में किन बातों की पूर्ति अभी नहीं हुई है। और उनकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है। भारतीय महाकवि वाल्मीकि, व्यास आदि की अपूर्व शक्ति से जगत् में रामायण, महाभारत आदि अद्भुत महाकाव्यों का आविर्भाव हुआ। संस्कृत साहित्य का एक विशेष धर्म यह है कि प्रायः सारा जगत् इसका ऋणी है, पर यह अभी किसी देश के साहित्य का ऋणी नहीं है। यह गुण बढ़ते-बढ़ते आज दोष भाव को प्राप्त हो रहा है। और संस्कृत में बाहरी साहित्य से सहायता न लेने से इस समय नये-नये अच्छे ग्रन्थ नहीं बन रहे हैं। अस्तु, जो कुछ हो, हमारे तुलसी बाबा और सूरदास आदि हिन्दी के कवियों ने मौलिक संस्कृत साहित्य सागर से ऐसे रत्न निकाले हैं कि आज यदि संसार की समस्त कविता जल जाय तो भी एक मानस रामायण ही से केवल भारत ही नहीं समस्त भूमण्डल कृतार्थ रहेगा। हमारे यहाँ कविता का अभाव नहीं है। देश के ही धन से भण्डार खूब भरा है। इस भण्डार की पूर्ति सभा-समाजों के द्वारा हो भी नहीं सकती। काव्य सिद्धवाङ्मय है। रससिद्ध कवीश्वरों के द्वारा काव्य सुवर्ण की घटना साधारण जडी-बूटियों से हुआ करती है। लाखों के प्रयत्न से, कोटियों के व्यय से ऐसी घटना साध्य नहीं है। चारों ओर की प्राकृत अवस्था के अनुसार ऐसे सिद्धों का जन्म होता है। अवस्थानुकूल ही रस-प्रवाह भी देश में उमड़ता है। अच्छी दशा में शृंगार के या वीर के तरंग उठते हैं। मध्यम दशा में रौद्र के झकोरे उठते हैं या करुणा का आपूर चढ़ता है, गिरी दशा में हास्य और बीभत्स की बढ़ती होती है। मम्मट ने ठीक कहा है कि काव्य के लिए स्वाभाविक शक्ति, लोक-शास्त्र, काव्य आदि देखने से निपुणता और काव्यज्ञ की शिक्षा इन तीन बातों की अपेक्षा है। इन तीनों में मुख्य शक्ति है जो बनावटी हो ही नहीं सकती—वही प्राकृत अवस्था के अधीन है और इस अवस्था पर किसी एक समाज का सर्वात्मना अधिकार नहीं है; इसलिये अच्छे श्रव्य या दृश्य गद्यमय या पद्यमय काव्य आज देश में हों यह बात स्पृहणीय तो अवश्य है; पर साक्षात् साध्य नहीं है।

तथापि सरस्वती भगवती के दो वासस्थान हैं। सिद्धवाङ्मय और साध्य वाङ्मय। सिद्धवाङ्मय घना वन है जहाँ मनुष्य के हाथ पड़ने से शोभा बढ़ती नहीं, बल्कि घट जाती है। छेड़-छाड़ करने से कविता खराब होने लगती है। साध्यवाङ्मय कृत्रिम महल और बगीचा है। मुख्यतया मनुष्य के प्रयत्न से बना है। उसी के प्रयत्न से इसका आयाम बढ़ सकता है और उसी के अनुद्योग से यह खंडहर उजाड़ वाटिका के रूप में परिणत हो सकता है। इस साध्यवाङ्मय के दो अंग हैं; अनुवादात्मक और मौलिक। इन दोनों अंगों का परिपोष और प्रचार इस सम्मेलन

का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। प्रायः पन्द्रह करोड़ भारतीय हिन्दी-मातृक हैं। अनेक देशप्रेमी महात्माओं के पवित्र अनुभाव से भारतभूमि के अन्य प्रान्तों में भी अर्थात् महाराष्ट्र, बङ्गीय आदि अंशों में भी हिन्दी प्रेम अब बढ़ने लगा है। ऐसी अवस्था में सम्मेलन का कर्त्तव्य है कि भारत में कम से कम जन-शिक्षा के दस केन्द्र बनवाने का प्रगाढ़ प्रयत्न करें और एक मध्य केन्द्र प्रयाग के आस-पास स्थापित करे। हरिद्वार, लाहौर आदि में ऋषिकुल और धार्मिक कालेज आदि की वृद्धि देख कर हर्ष होता है। मजहबी और नैतिक समाजों ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। बड़े हर्ष की बात है कि हिन्दू विश्वविद्यालय का भी कार्य चल निकला है। आर्य समाजी भाई भी अपने गुरुकुलों का काम उत्साह से चलाये जा रहे हैं। मुसलमान भाइयोंका विशाल कालेज, पुस्तकालय आदि देख कर बड़ा उत्साह होता है। पर अभी तक शुद्ध सरस्वतीसेवक किसी समाज ने मजहबी और नैतिक भावों से स्वतन्त्र हो कर भारत में विद्या-केन्द्र स्थापित नहीं किये हैं। सम्मेलन को शुद्ध सरस्वती-सेवा का अवसर है। हिन्दू, मुसलमान, कृस्तान, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी आदि मतवालों में से तथा गोखलीय, तिलकीय आदि दलवालों में से विद्याप्रेमियों को लेकर हमें एक ऐसा समाज गठित करना चाहिए और एक ऐसी संस्था स्थापित करनी चाहिए, जिससे देश की जनता में अज्ञान, दारिद्र्य और दुर्बलता का नाश हो और ज्ञानधनबल का क्रम से विकास होता चले। अर्थार्जन श्लाघनीय कार्य है। छोटे से बड़े पद पर काम करने वाले देश का उपकार कर रहे हैं। वकील, मुखतार आदि भी कितने ही कार्यों का साधन कर रहे हैं; पर शिक्षा में प्रविष्ट सब नवयुवक एक ही प्रवाह में भेड़ियाधसान की शैली से केवल नौकरी और वकालत ही की ओर यदि चलते जायेंगे, तो थोड़े ही दिनों में देश की दशा अकथनीय विषमता में पड़ जायगी। जितने लोग आज शिक्षा से निकलते हैं, उनके लिये नौकरी या वकालतखाने में जगह नहीं है। शिक्षा में इतना धन, समय, शक्ति का व्यय होता है कि शिक्षित युवक को कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि में सहसा लगाना असम्भव-सा हो जाता है। नौकरी भी मिलती नहीं। फिर बिचारा हताश हो कर अनेक दुर्दशाओं में पड़ता हुआ असन्तान दरिद्र, रोगी हो अल्पायु हो जाता है और मानव लीला का दुःखान्त करुण संवरण कर लेता है। इस पाप का बोझा देश के नेताओं पर है। शिक्षा के लिये जैसा महोद्योग प्रजाप्रिय सरकार करती जा रही है और अनेक अन्य कर्त्तव्यों के रहते भी जहां तक हो सकता है, जन-शिक्षा से मुँह नहीं मोड़ती उसके आधे परिश्रम से भी जनता यदि सरकार की सहायता और उसके कार्यों की पूर्त्ति करती जाती तो देश में एक भी अशिक्षित बालिका या बालक नहीं मिलता और कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि की अवस्था ऐसी होने नहीं पाती तथा कोई बालिका या बालक निकम्मे नहीं पड़े रहते और अभाग्य में जीवन नहीं बिताते। सारा देश हरा-भरा रहता। यह तो बड़े भाग्य की बात है कि हमारी सरकार महाप्रभाव और विद्यानुरक्त है नहीं तो जनता में जैसा रागद्वेष और आलस्यमय तम का प्राबल्य है, न जाने देश कैसे गढ़े में पड़ा होता। घोर दुर्भिक्ष

और प्रबल महाव्याधि जनता के आलस्य से देशभक्षण प्रायः प्रतिवर्ष कर जाते हैं। शहर और गांव की बस्तियां चारो ओर नरक में डूबी पड़ी हैं। सरकार हजार प्रयत्न कर रही है, पर जनता के अज्ञान और वैमत्य के कारण आपत्तियां दूर नहीं होने पातीं,—"आत्मानमात्मनाररक्षेत् हन्यादात्मानमात्मना"—भगवान श्री कृष्ण का वाक्य है। अपनी सफाई, अपनी शुद्धता, अपना व्यवसाय आप किये बिना कभी कल्याण का द्वार खुल नही सकता। केवल आत्मश्लाघा, पूर्वपुरुषों की स्तुति और साम्प्रतिक बड़े लोगों की निन्दा करने से आलस्य देव का सन्तोष भले ही हो, अन्य उन्नति की तो क्या कथा उदरपूर्ति की भी सम्भावना नहीं है। ऐसी अवस्था में समस्त भारत की दृष्टि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलमन पर है। सब लोग यही देखना चाहते हैं कि यह विशाल आयोजन किस फल में परिणत होता है। हिन्दी-मातृक लोगों से सामान्यतः प्रति व्यक्ति एक रुपया लेने का प्रयत्न होना चाहिये। जो लोग दीन-दरिद्र हैं, उनसे इतना न लेकर उनके अंश की पूर्ति उनके धनी पड़ोसी के द्वारा करनी चाहिए। इस महाधन से ठीक-ठीक कार्य किया जाय तो देशभक्त लोग अल्पमात्र आत्मोत्सर्ग करते हुए देश के शिक्षोचित वयवाले सब बालिका और बालकों को नौकरी के योग्य तो नहीं; पर कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि के योग्य अवश्य बना सकते हैं। देश में असली विद्या का अभाव और उसके द्वारा दारिद्रय और दुर्बलता का प्रचार, तीन ही कारणों से हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को इतना धन नहीं कि उपयुक्त शिक्षा पावे। धन होने पर भी इतना समय नहीं कि राजकीय भाषा का अभ्यास दस-पन्द्रह वर्ष करके फिर किसी एक उपयुक्त विज्ञान में पड़े। धन और समय होने पर भी सब को ऐसी शक्ति नहीं कि अनेक परीक्षाओं को पार करता हुआ अपने उद्देश्य की पूर्ति करे। ऐसी अवस्था में ऐसे शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना जनसमाज के द्वारा होनी चाहिए, जिनमें मातृभाषा में शिक्षा हो अर्थात् भाषा-शिक्षा का विशेष क्लेश छात्रों को न उठाना पड़े। फीस छात्र व्यक्तियों से न लिया जाय, जिससे धनी और निर्धन समान सुविधा से पढ़ें। और रस्म के साथ परीक्षाओं का प्रपञ्च न रहे, जिससे थोड़े समय में अपने इष्ट विषय को पढ़कर छात्र किसी कार्य में लग जायें। संक्षेपत: पाँच से दस वर्ष की अवस्था तक बालकों को वर्ण-परिचय, थोड़ा गणित, भूगोल, इतिहास आदि का ज्ञान कराकर किसी एक कल्पनात्मक दर्शन आदि का अथवा कार्यात्मक कलाशिल्प आदि का ज्ञान करा दिया जाय तो वह कहीं अध्यापन या शिल्प आदि का कार्य करके अपना भी कल्याण करेगा और देश का भी उद्धार करेगा—भूखा कभी नहीं मरेगा और असन्तुष्ट हो कर दूसरों की हानि करने की आत्म-हानि पर्यवसायिनी चेष्टा में कभी नहीं फँसेगा। ऐसी शिक्षा के लिये सप्ताह में एक विषय या एक घंटा अध्यापन पर्याप्त होगा। केन्द्रों की स्थापना में भी कठिनता नहीं है। हमारे दानशीलबन्धुवृन्द उत्कण्ठापूर्वक जिधर नेता लोग लगा दें उधर ही दान-वृष्टि करने को तैयार हैं। केन्द्र स्थापित होते ही भारत के उदार शिक्षित सप्ताह में एक घंटा समय देने से भी मुंह नहीं मोड़ेंगे। फिर देशोद्धार के ऐसे उदार कार्य के लिये

सम्मेलन के नेतृगण क्यों विलम्ब कर रहे हैं, अब तन्द्रा का समय नहीं है। ज्ञानपूर्वक और भक्तिपूर्वक पूर्ण उद्योग का अवसर है।

शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना के लिये उद्योग के साथ-साथ अच्छे पत्र-पत्रिका, अनुवाद-ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की हमें बड़ी अपेक्षा है। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि साम्प्रतिक दशा में हिन्दी साहित्य अच्छे पत्र या ग्रन्थों से सर्वथा शून्य है, बङ्गाल में दैनिक भारत मित्र, कलकत्ता-समाचार, साप्ताहिक हिन्दी, बङ्गवासी, विहार में साप्ताहिक पाटलिपुत्र और शिक्षा, मासिक श्री कमला युक्त प्रदेश में साप्ताहिक अभ्युदय, और आनन्द आदि मासिक सरस्वती, मर्यादा, मनोरमा, काशीनागरीप्रचारिणी पत्रिका और विद्यार्थी आदि मध्य प्रदेश में प्रभा, पंञ्जाब में हिन्दी समाचार, सद्धर्म प्रचारक, बम्बई में दैनिक श्री वेंकटेश्वर और चित्रमय जगत् ये अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अच्छा काम कर रहे हैं। युक्त प्रान्त तो आज हिन्दी का महाकेन्द्र ही हो रहा है और उसके अभ्युदय के लिये प्रयत्न कर ही रहा है। उत्साह की बात है कि अभी मातृभाषा की सेवा में कुछ पीछे पड़े हुये मध्य प्रदेश से भी प्रभा की आशाजनक झलक कभी-कभी आ जाती है और बूढ़े विहार प्रान्तों में भी मातृभक्त महाराज हथुवा के अनुग्रह से पाटलि-पुत्र के विशेषांक सरीखो उत्तम सुपाठ्य पुस्तिका देखने में आयी है। वैदिक उषादेवी के सदृश सरस्वती पुरानी होने पर भी युवती है। आज भी हिन्दी जगत् में ऐसी विद्वत्ता और परिश्रम से सम्पादित उपयोगी उत्तम चित्रों से विभूषित और कोई पत्रिका नहीं है। दैनिक पत्रों में भारत मित्र का सामना करने वाला दूसरा पत्र नहीं देख पड़ा। हिन्दी के अनन्य भक्त बाबू रामदीन सिंह का तपः फल-स्वरूप बाँकीपुर की शिक्षा और प्रयाग का विद्यार्थी बालशिक्षोपयोगी अच्छा कार्य्य कर रहे हैं। परन्तु इतने ही से हमारा सन्तोष नहीं, कम से कम एक प्रकृति विज्ञान पर, एक दार्शनिक विषयों पर, एक एक कृषि, शिल्प, वाणिज्य पर एक ऐतिहासिक अनुशीलन पर अच्छी सम्पत्ति-शालिनी नियमपूर्वक निकलने वाली सुविद्वत् सम्पादित चित्रित पत्रिका अपेक्षित है। दो एक उत्तम कक्षा के दैनिक पत्र अपेक्षित हैं। राजधानियों में मन्दराज की ओर से एक-भी हिन्दी का पत्र या पत्रिका नहीं है। हिन्दी में पूर्ण राष्ट्रीयता लाने के लिये दो एक पत्रों की मन्दराज हाते में और निजामराज्य में बड़ी जरूरत है। देश में दार्शनिक आन्दोलन और वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं के बराबर हैं। इनके बिना जाति निर्जीवप्राय गर्भावस्था में पड़ी हुई कही जाती है। ऊपरी नैतिक या मजहबी आन्दोलन के आडम्बर से भी बिना दार्शनिक गम्भीरता के, बिना उच्च आदर्श कल्पना के और बिना वैज्ञानिक आविष्कार के सजीव जातीयता देश में नहीं लाई जा सकती। जबतक ऐसी स्वतन्त्र पत्रिकायें नहीं हैं, तबतक विद्वान् लेखकों को सरस्वती और काशीनागरीप्रचारिणी पत्रिका के द्वारा इस कार्य को चलाते रहना चाहिए। छोटे-छोटे सुस्पष्ट, सचित्र, हृदयग्राही दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि के ग्रन्थ देश में अत्यन्त अपेक्षित हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास की मनोरञ्जक पुस्तकमाला इण्डियन प्रेस की ऐतिहासिक व स्ती और प्रयागस्थ

विज्ञान परिषद की पुस्तिकाओं से हिन्दी साहित्य का दारिद्र्य कुछ दूर हो रहा है। अभी हाल में आगते महाशय ने ज्ञान सागर-प्रकाशित किया है। यह छोटा-सा ग्रन्थ छात्रों के लिये बड़े काम का है और सर्वसाधारण को भी इसे अवश्य हाथ में रखना चाहिए। ऐसे दस-बीस ग्रन्थ और बन जायँ तो बड़ा काम हो। गम्भीर बहुश्रुत विद्वान् तिलक महाशय का अलौकिक परिश्रमसूचक भगवद्गीतारहस्य, पण्डित माधवराव सप्रे द्वारा हिन्दी में परिणमित हिन्दीजगत् में सुलभ सुपाठ्य दार्शनिक ग्रन्थो की कमी को हटा रहा है। बड़े कार्यों में काशी नागरीप्रचारिणी सभा का हिन्दी शब्द सागर और कलकत्ते का हिन्दी-विश्वकोष बड़े महत्व के कार्य्य हो रहे हैं। पर हिन्दी के पाठकों के लिये शीघ्र अपेक्षित, प्रत्येक पाठक के हस्त में सदा सन्निहित रहने योग्य चार ग्रन्थो की बड़ी अपेक्षा है। सम्मेलन का धर्म है कि राजेमहाराजों से, साधारण जनता से चाहे जैसे हो द्रव्य इकट्ठा कर इन चारों ग्रन्थों को शीघ्र संगृहीत तथा प्रकाशित, करे और थोड़े मूल्य में सब हिन्दीप्रेमियों के हाथ में दे। एक तो छायापथ से ताराग्रह आदि निकलने के समय से आजतक का संक्षिप्त जगद्विकाश का इतिहास तैयार होना चाहिये। दूसरा नर जातियों के बृद्धि विकास का इतिहास बनाना चाहिये, जिसमें प्रत्येक जाति की उन्नति-अवनति के कारण स्पष्ट दिखलाते हुए, किस आदर्श की ओर मनुष्य जा रहा है और किस आदर्श का अनुसरण दरअसल इसके लिये कल्याणकारक है, यह बात दिखलाई जाय। तीसरा एक अंग्रेजी जन-शिक्षक (पपुलर एजुकेटर के ढङ्ग की) पुस्तिका सर्वसुलभशैली पर प्रकाशित होनी चाहिए जो एक प्रकार का सचित्र बालविश्वकोष का काम करेगी। चौथा, एक दस हजार शब्दों की ऐसी सूची बनने की अपेक्षा है, जिसमें बाइसिकिल, फोनोग्राफ, ऐलेक्जाण्डर, इङ्गलैण्ड आदि वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक संज्ञाओं के लिये देशी नाम भी दिये जायें जिससे देशभर में इन विषयो पर बातचीत करने मे कठिनता न पड़े और इतिहास, भूगोल आदि का संक्षिप्त खयाल रखने में अंग्रेजी नही जानते हुये सस्कृत-हिन्दी आदि के छात्रों को विशेष कठिनता न पड़े। सम्मेलन प्राय. छोटे-छोटे काकदन्त परीक्षाप्राय कामों में भी उलझा-पुलझा करता है। मध्यम दशा में केवल इसी देश में नही देशान्तरो में भी लोग ऐसे विचारों में फँसे पड़े रहते थे। ऐसे कार्य्यों में फँसे रहने से समय, शक्ति और धन तीनों का निरर्थक नाश हुआ करता है। सुई की नोक पर कितने देव एक बार खड़े रह सकते है और कितने एक ही बार उसके छिद्र से गुजर सकते हैं—इत्यादि विचार मध्यम समय के यूरोप में विद्वत् सभाओं में हुआ करते थे। ऐसी कुढङ्गी बातों को छोड़ कर यदि आठ-दस उप-समितियाँ हमलोग बना लें और उनके द्वारा भाषा-निर्वाचन, दर्शनों का तारतम्य, ऐतिहासिक अन्वेषण, साहित्य-समीक्षा, वैज्ञानिक अनुसन्धान ज्योतिषशैली आदि पर विचार हुआ करे और उच्चकोटि के प्रबन्ध इन विषयों पर लिखवाये जायें तो सम्मेलन के द्वारा भारत-वर्ष का बड़ा उपकार हो। इस विनीत निवेदन के बाद अपनी टूटी-फूटी बातो को कह डालने पर क्षमा मांगता हुआ आप

हिन्दी-प्रेमियों से मैं उपस्थित कार्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने के लिए सानुरोध प्रार्थना करता हूँ। और स्वागतकारिणी सभा के उदाराशय सभापति महाशय को, सदस्यों को तथा अन्य सहायकों को सामान्यतः पवित्र नर्मदा तट पर वर्तमान इस नगर के उत्साही निवासियों को तथा अनेक कष्ट उठाकर बाहर से आये हुए पत्र-सम्पादकों को प्रतिनिधियों को तथा समस्त अन्य हिन्दी-प्रेमियों को सविनय सोल्लास अन्तर्हृदय से कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ और आपसे पुनः प्रगाढ विनयपूर्वक आशा करता हूँ, कि हिन्दी के आश्रयदाता महाराज गायकवाड़, महाराज सिन्धिया, महाराज बीकानेर, महाराज इन्दौर, महाराज अलवर, महाराज दतिया आदि उदारहृदय महापुरुषों के उत्साह का स्मरण रखते हुए भारतीय मान्य नेतृवर्ग के हिन्दी के पक्ष में सपरिश्रम आन्दोलनों का ध्यान रखते हुए अपने ही जीवन तक नहीं पृथ्वी पर मनुष्य जीवन के पर्यवसान समय तक आप देशभक्ति के प्रधान अंग देश-भाषाभक्ति में अटल रहेंगे।

हिन्दी भाषा वि

भाषा का विषय तीन भागों में बँटा हुआ
अनेक भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध और भाषाओं का
भारतवर्ष की मुख्य भाषा संप्रति हिन्दी है, इस
ही से उदाहरण लेकर भाषा-शास्त्रीय तत्व दिखलाये

(१) भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक
मनुष्य के पूर्व पुरुषों को ईश्वर ने भाषा सिखाई।

(२) कुछ लोग कहते हैं कि सुख-दुःख आ...
ऊह, अहा, ओहो आदि शब्द निकालते हैं। ऐसे ही चलने की खड़खड़ाहट, गाड़ी की गड़गड़ाहट, ताड़ आदि पत्तों की फड़फड़ाहट आदि विविध शब्दों का आविर्भाव प्राकृतिक पदार्थों में हुआ करता है। बस इन्हीं दो मूलों से मनुष्य ने धीरे-धीरे सब शब्द बना लिये। जैसे किसी पक्षी को कांव कांव करते देख उसे लोग कौवा कहने लगे। ऐसे ही गड़गड़ाती हुई सवारी को गाडी और सरसर चलते हुए जन्तु को सर्प कहने लगे। योंही किल्लाना, चिल्लाना, खाँसना, किकियाना, मिमियाना आदि क्रियाओं का भी निर्माण हो गया। यह अमेरिका प्रसिद्ध डाक्टर ह्विट्ली का मत है।

(३) कुछ नीतिज्ञ पुरुषों ने एक तीसरा ही कारण भाषा के उद्भव का निकाला है। वे कहते हैं कि किसी समय मौन रहने से काम न चलता देख जब मनुष्य बहुत ऊब गये और हाथ, पैर, आँख, भौं के इशारों से भी अपने आशय को न प्रकट कर सके, तब उन्होंने एक बड़ी सभा की और उस महासभा या महामंडल में उस समय के जो बुद्धिमान और नई रोशनी वाले थे, उन्होंने एक भाषा स्थिर करने का प्रस्ताव किया और सब की सम्मति से सैंकड़ों शब्द स्थिर हुए। मालूम होता है कि इस सभा में केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु, पक्षी, जड़, चेतन सभी इकट्ठे किये गये थे। कार्य आरम्भ होने के समय मूक मंडल में बड़ी चूँ चूँ हूँ हूँ खूँ खूँ मची। अन्ततः किसी ने एक बैल को पकड़ कर कहा 'बइल्ला'। बस सभी चिल्ला उठे 'बइल्ला' और यह निश्चित हुआ कि इस जन्तु को बइल्ला कहना। ऐसे ही अनेक शब्द स्थिर हुए। गाय, भैंस घोड़े, कुत्ते, जौ, गेहूँ, लोटे-थाली आदि के नाम निश्चित हुए। सभा के पति, उपपति, संपादक आदि नियत हुए। और उस दिन से मूक महामंडल के अनेक उपदेशक घूम-घूम कर व्याख्यान की पताका उड़ाते हुए स्थान-स्थान पर सभा के उद्देश्यों का प्रचार करने लगे।

(४) किन्तु पूर्वोक्त तीनों मतों से असन्तुष्ट हो कर कितने विद्वानों ने एक चतुर्थ मत प्रकाशित किया है जिसके अनुसार ईश्वर की दी हुई एक मनुष्य में अपूर्व भाविक शक्ति है जिससे मनुष्य स्वभावतः शब्द बना लेता है। पूर्वोक्त मतों से असन्तोष का कारण यह है कि पहले मत में यह बात आश्चर्य की है कि यदि मनुष्य को ईश्वर से मिलने के समय भाषा-ज्ञान न था तो ईश्वर से उससे बातचीत कैसे हुई। कोई व्याकरण या कोष जिसके द्वारा ईश्वर ने पुरुषों को भाषा सिखलाई होगी, अवश्य उसके ज्ञान के लिये भी अपेक्षित है। दूसरे मत में एक बड़ा दोष यह है कि अनुकरण की रीति से दस या बीस शब्द तो भले ही निकल सकते हैं, पर संपूर्ण भाषा को अनुकरण-मूलक कहना असंगत-सा जान पड़ता है। यदि गाय को लड़कों सा, 'बाय' कहा जाता तो ठीक था; किन्तु 'गाय' यह शब्द अनुकरण की रीति से कदापि नहीं निकल सकता। इसी प्रकार मूक महामंडल वाली बात भी ठीक नहीं मालूम होती, क्योंकि मूकों का भाषा-ज्ञान जब था ही नहीं, तब सभा में बातचीत कैसे हुई? इस प्रकार यह विदित होता है कि चतुर्थ मत ही, जिसका मैक्समूलर ने भी आश्रय लिया है, ठीक है। अस्तु। भाषा की उत्पत्ति का विचार यदि इस प्रकार समाप्त किया जाय तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि पहले पहल क्या कोई एक ही भाषा संसार में हुई और उससे अनेक भाषाएँ जहाँ-तहाँ देश-काल, जल-वायु, मनुष्यों के आचार-व्यवहार आदि के भेद से भिन्न हुई या प्रथम अनेक स्थानों में भिन्न-भिन्न ही भाषाएँ हुईं और अनेक नदियों के सदृश कभी मिलती, कभी पृथक् होती हुई आज भी अनेक ही हैं। यह प्रश्न गंभीर है और इसका समाधान कठिन है, क्योंकि इस प्रश्न का विचार केवल भाषा-शास्त्र के अधीन नहीं है, भूगर्भ-शास्त्र और मनुष्य-शास्त्र से भी इसका सम्बन्ध है। प्रथम यदि इस बात का निश्चय हो ले कि एक कुटुम्ब से सारी पृथ्वी के मनुष्य निकले हैं या अनेक कुटुम्बों से, तब इसका भी निश्चय हो सकता है कि सब भाषाओं का मूल एक था या अनेक। भाषा-शास्त्र के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि यदि अरबी, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि सब भाषाएँ अपनी धातु अवस्था में पहुँचा दी जायें तो भी भिन्न-भिन्न वर्ग की भाषाओं के धातुओं में इतना अन्तर पाया जाता है कि अनेक वर्गों के अनेक मूल थे, ऐसा ही कहना पड़ता है। मनुष्य-शास्त्र से और भूगर्भ-विद्या से यह ज्ञात होता है कि एक ही समय पृथ्वी पर बहुत जगहों में मनुष्य वर्तमान थे। ऐसा अभी तक नहीं पाया गया कि पृथ्वी की किसी एक ही तह में एक ही जगह थोड़े से मनुष्य थे, और कहीं मनुष्य थे ही नहीं। इन बातों से यह विदित होता है कि इस समय जैसी भाषा-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आदि की अवस्था है, वैसी अवस्था में भाषा का मूल एक था या अनेक, इसका निश्चय नहीं हो सकता।

भाषा-शास्त्र का दूसरा विभाग अनेक भाषाओं का परस्पर संबंध और वर्गीकरण है। पहले तो यह विदित होता है कि भाषाओं का वर्गीकरण बहुत ही सहज है, क्योंकि चीन-वर्ग की जो भाषाएँ हैं उनके साथ भला हिन्दी का क्या संबंध हो सकता है?

पर वस्तुतः यह कार्य अत्यन्त कठिन है। कभी-कभी राज्य-विजय आदि के कारण प्रायः एक देश के शब्द अनेक देशों में फैल जाते हैं। जैसे कि भारतीय उर्दू में इतने फ़ारसी शब्द हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उर्दू फ़ारसी-वर्ग में है या संस्कृत-वर्ग में। इसी प्रकार एक ही देश में पहाड़, नदी आदि के अलंघनीय होने के कारण अथवा भाषाओं के प्रयोग करने वालों की जाति, प्रकृति आदि अत्यन्त भिन्न होने के कारण परस्पर भाषाओं में इतना भेद पाया जाता है कि अत्यन्त समीपवासी दो जातियों की भाषाएँ वस्तुतः भिन्न वर्ग की समझी जाती है। जैसे कि उड़ीसा के निवासियों की भाषा संस्कृत-वर्ग की है, पर उनके पश्चिम मद्रास प्रान्त वालों की भाषा द्रविड़-वर्ग की है। ऐसी अवस्था में वर्ग कैसे निश्चय करना और समान्यतः कितने वर्ग और अन्तर्वर्ग हैं, यह यहाँ संक्षेप में दिया जाता है।

भाषा का मुख्य रूप शब्द नहीं है किन्तु उसकी रचना है। अर्थात् एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में आसानी से जा सकते हैं, पर भिन्न भाषाओं के व्याकरण की रचना प्रायः भिन्न होती है। उदाहरण, एक पंडित जी कहते हैं कि "मुझे वाष्प-शकट के विश्राम-स्थान पर प्रस्थान करना है"। एक बंगाली बाबू कहते हैं कि "हम रेलवे स्टेशन के वास्ते स्टार्ट करने माँगता है।" एक बेचारा गँवार कहता है 'हमरा रेलवई इस्टीसन पर जाय के बाटे।" एक शहरू मुसलमान फरमाते हैं कि "मुझको रेल के स्टेशन पर जाना है।" मैं समझता हूँ कि किसी को संदेह न होगा कि ये चारों साहब अपने-अपने ढंग से हिन्दी ही बोल रहे हैं, क्योंकि शब्द चाहे अंग्रेजी के या फारसी के या संस्कृत के हों, जब तक टूटी-फूटी किसी प्रकार की रचना हिन्दी की रहेगी तब तक भाषा हिन्दी ही समझी जायगी। अब इसी नियम के अनुसार अर्थात् व्याकरण की रचना के अनुसार वर्ग बनाये जायें तो आर्य, अरबी, तुर्की, द्रविड़, चीनी और स्काडनेव ये छः वर्ग होते हैं। ये मुख्य वर्ग हैं इनके अतिरिक्त भी कुछ भाषाएँ हैं जिनका ठीक वर्गीकरण नहीं हो सका है। प्रायः उत्तर भारत की सब भाषाओं को मिलाकर एक शाखा आर्य भाषा की समझनी चाहिए। इसकी दूसरी शाखा पारसी और अवेस्ता की भाषा है। तीसरी शाखा लैटिन और ग्रीक है। चौथी शाखा अंग्रेजी, जर्मन आदि। पाँचवीं शाखा केल्टिक और छठी रूस की भाषा आदि। इस रीति से ज्ञात होता है कि हिन्दी-भाषा आर्य-भाषा की एक शाखा है।

इस प्रकार भाषा-वर्गों का कुछ विचार कर अब भाषाओं की अवस्थाओं का विचार करना है। सामान्यतः प्रत्येक भाषा की चार अवस्थाएँ होती हैं; किन्तु इन चारों अवस्थाओं में इतना अंतर है कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचने तक सैकड़ों हजारों वर्ष लग जाते हैं। देश बदल जाता है, भाषाओं के नाम बदल जाते हैं, प्राचीन अवस्था से नवीन दशा का आविर्भाव होता है अथवा वह सर्वथा लुप्त हो जाती है, इसलिए एक ही भाषा को चारों अवस्थाओं में पाना दुर्घट है। पर अनेक भाषाओं को परस्पर भिन्न अवस्था में देख कर उनका तारतम्य करने से इन अवस्थाओं

का वर्णन किया जा सकता है। (१) धातु-अवस्था (२) समास-अवस्था (३) प्रत्यय-अवस्था (४) उपसर्ग-अवस्था। चीन की भाषा संप्रति धातु-अवस्था में है। शब्दों में प्रत्यय विभक्तियाँ आदि नहीं लगतीं, शब्द परस्पर मिलते नहीं, शब्द पृथक् पृथक् रख दिये जाते हैं और एक वाक्य बन जाता है। यदि "मनुष्य ग्राम खाता है" यह कहना होगा तो वे लोग 'मनुष्य' 'ग्राम' 'खा' तीनों शब्दों के लिये चीनी शब्द कहेंगे। मनुष्य का बहुवचन कहना होगा तो 'मनुष्य' 'झुण्ड' इन दोनों शब्दों के लिये अपने शब्द कहेंगे। अभी तक हिन्दी में भी कभी-कभी ऐसा होता है। जैसे मनुष्य का बहुवचन बनाने के लिये प्रत्यय न रख कर 'मनुष्य लोग' 'मनुष्यगण' कह देते हैं। 'आदमी घर में धीरे-धीरे आम खाता है' ऐसा जब इन लोगों को कहना होता है, तब ये लोग दस हाथ का समस्त एक शब्द कहते हैं। हिन्दी में इस समासावस्था का उदाहरण 'इस बारात में खूब-खा-पी-धर-मार-गड़बड़-सड़बड़ हुआ।' इस पद में बहुत से शब्द एक साथ मिला दिये गये हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बाद तीसरी प्रत्यय-अवस्था आती है। 'खायें वे' यह प्रायः धातु-अवस्था हुई। दोनों को लोग मिलाकर बोलने लगे तब 'खायें+वे' यह समासावस्था हुई। जब दोनों शब्द ऐसे मिल गये कि एक अंश घिसते-घिसते बहुत दुर्बल हो गया तब 'खावें' यह एक शब्द हो गया जिसमें 'खा' धातु में 'वें' प्रत्यय माना जाता है। इसी प्रकार प्रत्यय किसी न किसी स्वतंत्र शब्द से निकलते हैं। यहाँ 'वे' शब्द पहले तो समस्त हुआ पर धीरे-धीरे घिस कर अपना स्वतंत्र रूप खो बैठा और प्रत्यय हो गया। इस तीसरी अवस्था का प्रधान उदाहरण संस्कृत है जिसमें बहुत से प्रत्यय हैं। चौथी अवस्था उपसर्ग-अवस्था है जिसमें प्रत्यय अलग हो कर फिर स्वतंत्र हो जाता है जैसा हिन्दी या अंग्रेजी में है। इन भाषाओं में प्रत्यय कम हो गये हैं, क्योंकि बहुत से शब्द, जो संबंध-वाचक हैं, स्वतंत्र अव्यय-रूप से रहते हैं। अंग्रेजी शब्दों में अव्यय प्रायः पहले लगते हैं। हिन्दी में अव्यय पीछे लगते हैं जैसे 'घर में' 'उसका' इत्यादि।

भाषा में परिवर्त्तन हो जाया करता है, यह तो सबको विदित है। अब यह परिवर्त्तन प्रायः किन कारणों से होता है, इसका कुछ विचार होना चाहिए। इतने मुख्य कारण भाषा में परिवर्त्तन के पाये जाते हैं। (१) देश, (२) आलस्य, (३) धर्म, (४) व्यक्ति-स्वभाव, (५) संपर्क, (६) कविता।

देश के भेद से एक ही भाषा भिन्न-भिन्न रूपों की हो जाती है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है। पक्की हिन्दी में 'आप जाते हैं' पश्चिम में 'आप जाते हो' कहते हैं। बिहार में 'रौआँ जाँतानी' काशी में 'तू जात हौआ' या 'जात बाट' कहते हैं। एक ही शब्द भैया, भयवा, भाई, भाय, आदि रूप को धारण करता है। एक ही शब्द गो, गाय, गैया आदि हो जाता है। देश-देश का स्वभाव कुछ भिन्न होता है। जल-वायु आदि के भेद के कारण एक अक्षर जो एक देश में सीधा समझा जाता है, दूसरे देश में कठिन समझा जाता है। हमारे देश में 'स' एक सीधा अक्षर है, पर महाराष्ट्र उसे प्रायः 'इ'

कहते हैं। जापान के एक विद्यार्थी हम से पढ़ते थे। उनका यह कहना था कि 'ल' अक्षर से बढ़कर और कोई कठिन अक्षर है ही नहीं। और 'ल' को वे 'अड' कहा करते थे।

अंग्रेज लोग भीम को बीम, पंडित को पैंडित आदि कहा करते हैं और 'र' अक्षर का प्रायः ठीक उच्चारण नहीं कर सकते। चीन के लोग क्राइस्ट को किली सेतू और युद्ध को फोतो कहते हैं। यहाँ के गँवार लोग प्रामिसरी नोट को परमेसरी लोट और लाइब्रेरी को लर्बरी या रायबरेली कहा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश के भिन्न-भिन्न दोष गुण हैं जिनके अनुसार भाषा में परिवर्त्तन हुआ करता है। संस्कृत लक्ष्मण, लक्ष्मी को बंगाली लक्खन और लक्खी कहते हैं। हिन्दी में लछिमन या लखन (तुलसी दास) और लछिमी कहते हैं।

परिवर्त्तन का दूसरा कारण आलस्य कहा गया है। कोई शब्द जब अत्यन्त कठिन मालूम होता है तब प्रायः मनुष्य उसको बदलने लगते हैं। कज्जल इतना कठिन है कि इसे बदल कर काजल या काजर कर लिया है। कृष्ण से प्राकृतिक कण्हो हुआ। कण्हो से कान्हा, कान्ह, कन्हैया आदि हो गया। ऐसे श्वसुर का ससुर श्वश्रू का सास, ननांदा का ननंद इत्यादि। खास हिन्दी शब्दों में प्रायः इतने नियम[१] पाये जाते हैं। तालव्य श और मूर्धन्य 'ष' हिन्दी के शब्दों में नहीं हैं। संस्कृतज्ञ लोग ही संस्कृत के शब्दों में इन अक्षरों को लिखते हैं और बोलते हैं। इससे हिन्दी में इन अक्षरों का दंत्य 'स' हो जाता है। श्री कृष्ण सिरीकिसुन, स्याँम, साम इत्यादि। कहीं-कहीं आदि में मूर्धन्य 'ष' का 'छ' हो जाता है जैसे, षष्ठी का छठ, षष्ठ का छठा। 'ड' और 'ढ' का 'ड़' और 'ढ़' हो जाता है। आषाढ़ आषाढ के लिए, सड़गपुर, सड्गपुर के लिए। किन्तु आदि में 'ड' और 'ढ' मिलते हैं जैसे डाकू, ढकना इत्यादि। ह्रस्व 'ई' और 'उ' प्रायः शब्द के अन्त में दीर्घ से हो जाते हैं। जैसे मुनी लोग, साधू आदमी। 'ऋ' प्रायः 'ईरि' हो जाता है, जैसे, कृति कीरित। कहीं 'ऋ' का 'इ' हो जाता है जैसे, कृष्ण का किशुन। 'लृ' तो संस्कृत में भी एक ही आध जगह मिलता है, हिन्दी में कौन पूछे। 'ए' 'ओ' का उच्चारण पश्चिमी हिन्दी में 'अय' 'अव' का सा होता है, जैसे कौन है, ऐसा है। 'ए' 'ओ' हिन्दी कविता में ह्रस्व भी होते हैं, 'केहि कारन मोहि मारि कै।' विसर्ग हिन्दी में नहीं होता। आदि में प्राय. 'य' को 'ज' कहा जाता है 'यज्ञ' का 'जग'। पर कहीं पर 'य' भी बोला जाता है जैसे या, याने, यहाँ, इत्यादि। 'व' प्राय. 'ब' हो जाता है, पर कहीं 'व' भी बोला जाता है 'वन' 'वहाँ'। 'ञ' 'ण' ये दोनों अक्षर हिन्दी में नहीं मिलते। 'ङ' बहुत कम पाया जाता है जैसे कि अङरखा। पर यह भी यदि अँगरखा लिखा जाय तो ऐसे शब्दों में भी 'ङ' की स्थिति लुप्त प्राय ही है। संयुक्ताक्षर हिन्दी में बहुत कम हैं जैसे, क्यों, क्या, अच्छा, पक्का, कच्चा इत्यादि। भाषांतर के शब्द हिन्दी में आने पर प्रायः अपने संयुक्त अक्षरों में से एक को खो बैठते हैं, या दोनों अक्षर अलग हो जाते

१—ये नियम शुद्ध हिन्दी शब्दों के लिए हैं। संस्कृत आदि से जो शब्द प्रतिदिन मँगनी लिए जाते हैं, उनके लिए नहीं।

या दोनों[2] मिलकर एक तीसरा ही अक्षर बन जाता है। उदाहरण, प्रयाण का पयान हो जाता है। यहाँ 'र' का लोप हो गया। स्नान का अस्नान[3] हो जाता है। यहाँ 'स' और 'न' पृथक् हो गये हैं। लक्ष्मण का लखन हो जाता है यहाँ 'क्ष' का 'ख' एक ही अक्षर हो गया है। ऐसे ही और भी बहुत से परिवर्त्तन के नियम हैं।

परिवर्त्तन का तीसरा कारण धर्म है। कई प्रकार के धर्म संबंधी झूठे व सच्चे नियम यानी शास्त्र विहित अथवा भ्रम द्वारा गृहीत प्रायः मनुष्यों के हृदय में जमे रहते हैं। जैसे, जिन्हें जिस शब्द के उच्चारण से घृणा है, वे उस शब्द को कुछ और कहने लगते हैं। उनके द्वारा कुटुम्ब में, कुटुम्ब के द्वारा देश भर में ऐसे परिवर्तित शब्द कभी-कभी फैल जाते हैं। स्त्री पति का नाम नहीं लेती, पति स्त्री का नाम नहीं लेता ऐसे ही अत्यन्त शठों का, पतितों का, गुरु का या खाने की चीजों में निषिद्ध वस्तुओं का नाम लोग नहीं लेते। पश्चिमोत्तर में कितने लोग गोभी नहीं खाते, क्योंकि इसमें गो शब्द पड़ा है। बिहार के अगरवाले लोग गोभी कहने से बहुत ही चिढ़ते हैं और कोभी कहने से मजे से उसे खाते हैं। किसी के गरु का नाम सतुआदास हो तो वह सतुआ कभी नहीं कहेगा, सीतल बुकनी कहा करेगा। बस चलो, सीतल बुकनी धीरे-धीरे चल निकला।

परिवर्त्तन का चौथा कारण व्यक्तिस्वभाव है। कितने भगत लोग पाँव लगे, पाँव लागे इत्यादि अशुद्ध शब्दों को छोड़ कर जय श्री कृष्ण, जय गोपाल, भगत जी राम राम इत्यादि पवित्र वाक्यों का प्रणाम में प्रयोग करते हैं। उनमें भी कितने सीताराम से चिढ़ते हैं, कितने राधाकृष्ण से और इन नामों को कभी नहीं कहते। ऐसे ही कितने ही शब्दों का प्रयोग लुप्त हो जाता है और कितने नये शब्द उत्पन्न हो जाते हैं। परिवर्त्तन का पाँचवाँ कारण संपर्क है। जिनका संस्कृत-भाषा से संबंध है या संस्कृतज्ञों से अधिक संपर्क है, उनकी हिन्दी संस्कृत शब्दों से भरी हुई होती है। यहाँ तक कि महामहोपाध्याय लोग और उनके मैथिल शिष्य लोग गलियों में सामान्य पुरुषों से बातचीत करने में अवच्छेदता, प्रकारता, विषयता, प्रतियोगिता आदि का प्रयोग करने लगते हैं। ऐसे ही अंग्रेजी वालों की हिन्दी और खास कर अंग्रेजों की हिन्दी कुछ अपूर्व ही होती है। अंग्रेजों को पेशाब करने की इच्छा होती है तो चपरासी से कहते हैं कि हम पानी मगाने माँगता है और घोड़ी के बदले घोड़ा लाओ तो कहते हैं 'हम का घोड़ा मत लाओ, मेम साहब का सा घोड़ा लाओ' यानी घोड़ी लाओ। मुसलमान, कायस्थ आदि लोगों की हिन्दी मगरूर, मुलाहिजा, मुमानियत, मुमकिन, दौलतखाना, गरीबखाना, फर्माना आदि शब्दों से भरी हुई होती है। साधु लोगों की हिन्दी डोलडाल, खोरा, मिष्टान्न[4] दुर्गन्ध आदि शब्दों से भरी हुई होती है।

२—उदाहरण के लिये दोनों कहा गया है। वस्तुतः तीन-चार अक्षर भी मिल सकते हैं।
३—ऐसे शब्दों में पहले अ इ आदि भी लग जाता है। अस्नान, इस्टेशन इत्यादि।
४—वैरागियों की भाषा में मिष्टान्न का अर्थ मिष्टान्न यानी मिठाई है। दुर्गन्ध कहते हैं दुग्ध याने दूध को।

भाषा परिवर्त्तन का छठा कारण कविता है। शब्दों के बहुत से नये रूप अवधी या व्रजभाषा के व्याकरण के देशान्तरीय कविता में प्रचार आदि के कारण हुए हैं। तुलसीदास लिखते हैं 'हँसब ठठाइ फुलाउब गालू। एक संग नहिं होइ भूआलू' यहाँ भुआलू है। कहीं तुकमिलाने के लिये भुआला रहता है; कही भुआली मिलता हैं। इसको देख कर किसी ने अपने लड़के का नाम भुआल दास रख लिया। किसी ने भुआल का अर्थ बेवकूफ समझ लिया; और जब कोई बेवकूफी का काम करता है तब वह कहता है "बड़भुआलवाड़ हौ"। ऐसे ही अनेक प्रकार की बोली बानी कबीर की, सूर की, नानक की, सन्यासियों की निकली है। यह व्याख्यान बालकों के समक्ष है। इस लिए कठिन गंभीर बहुत से भाषा-शास्त्र के नियम छोड़ दिये गये हैं।

यूरोप के दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और ऐतिहासिकों ने नर-जीवन की उन्नति का क्रम इस प्रकार बताया है—वनमानुष जातियों से जब मनुष्य उत्पन्न हुए तब पहले-पहल उनका निवास गरम देशों के वनों में हुआ। हरे वनों में वृक्षों के आश्रय में रहना और उनके फल-मूल खा कर जीना इनके लिये आसान था। अभी आग उत्पन्न करना और उसे सुरक्षित रख कर खाना पकाने के काम में लाना इन्हें विदित न था। इसलिए शीत प्रदेशों में इनका रहना दुस्तर था। डालियाँ आदि काटने के लिये इनके पास आयुध न थे। जन्तुओं को मारने के भी साधन न थे। अभी परस्पर भाषा-व्यवहार भी ये ठीक से नहीं कर सकते थे। इस पशुप्राय अवस्था में पड़े-पड़े न जाने कितना समय बीत गया। चिरकाल के बाद माता-पिता के योग-विशेष से, और योग्य सन्तानों के बचने और अयोग्यों के मरने से एवं कुटुम्ब के बढ़ने से, सामाजिक जीवन का विकास होने लगा और भाषा-व्यवहार बढ़ने लगा। भाषा-व्यवहार नरत्व का प्रथम चिह्न है। इसके बाद नर-जीवन की तीन अवस्थाएँ हुईं—राक्षसावस्था, वर्बरावस्था और सभ्यावस्था। इन अवस्थाओं में प्रत्येक की तीन दशाएँ हैं—अधम दशा, मध्यम दशा, और उत्तम दशा, इसी रीति से हमें नर-जीवन की नौ दशाएँ मिलती हैं—(१) अधम राक्षस-दशा (२) मध्यम राक्षस-दशा (३) उत्तम राक्षस-दशा (४) अधम वर्बर-दशा (५) मध्यम वर्बर-दशा (६) उत्तम वर्बर-दशा (७) अधम सभ्य-दशा (८) मध्यम सभ्य-दशा (९) उत्तम सभ्य-दशा। इनमें यदि पहले कही हुई पशुप्राय-दशा और आज की अलवर्ती हुई आगामी दशा मिला ली जाय तो नरजीवन की ग्यारह क्रमिक दशाएँ होती हैं। पशुप्राय दशा को छोड़ कर और दशाओं का श्लोकसूत्र यह है—

> अग्निर्धनुर्धरो जन्तुर्यो लेखोऽग्नि चूर्णकम् ।
> वाष्पो विद्युद्व्योमयानमित्ययं सभ्यताक्रमः ॥

इसका अर्थ इस लेख के पढ़ने ही से स्पष्ट हो जायगा। जब भाषा-व्यवहार से ऊपर वर्णित जीवों में कुछ मनुष्यत्व आया और धीरे-धीरे पत्थर की पटिया निकाल कर उनसे शस्त्र का काम वे लोग लेने लगे तब विद्युत्पात से जलती हुई या दावाग्नि से दहकती हुई शाखाओं से मनुष्यों ने आग प्राप्त की। फिर लकड़ियों की रगड़ से स्वयं आग निकालना भी इन्होंने सीखा। अग्नि के आविष्कार से मनुष्य को बड़ा लाभ हुआ। अब फल-मूल व मांस आग-द्वारा भी पकाकर खा जाने लगा। अब पत्थर की छुरियाँ धीरे-धीरे अधिक नोकीली और चिकनी बनने लगीं। पत्थर ही के बर्छे की नोक और दाव

भी बनने लगे। पर दूर से लक्ष्य बेधने का काम इन धातुओं से ठीक न होता था। इसलिए काल पाकर मनुष्यों ने धनुष और बाण बनाना आरम्भ किया। इस दशा को पहुँचने पर आग की सहायता से शीत प्रदेशों में भी नर-जातियाँ रह सकती थीं और बाण के द्वारा वेग से चलते हुए लक्ष्य को भी मारकर उसे आग में भूनकर खा सकती थीं। पर अभी भूनने के अतिरिक्त खाना पकाने की और कोई रीति इनको ज्ञात न थी। इस कारण मिट्टी के बर्त्तन बनाये और आग में पकाये जाने लगे। तब पके बर्त्तनों में लोग भोज्य वस्तुओं को उबालकर खाने लगे। आज भी कितनी ही वन्य जातियाँ ऐसी हैं जिनमें से कुछ धनुर्बाण का प्रयोग तक नहीं जानतीं।

बर्त्तन बनाने के बाद गाय, बैल, घोड़ा, कुत्ता आदि जन्तुओं को मनुष्य पालने लगे। उनसे खेत जोतने तथा ईंट, पत्थर आदि के घर बनाने में सुभीता हो चला। अब झोपड़ियों में रहने वाले शिकारी मनुष्य के पुत्र धीरे-धीरे अच्छे मकानों में रहने वाले तथा सवारी पर दूर-दूर जाने वाले गृहस्थ हो चले। धान्य बोये जाने लगे और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी।

उस समय गृहस्थ-जीवन में एक बात की कसर रह गई थी। पत्थर, हड्डी आदि के आयुधों से काम न चलता था। नरम धातु, सोना आदि कम मिलते थे तथा काम भी उनसे ठीक न हो सकते थे। किसी सुलभ और कड़े धातु की कृषि, युद्ध आदि अनेक कार्यों के लिये अपेक्षा थी। अन्ततः यह धातु भी हमें मिल गया। उसे साफ करने और पीटने आदि की रीति भी ज्ञात हुई। यह था लोहा। इससे बड़ा काम चला। लोहे के द्वारा गाड़ी, रथ आदि बनने लगे। सड़कें पीटी जाने लगीं। उत्तम इमारतें बनने लगीं। शहर और किले तैयार हुए। हड्डियों पर तथा हाथी दाँत पर गैंडे, भैंस आदि की खुदी हुई तस्वीरें बनने लगीं। ऐसी कितनी ही चीजें आज तक पृथ्वी के भीतर मिलती हैं। मनुष्य फलाहारी से शिकारी हुए थे और शिकारी से गृहस्थ। अब लोहा मिल जाने से वे यन्त्र-निर्माता भी हुए। दूर-दूर तक होने वाले वाणिज्य-व्यवहार आदि में चिट्ठी-पत्री आदि की अपेक्षा पड़ने लगी। तब कई विकसित बुद्धिवाली नर-जातियों ने पहले चित्रों के द्वारा लिखने की भी शैली निकाली। अब तो भोजन के साधन अग्नि आदि, धन के साधन पशु आदि और विजय के साधन अस्त्र-शस्त्र मनुष्य को मिल ही चुके थे। शिक्षा का साधन लेख-प्रणाली के आविष्कार से साधनसमष्टि की पूर्ति हुई। कुम्भकारकला के आते-आते राक्षसावस्था की तीनों दशाएं निकल चली थीं, लेखशैली निकलते-निकलते बर्बरावस्था की भी तीनों दशाएं समाप्त हुई और सभ्यता का विकास होने लगा। अब अपने विचारों को मनुष्य दूर-दूर के लोगों में फैला सकता था। केवल यही नहीं। लेखों के द्वारा एक पुस्तक की बात दूसरी पुस्तकवाले समझ सकते थे और ज्ञान-विज्ञान अधिक आगे बढ़ा सकते थे। संक्षेपतः अब मनुष्य शिक्षित या सभ्य होने लगे। बहुत से लोग लेखावस्था को सभ्य दशा में गिनते हैं। कितने ही उसे अर्द्धबर्बरावस्था कहते

हैं। वस्तुतः चित्रलेख तक बर्बरावस्था ही है, पर वर्ण-लेख के साथ सभ्यावस्था का आरम्भ है।

सभ्यावस्था में मनुष्य ने अनेक उन्नतियाँ कीं। स्थान-स्थान पर अपने ढंग के सभ्यता-केन्द्र उत्पन्न हुए, बढ़े और नष्ट भी हुए। अजपुत्र असुर, पारसीक, पणीश, मकरध्वज, यवन, रोमक, माक्षिक (Egyptian, Assyrian, Persian, Phonecian, Carthagian, Ionian, Roman, Mexican) आदि सभ्यताएँ उत्पन्न हुई और नष्ट भी हो गईं। केवल दो तीन सभ्यताएँ अनेक दशाओं का भोग कर के वर्तमान हैं। चीन और जापान की सभ्यता और भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन होने पर भी संसार में व्यवस्थित हैं। इनमें भी भारतीय सभ्यता में एक बड़ी विलक्षणता है। भारतीय आर्यों की अवस्था वेदों से ज्ञात है। वेदों से अधिक प्राचीन लेख और कहीं नहीं मिलते। प्रत्यक्ष लेख तो भारत में अशोक के समय ही से अर्थात् आज से सवा दो हजार वर्ष पहले से मिलते हैं। पर अनुमान से जान पड़ता है कि लेख-शैली यहाँ अशोक से भी हजार वर्ष या अधिक पहले से विद्यमान थी। बर्बरावस्था का अन्त सभ्यावस्था का आरम्भ लेख-दशा ही में हुआ है। क्योंकि लिखे-पढ़े मनुष्य ही को सभ्य और शिक्षित कहते हैं। भारतीय आर्य लेखरहित और अशिक्षित कब थे, इसका किसी को पता नहीं। अर्थात् भारतीय सभ्यता इतनी प्राचीन है कि इसकी बाल्यावस्था के कोई चिह्न इस समय कहीं भी भूगर्भ में नहीं मिलते। पर साथ ही साथ इतनी प्राचीन होकर भी अबतक जीती रहना किसी और सभ्यता के भाग्य में नहीं। प्राचीनता में चीनवाले भी भारतीय आर्यों की बराबरी नहीं कर सकते हैं।

लेख-शैली के साथ-साथ जो सभ्यता चली उसकी प्रथम दशा आज से प्रायः एक हजार वर्ष पहले बारूद या अग्निचूर्ण के आविष्कार के साथ समाप्त हुई। लोगों का अनुमान है कि चीन या भारत में ही उसका आविष्कार हुआ। इसके बाद या इसके पहले ही से मध्यावस्था समझी जाती है। आज से प्रायः पाँच सौ वर्ष पहले बड़े-बड़े ज्योतिषियों, दार्शनिकों और यात्रियों का आविर्भाव हुआ। इन लोगों ने पृथ्वी को चल बताया; प्राचीन विद्याओं में अनुराग रखते हुए उनसे पूर्ण सन्तोष न पाकर आगे बढने की शैली निकाली; तथा अमेरिका आदि का रास्ता दिखला कर मनुष्यों के आलस्य का नाश किया। इसी समय नवीन सभ्यता का आविर्भाव हुआ, जिसमें भाप और बिजली से चलने-फिरने, लिखने-पढने आदि के कार्य किये जाने लगे। अब इस समय कुछ लक्षण इस नवीन सभ्यता की भी समाप्ति के देख पड़ते हैं। मनुष्य अब आकाश में भी यन्त्रों से उड़ने लगे हैं और समुद्र के भीतर-भीतर भी जहाज चलने लगे हैं।

यहाँ तक मनुष्य की बुद्धि के बाहरी विकास का क्रम दिखाया गया है। इस विकास में प्रायः पाँच सौ वर्ष से यूरोपवाले और देशों से बढ़ गये हैं। इसमें सन्देह

नहीं कि आज भारत और जापान आदि में बहुत से ऐसे वैज्ञानिक हैं जो यूरोप का सब विज्ञान जानते हैं। पर ये यूरोपियों के शिष्य हैं। अब भारतीयों में जगद्गुरुत्व विज्ञान के विषय में नहीं रहा।

अब हमें ज्ञान और धर्म के विषय पर विचार करना है और दार्शनिक तथा धार्मिक सम्बन्ध में संसार में कैसे उन्नति हुई है, तथा इन विषयों में भारत का स्थान कौन सा है, यह देखना है। साथ ही साथ इस बात पर भी विचार करना है कि इस समय हमारा कर्त्तव्य क्या है।

भारतीयों की दृष्टि में मनुष्य की तीन अवस्थाएँ हैं--(१) तामसावस्था; जिसमें आलस और अज्ञान की प्रधानता है; (२) राजसावस्था; जिसमें झगड़े और जिद की मुख्यता है; (३) सात्विकावस्था; जिसमें ज्ञान और धर्म की मुख्यता है; और सब बातें गौण हैं। ज्ञान और धर्म का सम्बन्ध भी बहुत बड़ा है। ज्ञानपूर्वक धर्म को ही धर्म कहते हैं। अद्वैत से बढ़ कर ज्ञान नहीं और सर्वोपकार से बढ़कर धर्म नहीं है। अद्वैत ज्ञान से सर्वात्मभाव की उन्नति होती है, अर्थात् परमार्थ का प्रचार होता है। इन विषयों में भारत का जगद्गुरुत्व आज भी बना हुआ है।

भारत में तीन प्रकार के लोग हैं। बहुतेरे तो अशिक्षित हैं। कुछ थोड़े से लोग मुख्यतया वैदेशिक भाषा आदि के ज्ञाता विद्वान् हैं। थोड़े संस्कृत के विद्वान् हैं जो अंग्रेजी भाषाएँ या तो जानते ही नहीं, या थोड़ी जानते हैं। हिन्दी, बँगला आदि में अभी स्वतन्त्र ज्ञान-विज्ञान है ही नहीं। इसलिए उनके ज्ञाता या तो संस्कृत या अंग्रेजी जाननेवालों के अनुयायी हैं। इनकी पृथक् गणना नहीं की जा सकती। धार्मिक हठ, विचार की परतन्त्रता, अपने स्वार्थ के लिये ही दुनिया से सम्बन्ध रखना, बिना पैसा लिये किसी के काम न आना इत्यादि नवीन सभ्यता के लक्षण हैं। परस्पर स्वार्थ के धक्के में रात-दिन द्वेष-मोह, मामला-मुकदमा, चोरी-घूस आदि छोटे-छोटे बखेड़ों से लेकर वीभत्स युद्ध तक ऐसी ही सभ्यता में होते आये हैं। अतएव कहना चाहिए कि इस अवस्था में ज्ञान-विज्ञान का सदुपयोग नहीं हो रहा है।

प्राचीन भारत ने संसार में ज्ञान-विज्ञान तथा धर्म का प्रचार किया था। भारतीय धर्म के प्रचार से चीन और जापान को सभ्यता और शान्ति लाभ हुआ था। सबकी भलाई, सबका सुख-अर्थात् एक 'सर्व' शब्द ही इस धर्म का मूल मन्त्र था। वैदिक समयों के ऋषियों से लेकर भगवान् कृष्ण और गौतम बुद्ध आदि तक ने समय-समय पर इसी धर्म का प्रचार किया। इस धर्म में दूसरों को अपने धर्म में लाने की चेष्टा न की जाती थी और अपने सुख के लिये दूसरों की हानि की चेष्टा परम दुःख बताया जाता था। इस कारण धीरे-धीरे संसार से धार्मिक और नैतिक झगड़े दूर होते जाते थे। भारतवर्ष इस शान्ति का घर हो चला था। दूसरे देशों या दूसरे धर्मों पर आक्रमण करने की बात भारतमाता को न सूझी। किसी के मत्थे हम लोग अन्ध-विश्वास न

मढ़ते थे। सबको प्रमाण-पूर्वक वस्तु-ज्ञान कराते थे। धन जितना अपने लिये रखते थे, उससे कहीं अधिक परोपकार में लगाते थे। बल का उपयोग दुर्बलों की रक्षा ही में समझते थे। आज भी प्राचीन शिक्षावालों की यही समझ है।

अब तो भीतरी और बाहरी अनेक विघ्न-बाधाओं के फेर में पड़कर भारतीय धर्म का घर-बाहर सभी कहीं ह्रास हो गया है। पर यह धर्म सनातन है। इसका सर्वथा प्राणनाश कभी नहीं हो सकता। धर्मों की उत्पत्ति होती है और नाश भी होता है। संसार में अनेक धर्म उत्पन्न हुए और गये। दो-तीन हजार वर्ष पहले कोई धर्म न था। इस समय धर्म में किसी की श्रद्धा नहीं, पर धर्म का नाश नहीं है। "धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मोरक्षति रक्षतः"—धर्म के तिरस्कार से भयानक नाश उपस्थित हुए हैं। धर्म-धर्म चिल्लाते हुए लोग दूसरे का गला घोंटते आये हैं। पर सब की दृष्टि फिर धर्म की ओर आ रही है। बिना धर्म के ऐक्य नहीं, शान्ति नहीं, धर्म देश-काल से परिच्छिन्न है। धर्म सनातन और व्यापक है। हाल में अपने समाज के वार्षिक उत्सव के समय व्याख्यान देते हुए रवीन्द्र बाबू ने भी आजकल की अशान्ति को दूर करने का उपाय विश्व-व्यापक धर्म ही बतलाया है। पर साथ ही अपने-अपने देववादी मत को ही व्यापक धर्म कहा है। बुद्ध, कपिल आदि निरीश्वरवादियों से ऐक्य नहीं हो सकता। असली धर्म तो भगवान मनु ने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

यही धर्म है। सेश्वर, निरीश्वर किसी भी धर्म से इस धर्मांश में विरोध नहीं। प्रमाण से जैसी वस्तु सिद्ध हो उसे विद्वान् बिना झगड़े के मान लेते हैं।

अब यह देखना है कि सनातन और व्यापक धर्म के प्रचार में बाधाएँ क्यों उपस्थित हुईं, और इन बाधाओं से उद्धार के उपाय क्या हैं। जिनको इस धर्म का ज्ञान है उनका आलस ही इसके प्रचार का बाधक है और उन्हीं का उद्योग उद्धार का उपाय है। यहाँ की बाहरी दशा तो पहले से ही बिगड़ रही थी। इधर थोड़े दिनों से धर्मध्वजियों और नीति-निपुणों ने हमारी भीतरी दशा पर भी आघात आरम्भ किया है। नीतिज्ञों का कथन है कि हमारा सारा उद्योग और धन आदि ऐसी ही बातों पर नष्ट हुआ करे जो अपनी कृति से साध्य नहीं। उधर धर्मध्वजी चाहते हैं कि यहाँ पिंड देना या नहीं और मूर्त्ति-पूजा करना या नहीं, इत्यादि धार्मिक झगड़ों से सनातन दर्शन और विज्ञान को तिलाञ्जलि दे दी जाय और बाप-बेटे, स्त्री-पुरुष आदि में घोर अशान्ति उत्पन्न कर दी जाय। बाप हिन्दू, तो बेटा आर्यसमाजी। स्त्री हिन्दू, तो पति ब्रह्मसमाजी। ऐसी दशा में कैसे-कैसे झगड़े खड़े हो रहे हैं, यह सभी जानते हैं। देश में नैतिक और धार्मिक अशान्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। इन दोनों अशान्तियों को दबाना समाज का धर्म है।

इन झगड़ों से बचने का एक उपाय है। अज्ञान, निर्धनता और दुर्बलता—यह सब पाप का मूल है। हमारा समाज समझ जाने पर भी धार्मिक कार्यों से मुंह नहीं मोड़ता। हिन्दू-विश्वविद्यालय आदि के लिये कितनी खुशी से समाज ने दान दिया है, सो किसी से छिपा नहीं। पर समाज की दान-शक्ति और प्रतिग्रह-शक्ति बहुत बड़ी है। सामाजिक दान और प्रतिग्रह की शक्तियाँ कई प्रकार की हैं—साम्प्रदायिक, नैतिक, धार्मिक इत्यादि। साम्प्रदायिक बातों में अर्थात मन्दिर, मसजिद, गिरजा, विहार आदि के लिये हम दान देते हैं और पुरोहित-पंडे आदि से प्रतिग्रह अर्थात् लाभ भी उठाते हैं। यह कार्य खूब हो रहा है। नैतिक दान भी हमारा विशाल कर देना उचित है। उससे रक्षा का लाभ भी हमें मिल सकता है। इस दान-प्रतिग्रह के बाद भी समाज में बहुत धन और शक्ति ऐसी पड़ी है जिससे ठीक काम नहीं लिया जा रहा है। इस अवशिष्ट शक्ति का ठीक उपयोग धार्मिक कार्यों में होना चाहिए—'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्, परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम।" शक्ति के अनुसार सब लोग धन-दान करें और उस दान से ऐसे धर्म क्षेत्र स्थापित हों, जहां धनी-निर्धन सभी प्रामाणिक वस्तु-ज्ञान का, सर्वोपकारी धन का एवं सर्वरक्षक बल का लाभ करें। तभी हमारी अद्भुत दान-शक्ति का पूर्ण उपयोग होगा।

तीन कारणों से हम अज्ञ, अधम और दुर्बल हो रहे हैं। हमें वे पैसे की शिक्षा नहीं मिलती। पैसा सबके पास पहले ही से होना दुस्तर है। फिर शिक्षा-प्रणाली में रस्मी परीक्षाएँ हैं, जिनमें ऐसे-ऐसे विषय हैं जिनका न कोई उपयोग है और न जिनमें ठीक परस्पर सम्बन्ध ही है। इसके अतिरिक्त शिक्षा में वैदेशिक भाषा द्वार-स्वरूप है। सबको भाषा-ज्ञान के लिये दस वर्ष खर्च करने का अवकाश नहीं। आजकल की शिक्षा-प्रणाली से पेशकार, वकील आदि तैयार हो सकते हैं, पर वाग्भट्ट और भास्कर फिर इस देश में नहीं हो सकते। इसलिए हमारा धर्म है कि सामाजिक शक्ति से हम ऐसे धर्मक्षेत्रों की स्थापना का उद्योग करें जहाँ विद्यार्थियों को बिना फीस दिये, बिना दूसरी भाषा पढ़े, बिना रस्मी परीक्षा के ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति का, पुष्टि-साधन का और धनार्जन-योग्य होने का स्वतन्त्र अवसर मिले। जब इस धर्म के लिये धन देनी और इस धर्मक्षेत्र से ज्ञान आदि लाभ करना लोग सीखेंगे तभी देश का कल्याण होगा। धीरे-धीरे समस्त जगत् में ऐसे ही धर्म-क्षेत्र स्थापित हो जायँगे और व्यासोक्त परोपकार-मूलक धर्म के प्रचार से जगत् शान्ति लाभ करेगा।

शाश्वत धर्म प्रश्नोत्तरावली

प्र० १—शाश्वत या सनातन धर्म किसे कहते हैं ?

उ०—शाश्वत अथवा सनातन धर्म उन कर्त्तव्यों का पालन करना है जिनका प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक काल में पालन करना चाहिए।

प्र० २—क्या किसी जाति के रीति-रस्म सनातन कहे जा सकते हैं ?

उ०—नहीं, रीति और रस्म एक-देशीय तथा अल्पकालिक होने के कारण सनातन नहीं कहे जा सकते।

प्र० ३—सनातन धर्म के दर्शनानुसार कौन-कौन प्रमाण हैं ?

उ०—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—ये तीन प्रमाण हैं।

प्र० ४—शब्द कब प्रमाण माना जाता है ?

उ०—केवल आज्ञासूचक शब्द ही मानने योग्य है (यानी प्रमाणित है) और आज्ञा के विषय में ही उनका प्रमाण है।

प्र० ५—कैसी बात संदिग्ध होती है ?

उ०—केवल वही बात, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से जानी जा सके, तबतक संदिग्ध है जबतक उसका ठीक रीति से प्रत्यक्ष अथवा अनुमान न किया गया हो।

प्र० ६—कैसी बात असंगत है और इसलिए कभी सत्य हो ही नहीं सकती ?

उ०—जो बात परस्पर-विरुद्ध हो, अथवा किसी ऐसी बात के विरुद्ध हो जो ठीक रीति से प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाँची जा चुकी हो, कदापि सत्य नहीं हो सकती।

प्र० ७—कैसी बात को अवश्य ही सत्य मानना चाहिए ?

उ०—जिसका पक्का प्रत्यक्ष हो चुका हो, अथवा पक्का अनुमान हो चुका हो, वह बात अवश्य ही ठीक है।

प्र० ८—सलाह किसे कहते हैं ? आज्ञा किसे कहते हैं ? और वस्तु-स्थिति (Matter of fact) किसे कहते हैं ?

उ०—यदि कोई साधारण उपदेश फल को विचार कर माना जाए, अथवा न माना जाए, तो उसे सलाह कहते हैं। यदि कोई आज्ञा-सूचक उपदेश, फलदायक होते हुए भी, फल का विचार किए बिना ही, पालन किया जाए तो उसे आज्ञा कहते हैं। जो आज्ञा विषय के बाहर हो तथा है, था और होगा के रूप का हो वह वस्तु-स्थिति कहलाता है। आज्ञा से 'होना चाहिए' (Oughtness) तथा वस्तु-स्थिति से अस्तित्व (is-ness) जाना जाता है।

प्र० ९—दिव्य शक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—असंगतियों से रहित तथा ठीक-ठीक विचार करने की शक्ति दिव्य शक्ति है।

प्र० १०—जादू और अद्भुत किसे कहते हैं ? भूत किसे कहते हैं ?

उ०—जादू और अद्भुत दोनों छल हैं, जिसे झूठ धर्मवाले अथवा अधर्मी, पाखंडी और धूर्त दिखाया करते हैं, और जिसे वैसे ही मूर्ख लोग सत्य समझते हैं, जो सतर्कतापूर्वक परीक्षण (Observation) नहीं करते, और न जो किसी वस्तु को परीक्षित (Experiment) करने का ही कष्ट उठाना चाहते हैं। विचारों (Ideas) के आतंकजनक संयोग या वियोग की स्मृति के कारण बाहरी वायुमंडल में, किसी पुरुष, स्त्री अथवा पशु के आकार की प्रतीति होती है—यही भूत कहलाता है और यह भ्रममात्र है।

प्र० ११– क्या कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है ?

उ०—कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता !

प्र० १२—क्या ईश्वर या कोई देवता या पिशाच किसी के लिए पृथ्वी पर आ सकता है या किसी जानवर आदि के रूप में देखा जा सकता है ?

उ०—नहीं। ईश्वर सर्वात्मा है (Omni-ontal) और उसके बारे में आने-जाने की चर्चा सर्वथा असंगत है। देवता और असुर केवल मानसिक कल्पना है अथवा असुर अच्छे या बुरे प्राकृतिक तत्त्व। वे कदापि जानवर आदि का रूप धारण नहीं कर सकते। वे अपनी निश्चित गति का अनुसरण करते हैं, जो किसी को प्रयोजन-सिद्धि के लिए बदल नहीं सकती।

प्र० १३—प्रकृति किसे कहते हैं ? क्या प्रकृति को किसी ने बनाया है या प्रकृति स्वयंभू (Self-Existent) है ?

उ०—जो कुछ है , वह प्रकृति है। प्रकृति स्वयंभू है। वह न तो उत्पन्न की गई है, न बनाई गई है। केवल प्राकृतिक तत्त्वों का कृत्रिम संयोग (Combination) ही किसी जीव धारी के द्वारा बनाया जाता है।

प्र० १४—ईश्वर किसे कहते हैं ? क्या ईश्वर और प्रकृति दो वस्तुएँ हैं।?

उ०—शाश्वत धर्म के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और प्रकृति एक ही वस्तु (Identical) हैं। दोनों में भेद नहीं है। ईश्वर या प्रकृति के अनन्त भेद हैं। ईश्वर या प्रकृति स्वयं सर्वमय है। जो शरीर का अंगों से संबंध है वही ईश्वर का विविध वस्तुओं से।

उपोद्घात

कई वर्ष हुए मैंने निर्वचनशास्त्र के आधार पर एक नवीन शैली के व्याकरण की रचना कर "देवनागर" में प्रकाशित कराया था। यह व्याकरण शैली एक नया आविष्कार है। इस व्याकरण को देख "देवनागर" के सम्पादक की बड़ी उत्कंठा हुई कि इस शैली का एक विस्तृत व्याकरण बने, पर अवसर के अभाव से ऐसा व्याकरण नहीं बन सका।

गत वर्ष वङ्गीय शिक्षा विभाग के अध्यक्ष महाशय के आदेशानुसार मैंने हिन्दी व्याकरण और वाक्यरचना के पढ़ाने के प्रकार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखा था। और उसमें मैंने यह सूचित किया था कि प्राचीन शैली के व्याकरण अशुद्धियों से भरे हैं।

इसके थोड़े दिनों के बाद बाँकीपुर के खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष ने मुझसे अनुरोध किया कि, आप हिन्दी का एक व्याकरण अपनी शैली पर लिखें। इस अनुरोध के अनुसार मैंने देवनागर में प्रकाशित अपने व्याकरण की शैली पर एक व्याकरण लिखा। पहले पहल इसको बढ़ाना मैंने अच्छा नहीं समझा। यदि यह शैली हिन्दी-प्रेमियों को अच्छी जान पड़ेगी तो इसी आधार पर एक अति विस्तृत व्याकरण बनाया जायगा।

मेरे व्याकरण के देवनागर में प्रकाशित होने पर हिन्दी के प्रेमी देवनागर के सम्पादक बाबू यशोदानन्दन अखौरी मेरी नवीन आविष्कृत शैली का एक बड़ा व्याकरण अपनी हिन्दी-ट्रैन्स्लेटिङ्ग कम्पनी के लिये चिरकाल से मुझसे माँगते आते थे। पर अवसर के अभाव से बड़ा व्याकरण अभी-तक नहीं लिखा जा सका।

खड्गविलास प्रेस ने, आज जो व्याकरण पाठकों के सामने है, उसे जब अपने कार्य्यों के लिये पर्याप्त नहीं समझा तब मैंने बाबू यशोदानन्दन अखौरी जी की चिरकालिक प्रार्थना का स्मरण कर इस व्याकरण को प्रकाशित करने के लिये उनसे अनुरोध किया। मेरे अनुरोध को सादर स्वीकार करने के लिये अखौरीजी को अनेक धन्यवाद है।

रामावतार शर्म्मा।

आषाढ़ शु० ५
संवत् १९६७

हिन्दी-व्याकरणसार

वाक्य-विस्तार

भाषा लिखने और बोलने में व्यवहार होता है। परन्तु व्यवहार में सदा भाषा शुद्ध ही रूप से आवे ऐसा नहीं देखने में आता। 'गाय चरती है' के बदले बहुत से लोग 'गाय चरता है' लिख देते हैं, 'पानी बरसता है' के बदले 'पानी बरसती है' लिख देते हैं, 'आप जाते हैं' के बदले कितने ही लोग 'आप जाते हो' लिख देते हैं। ऐसे स्थलों में कहना कठिन पड जाता है कि 'गाय चरती है' इत्यादि रूप शुद्ध है या 'गाय चरता है' शुद्ध है। शुद्ध रूपों का निश्चय कर व्यवहार में यथासम्भव अशुद्धियों को न आने देना व्याकरण का काम है। इस लिए व्याकरण उस विद्या को कहते हैं जिससे भाषा का शुद्ध रूप जाना जाय।

जो जिस भाषा को पहले ही से जानता है उसे उस भाषा के व्याकरण के जानने से उसका शुद्ध रूप जान पडता है और जो उस भाषा को नहीं जानते हैं। उन्हें सुगमता से उसका ज्ञान होता है। व्याकरण के ज्ञान का यह भी फल है कि एक भाषा का व्याकरण जानने से दूसरी भाषा सुगमता से सिखी जा सकती है।

भाषा के मुख्य अङ्ग वाक्य हैं

जब हम लोग 'गाय चरती है' 'घोड़ा दौड़ता है' इत्यादि बोलते हैं तब वाक्यों का प्रयोग करते हैं। जिससे कुछ पूरा अर्थ निकले ऐसी बात को वाक्य कहते हैं। 'गाय चरती है' ऐसा कहने से गाय के विषय में एक बात मालूम होती है। केवल 'गाय' कहने से या केवल 'चरती है' कहने से बात पूरी नहीं होती इस लिए ऐसे शब्दों को वाक्य नहीं कह सकते।*

अब यह विचार करना चाहिये कि वाक्य का क्या स्वभाव है और उसके कितने अङ्ग हैं। जब कोई वाक्य हमलोग बोलते हैं तब उसमें दो अङ्ग अवश्य रहते हैं, एक अङ्ग यह है कि जिसके विषय में कुछ कहा जाय। इस अङ्ग को उद्देश्य कहते हैं।

---

* नोट—जब कभी 'यह क्या है'? 'गाय क्या करती है'? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में 'गाय' 'चरती है' इत्यादि कहा जाता है तो यहाँ 'गाय' का अर्थ 'यह गाय है' और 'चरती है' का अर्थ 'गाय चरती है' इत्यादि समझना चाहिए। इसलिए ऐसे स्थानों में 'गाय' एक वाक्य है, क्योंकि 'यह गाय है' इसके बदले में केवल 'गाय' शब्द का प्रयोग है और एक ही शब्द से पूरे अर्थ का बोध हो जाता है।

उद्देश्य के विषय में जो कुछ कहा जाय वह वाक्य का दूसरा अङ्ग है। इस अङ्ग को विधेय कहते हैं। गाय चरती है इस वाक्य में 'गाय' उद्देश्य है। क्योंकि गाय के विषय में कुछ कहा गया है, 'चरती है' विधेय है क्योंकि यही बात गाय के विषय में कही गई है।

प्रश्न

(१) गाय, घोड़ा, बकरी, कुत्ता, बिल्ली, चिड़िया और वृक्ष के विषय में एक एक वाक्य कहो।

(२) उड़ती है, दौड़ता है, खाता है, हरा है, चरती है, भूकता है, इन बातों को उचित शब्द मिला कर पूरा करो।

(३) यह फूल लाल है, हाथी बहुत बड़ा होता है, कौआ काला होता है, बिल्ली बोलती है, लड़का घर से आता है, पुस्तक कहाँ है, लेखनी टूट गई, टोपी गिरी, धोती मैली है, कुत्ता भागता है, इन वाक्यों में कितना उद्देश्य है और कितना विधेय है, बताओ।

जब हम लोग गाय, घोड़ा इत्यादि वस्तुओं को देखते हैं तो उनके विषय में अनेक विचार उत्पन्न होते हैं। इन विचारों को छोटे या बड़े वाक्यों के द्वारा देख कर एक लड़का दूसरे लड़के से कहता है कि 'खेत में गाय चरती है' ऐसे ही सड़क पर घोड़े को भागते हुए देख कर लड़का बोलता है कि 'सड़क पर घोड़ा दौड़ता है'। कभी-कभी थोड़े में 'गाय चरती है' घोड़ा दौड़ता है' इत्यादि कहते हैं और कभी-कभी 'हरे खेत में प्रातः काल राम की गाय धीरे-धीरे घास चर रही है', 'मेरे घर के समीप सड़क पर श्याम का लाल घोड़ा दौड़ा जा रहा था' इत्यादि विस्तृत रूप से वाक्य बढ़े जाते हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि वाक्य के मुख्य अङ्ग उद्देश्य और विधेय हैं। अब यह समझना चाहिए कि जिन शब्दों से उद्देश्य के स्थान, गुण, रूप, स्वभाव इत्यादि का वर्णन किया जाय उन्हें उद्देश्य का विस्तार कहते हैं। और जिन बातों से विधेय में कुछ विशेष बतलाया जाय उन्हें विधेय का विस्तार कहते हैं। 'हरे खेत में प्रातः काल राम की गाय धीरे-धीरे घास चर रही है' इस वाक्य में 'गाय' उद्देश्य है और 'चर रही है' विधेय है। 'रामकी' उद्देश्य का विस्तार है, 'हरे खेत में प्रातः काल धीरे-धीरे' यह विधेय का विस्तार है। इसी प्रकार और वाक्यों में भी समझना चाहिए।

प्रश्न

(१) गाय चरती है, घोड़ा दौड़ता है, बकरी बोलती है, वृक्ष गिरा, लड़का आयेगा, इन वाक्यों को उद्देश्य का विस्तार लगाकर बढ़ाओ।

(२) लड़की जाती है, कुत्ता भूकता है, चिड़िया उड़ती है, भेड़ी आती है, बिल्ली भागती है, भैंस दौड़ती है, गाय आती है, इन वाक्यों को विधेय का विस्तार देकर बढ़ाओ।

(३) गाय आती है, लड़का गाता है, ऊँट आता है, आम गिरता है, भैंस बोलती है, बिल्ली आती है, गाय जाती है, इन वाक्यों को उद्देश्य और विधेय दोनों के विस्तार देकर बढ़ाओ।

अब यह देखना है कि उद्देश्य का विस्तार कितने प्रकार से हो सकता है और विधेय का विस्तार कितने प्रकार से। काला घोड़ा आता है, चलती रेलगाड़ी से वह कूद गया। मोहन की गाय चर रही है इत्यादि वाक्यों के देखने से जान पड़ता है कि उद्देश्य के विस्तार के मुख्य तीन प्रकार हैं * (१) उद्देश्य का गुण कहने से या (२) उद्देश्य का कुछ काम कहने से या (३) उद्देश्य का दूसरे से सम्बन्ध कहने से। क्रम से उदाहरण—लाल घोड़ा दौड़ता है—यहाँ 'लाल' घोड़े का गुण है, चलती गाड़ी उलट गई—यहाँ 'चलती' (हुई) गाड़ी का एक काम है, राम का बैल खेत में चर रहा है यहाँ 'राम का बैल' से सम्बन्ध जनाया गया।

प्रश्न

(१) छोटे-छोटे पाँच ऐसे वाक्य बनाओ जिनमें गुण कहकर उद्देश्य का विस्तार किया गया हो।

(२) छोटे-छोटे पाँच ऐसे वाक्य बनाओ जिनमें काम कहकर उद्देश्य का विस्तार किया गया हो।

(३) छोटे-छोटे पाँच ऐसे वाक्य बनाओ जिनमें सम्बन्ध बतला कर उद्देश्य का विस्तार किया गया हो।

शीघ्र दौड़ो, आम लाओ, वह जाकर पुस्तक लाया, इत्यादि वाक्यों के देखने से जान पड़ता है कि विधेय का विस्तार प्रायः तीन प्रकार से होता है;—(१) या तो विधेय के विशेषणों से, (२) या कारकों से, (३) या पूर्वकालिक से। धीरे चलो, शीघ्र आओ इत्यादि वाक्यों में 'धीरे', 'शीघ्र' इत्यादि विधेय विशेषण हैं। खेत में घोड़ा चरता है, राम को गाय दो, पुस्तक लाओ, घोड़े से गिरा, छुरी से काटो इत्यादि वाक्यों में 'खेत में' 'रामको' 'पुस्तक' 'घोड़े से' 'छुरी से' इत्यादि कारक हैं। वह खाकर घर गया, राम घोड़े से गिर कर उठा इत्यादि वाक्यों में 'खाकर।', 'गिरकर' इत्यादि पूर्वकालिक हैं।

कारक उन्हें कहते हैं जो क्रिया की अर्थात् किसी काम की उत्पत्ति में सहायता दे। 'राम ने घर में आलमारी से श्याम के लिये हाथ से पुस्तक निकाली' इस वाक्य में निकालना काम अर्थात् एक क्रिया है। इसकी उत्पत्ति में सहायक राम, घर, आलमारी, श्याम, हाथ और पुस्तक हैं। इसलिये ये सब कारक हैं। पूर्वकालिक का अर्थ है जो काम पहले करके दूसरा काम किया जाय।

---

* नोट—उद्देश्य के विस्तार के और प्रकार वाक्यरचना के प्रकरण में दिये जायँगे।

रामने घर में श्रालमारी से श्याम के लिये हाथ से पुस्तक निकाली, इत्यादि वाक्य के देखने से विदित होगा कि क्रिया की उत्पत्ति में छः प्रकार के सहायक हो सकते हैं। पहला सहायक वह है जो काम करे * जिसे कर्त्ता कहते हैं; दूसरा सहायक वह है जिस पर उस काम का असर हो जिसे कर्म्म कहते; तीसरा सहायक वह है जिसके द्वारा काम हो जिसे करण कहते; चौथा सहायक वह है जिसके लिये काम किया जाय। जिसे सम्प्रदान कहते; पाँचवाँ सहायक वह है जिसके श्राश्रय से करनेवाला काम करे जिसे अधिकरण कहते हैं और छठा वह है जिसके द्वारा एक वस्तु से दूसरी वस्तु का वियोग होता है जिसे अपादान कहते हैं।

प्रश्न

(१) दौड़ता है, जाता है, खाती है, सोती है, इन क्रियायों का कर्त्ता के योग से विस्तार करो।

(२) आया, गया, लाश्रो, किया, खाश्रो, इन क्रियाओं का कर्म के योग से विस्तार करो।

(३) काटा, मारा, लाया, किया, खाया, इन क्रियाओं का करण कारक के योग से विस्तार करो।

(४) आया है, गया था, जाएगी, करेगी, लाई थी, इन क्रियाओं का सम्प्रदान के योग से विस्तार करो।

(५) गिरा, छूटा भागे, इन क्रियाओं का अपादान कारक के योग से विस्तार करो।

(६) बैठा है, सोती थी, नहाती है, खाती है, लाया था, इन क्रियाओं का अधिकरण कारक के योग से विस्तार करो।

(७) रामने रावण को मारा, उसने छुरी से आम काटा, मैंने नदी में स्नान किया, वह श्याम के लिये पुस्तक लाया, वृक्ष से पत्ता गिरा इन वाक्यों में कारकों की पहचान करो।

राम ने मारा, पुस्तक लाओ, छुरी से काटो, मोहन के लिये आम लाओ, वृक्ष से पत्ता गिरा, नदी में स्नान करता है इत्यादि वाक्यों के देखने से यह विदित होगा कि कारकों की पहचान के लिये कई विशेष शब्द लगाये जाते हैं। कर्त्ता में 'ने' लगाया जाता है, कर्म में 'को' लगाया जाता है, करण में 'से' लगाया जाता है, सम्प्रदान में 'को' वा 'के लिये' लगाया जाता है, अपादान में 'से' लगाया जाता है, और अधिकरण में 'में' 'पै' 'पर' लगाये जाते हैं। I

---

* उद्देश्य के विस्तार के और प्रकार वाक्य-रचना के प्रकरण में दिये जायेंगे।

I नोट—किन्तु 'आम लाओ' 'लड़का घुटनों चलता है' इत्यादि वाक्यों के देखने से जान पड़ता है कि कहीं 'को' 'ने' 'से' इत्यादि शब्द नहीं भी दिये जाते।

मैंने आम खाया, लड़की खाती है, श्याम आवेगा, यदुनन्दन आया होगा, लल्लू ने रोटी खाई, घोड़े दौड़ रहे हैं, कमला सो चुकी, मधुमक्खियाँ भनभना रही हैं, इत्यादि अनेक वाक्यों की परीक्षा करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'ने' 'में' और 'पर' इत्यादि ऐसे शब्द हैं जिनका रूप सदा ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे शब्दों को अव्यय कहते हैं। और काला-काली, घोड़ा-घोड़े, था, थीं, इत्यादि कितने ऐसे शब्द हैं जिनमें अर्थ के अनुसार उनके रूप में भेद पड़ता है। जिन शब्दों के रूप में भेद पड़ता है वे चार प्रकार के हैं—संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम, और गुणवाचक या विशेषण। जो किसी वस्तु का नाम हो उसे संज्ञा कहते हैं; जिससे किसी व्यापार का बोध हो उसे क्रिया कहते हैं; जो संज्ञा के स्थान में आता है उसे सर्वनाम कहते हैं और जिससे संज्ञा का गुण प्रकाश हो उसे गुणवाचक या विशेषण कहते हैं। इस प्रकार शब्दों के पाँच भेद हैं; (१) संज्ञा (२) क्रिया (३) सर्वनाम (४) गुणवाचक और (५) अव्यय। उदाहरण—राम, कृष्ण, घोड़ा, आना, जाना, करना, मैं, वह, अच्छा, लाल, काला, था की, ओह! इत्यादि।

प्रश्न

(१) राम आता है, मोहन और सोहन ने आम तोड़ा, लड़कियों ने गाया, मुझे कष्ट मत दो, लल्लू या कल्लू आवें, ईश्वर सब प्राणियों का रक्षक है, राम प्रतिदिन आता था किन्तु आज वह नहीं आया, मैं कल आरा जाऊँगा, काली घोड़ी अच्छी होती है, उस हरी टोपी को लाओ—इन वाक्यों में संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम, गुणवाचक और अव्यय बताओ।

जिस प्रकार उद्देश्य का विस्तार हो सकता है उसी प्रकार क्रिया और अव्यय से भिन्न जितने शब्द हैं सभी का विस्तार हो सकता है। केवल गुणवाचक और सर्वनामों के विस्तार में कुछ विशेष है। गुणवाचकों में विशेष दिखलाने वाले शब्द क्रियाविशेषण के सदृश होते हैं। सर्वनामों में गुणवाचक और सम्बन्ध बोधक नहीं लगते, केवल क्रिया द्योतक ही विशेषण लग सकते हैं।

कर्त्ता के विस्तार का उदाहरण—दौड़ती हुई भैंस ने अपने बच्चे को गिरा दिया। राम के घोड़े ने सत्तू खाया। छोटे बालक ने आम खाया—इत्यादि।

कर्म्म के विस्तार का उदाहरण—टेबुल पर रखी हुई पुस्तक लाओ। राम की पुस्तक लाओ। वह जिल्दवाली पुस्तक ले गया था—इत्यादि।

करण के विस्तार के उदाहरण—राम ने रावण को चमकते हुए बाण से मारा। बड़ी तीक्ष्ण छुरी से उसे काटो। राम की छुरी से काटो—इत्यादि।

सम्प्रदान के विस्तार का उदाहरण—मैं उत्तम वर्ग में पढ़ते हुए श्याम के लिये

यह पुस्तक लाया हूँ। उस काली घोड़ी के लिये यह लगाम अच्छी है। राम की गाय के लिये मैं घास लाया हूँ—इत्यादि।

अपादान के विस्तार का उदाहरण—राम के बगीचे के पेड़ों से पत्ते गिर रहे हैं। दौड़ते हुए घोड़े से राम गिर पड़ा, बड़े ऊँचे पर्वत से पानी गिर रहा है—इत्यादि।

अधिकरण के विस्तार का उदाहरण—उस तरङ्ग मारती हुई नदी में नाव डूब गई। उस बड़े चौड़े कमरे में कल हरिकीर्त्तन हुआ था। आजकल राम के तालाब में पानी एकदम नहीं है—इत्यादि।

प्रश्न

(१) कर्त्ता, कर्म्म, करण इत्यादि छओं कारकों के विस्तार का एक-एक उदाहरण दो।

(२) उस ऊँचे काले घोड़े पर वह आज जा रहा था, उस बूढ़े मनुष्य ने आज बड़ा काम किया, आज उस बड़ी तरंग मारने वाली नदी में एक नाव डूब गई, मोहन के लड़के के लिये इस पीले अमरूद को ले आओ, अहा! उस ऊँचे झरने से पानी कैसा गिर रहा है, इन वाक्यों में कर्त्ता, कर्म, करण, इत्यादि कारकों के कौन-कौन विस्तार हैं, बताओ। (३) राम ने मारा, पुस्तक लाओ, कुदाली से कोड़ो, वृक्ष से पत्ते गिरे, बच्चे के लिये यह खिलौना है, घोड़े पर राम जा रहा है, इन वाक्यों को कारकों के विस्तार दे कर बढ़ाओ।

अब संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम और विशेषण के रूपों में किस प्रकार कैसे-कैसे विशेष पड़ता है, सो दिखलाया जाता है।

संज्ञा के दो लिङ्ग, दो विभक्ति और दो वचन होते हैं।

पुरुष जाति अथवा प्रौढ़ अर्थ के वाचक शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं। स्त्री जाति या सुकुमार अर्थ के वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। जैसे, राजा, रानी, दास-दासी, घोड़ा-घोड़ी—इत्यादि। नाम से और धातु से कुछ प्रत्यय* ऐसे आते हैं जिन्हें विभक्ति कहते हैं। नाम से दो विभक्तियाँ आती हैं—प्रथमा और द्वितीया। I

---

*प्रत्यय उन अक्षरमय चिह्नों को कहते हैं जिनका स्वयं कुछ अर्थ नहीं पर दूसरे शब्दों में मिलने से, उन शब्दों के अर्थ में परिवर्त्तन करते हैं। हिन्दी में विभक्तियाँ कभी शब्दों में इस प्रकार मिल जाती हैं कि स्पष्ट पृथक् नहीं मालूम होतीं। भाषा-तत्त्वज्ञों के मतानुसार किसी समय में प्रत्यय भी पृथक् सार्थक शब्द थे और घिसते-घिसते वर्त्तमान रूप को पहुँचे हैं।

I संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में सात विभक्तियों को देख कर हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में भी विचारशून्य व्याकरण लेखकों ने सात विभक्तियों की कल्पना की है। आगे स्पष्ट दिखलाया गया है कि हिन्दी में दो ही विभक्तियाँ हैं। संस्कृत की सब विभक्तियों के बदले हिन्दी में कैसे काम चलता है, सो आगे दिखाया गया है।

प्रथमा दो प्रकार की है साधार और सम्बोधनार्थक। प्रथमा और द्वितीया दोनों में दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। एक को कहना हो तो एकवचन होता है और एक से अधिक कहना हो तो बहुवचन आता है।

अकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	राम	राम	(हे) राम।
ब०	राम	रामों	(हे) रामो।

आकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	घोड़ा	घोड़े	घोड़ा, घोड़े
ब०	घोड़े	घोड़ों	घोड़ो

संस्कृत के शब्द राजा आदि में द्वितीया के बहुवचन में 'आ' और 'ओ' और प्रथमा के बहुवचन में 'आ' का 'ए' प्रायः नहीं होता।

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	राजा	राजा	राजा ।
ब०	राजा	राजाओं	राजाओं ।

इकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	हरि	हरि	हरि
ब०	हरि	हरियों	हरियो

ईकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	बली	बली	बली ।
ब०	बली	बलियों	बलियो ।

उकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	प्रभु	प्रभु	प्रभु ।
ब०	प्रभु	प्रभुओं	प्रभुओ ।

ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग

	प्र० सा०	द्वि०	प्र० सं०
ए०	लड्डू	लड्डू	लड्डू ।
ब०	लड्डू	लड्डूओं	लड्डूओ ।

हिन्दी में ऋ आदि स्वरान्त शब्द कम होते हैं। हों तो द्वितीया बहुवचन में "ओं" लगाना चाहिए। और बातों में कोई विशेष नहीं है।

स्त्रीलिङ्ग

	अकारान्त		आकारान्त	
	प्र०	द्वि०	प्र०	द्वि०
ए०	बात	बात	गैया	गैया
ब०	बातें	बातों	गैयें	गैयों

संस्कृत आकारान्त शब्द में 'एं' 'ओ' पूर्वस्वर में नहीं मिलते यही विशेष है जैसे:—

	प्र०	द्वि०
ए०	लता	लता
ब०	लताएं	लताओं *

	ईकारान्त		ऊकारान्त	
	प्र०	द्वि०	प्र०	द्वि०
ए०	नदी	नदी	बहू	बहू
ब०	नदियां	नदियों	बहुएँ, बहुयां	बहुओं

सब शब्दों के सम्बोधन का एकवचन प्रथमा के एकवचन-सा होता है और बहुवचन अनुस्वार रहित द्वितीया बहुवचन-सा होता है। जैसे :—

हे राम, हे मनुष्यो, हे नदियो, इत्यादि।

सर्वनामों के रूप दोनों लिंगों में

(सर्वनाम सभी के लिये आते हैं। इनमें सम्बोधन प्रायः नहीं होता)

	प्र०	द्वि०	प्र०	द्वि०
ए०	वह	उस, उसे	यह	इस, इसे
ब०	वे	उन, उन्हें	ये	इन, इन्हें
ए०	तू	तुझ, तुझे	मैं	मुझ, मुझे
ब०	तुम	तुम, तुम्हें	हम	हम, हमें
ए०	जो, जौन,	जिस, जिसे	सो, तौन	तिस, तिसे
ब०	जो, जौन,	जिन, जिन्हें	सो, तौन	तिन, तिन्हें
ए०	को, कौन	किस, किसे		
ब०	को, कौन	किन, किन्हें I		

---

* इन रूपों के देखने से ज्ञात होता है कि पुंल्लिङ्ग अकारान्त तथा आकारान्त शब्दों में 'ओं' 'ओं' इकारान्त एवं ईकारान्त शब्दों में 'यों' और उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में 'ओं' 'ओं' विभक्ति चिह्न है। स्मरण रखना चाहिये कि बहुवचन में विभक्ति-चिह्न के पहले दीर्घ ई और दीर्घ ऊ ह्रस्व हो गये हैं।

I तू तुम आदि मध्यम पुरुष के सर्वनाम, मैं, हम आदि उत्तम पुरुष के और शेष अन्य पुरुष के कहे जाते हैं।

विशेषण में केवल इतना ही भेद पड़ता है कि आकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त हो जाता है, और विशेष्य यदि बहुवचन हो या उसके आगे यदि कारकार्थक अव्यय अथवा का, के, की, लगा हो तो पुँल्लिङ्ग के अन्त 'आ' का 'ए' हो जाता है। जैसे,—काला घोड़ा, काली घोड़ी, काले घोड़े में, काले घोड़े का इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग में काली सदा ज्यों का त्यों रहता है। जैसे, काली घोड़ी ने, काली घोड़ी का इत्यादि।

'आप' दोनों विभक्तियों और दोनों वचनों में एक-सा होता है। दो तीन इत्यादि संख्यावाचक शब्द और दोनों-तीनों आदि संख्या समुच्चय शब्द नित्य बहुवचनान्त दोनों विभक्तियों में एक-से रहते हैं। एक शब्द एकवचनान्त अविकृत रहता है। अनेक शब्द और बहुत शब्द (संख्यावाचक) नित्य बहुवचनान्त है। जैसे :—

	प्र०	द्वि०
ब०	अनेक	अनेकों

*हिन्दी में दो विभक्तियाँ और दो वचन कहे गये हैं। संस्कृत आदि भाषाओं में तीन वचन कहे गये हैं—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। किन्तु आधुनिक भाषाओं में केवल दो वचनों का प्रयोग किया जाता है। द्विवचन के स्थान में बहुवचन ही लिखा जाता है। संस्कृत में सात विभक्तियाँ हैं—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी। संस्कृत में यही सात विभक्तियाँ संज्ञा आदि के साथ आने वाली कही गई हैं और कुछ विभक्तियाँ क्रिया के साथ लगाई जाती हैं। विभक्ति उन चिह्नों को कहते हैं जिनसे वचनों का बोध हो और जो दो शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बतलावें। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में वचन बोधक प्रथमा और द्वितीया दो विभक्तियाँ हैं जैसा ऊपर दिखाया गया है। एक शब्द से दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध के बोध के लिये कहीं तो इन्हीं दो विभक्तियों और कहीं कारकार्थक अव्ययों का प्रयोग होता है और कहीं तद्धित के प्रत्ययों से काम चलता है। नीचे की सूची से यह विदित होगा कि संस्कृत की विभक्तियों का अर्थ हिन्दी में किस प्रकार प्रकाशित किया जाता है।

प्रथमा—प्रथमा
द्वितीया—द्वितीया अथवा 'को' अव्यय
तृतीया—'ने' और 'से' अव्यय
चतुर्थी—'को' वा 'के लिये' इत्यादि अव्यय
पञ्चमी—'से' अव्यय
षष्ठी—तद्धित प्रत्यय 'का' *
सप्तमी—'में' 'पर' इत्यादि अव्यय

* 'का' प्रत्ययान्त विशेषण होते हैं। इनका रूप आकारान्त विशेषणों के ऐसा होता है, जैसे, पुँल्लिङ्ग में 'काला' और स्त्रीलिङ्ग में 'काली' बहुवचन आदि में 'काले' होता है। वैसे ही पुँल्लिङ्ग में 'रामका' स्त्रीलिङ्ग में 'राम की' बहुवचन आदि में 'रामके' होना है।

इन अव्ययों के साथ जो शब्द आवेंगे सो द्वितीया विभक्ति में रहते हैं। 'का' प्रत्यय के साथ द्वितीया विभक्ति का चिह्न नहीं रहना उचित था, पर प्रयोग के अनुसार सदा द्वितीया विभक्ति ही देखी जाती है, उदाहरण :—

राजाओं का सम्मान, उनका ग्रन्थ, इत्यादि ।

अव्यय

अव्ययों के चार* विभाग हैं। कारकार्थक, क्रिया-विशेषण, योजक (समुच्चायक) और क्षेपक। कारकार्थक वे हैं जो दो शब्दों का सम्बन्ध बताते हैं। जैसे 'को' 'ने' इत्यादि। जो दो वाक्यों का संबंध बताते हैं वे योजक हैं जैसे, 'और' 'या' इत्यादि। जो क्रिया या गुण में विशेषण लाते हैं वे क्रिया विशेषण हैं। जैसे, खूब, धीरे इत्यादि। जो अपने ही से पूर्ण अर्थ देकर एक ही शब्द का अलग वाक्य बनाते हैं वे क्षेपक हैं। जैसे, 'आ' 'अरे' 'ओः' इत्यादि।

१—कारकार्थक

'ने' कर्तृवाचक, 'को' कर्मवाचक और सम्प्रदानवाचक; 'से' कर्तृवाचक, करणवाचक और अपादानवाचक; 'के लिये' सम्प्रदानवाचक; 'में' 'पर' अधिकरणवाचक; 'सा' सादृश्यवाचक; इसी प्रकार बिन, बिना और प्रति इत्यादि और भी अनेक कारकार्थक अव्यय हैं।

२—क्रिया विशेषण

नीचे ऊपर दोनों तीनों आदि आजकल परसों सम्प्रति मिथ्या, अवश्य, जरूर पर खूब शाम सुबह दिन रात फिर, पुनः झटपट अभी अति बहुत फरक अलग जब तब अब तब जहाँ कहाँ तहाँ यहाँ वहाँ जैसे कैसे वैसे तैसे ज्यों त्यों ज्योंही त्योंही क्यों यों सदा सर्वदा कदापि कदाचित् जभी कभी तभी अभी वृथा आगे पीछे कुछ थोड़ा चुपचुप न नहीं मत इधर उधर इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

३—योजक

जो तो या वा नकि कि न तो नहीं तो इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

४—क्षेपक

क्या हे हो अहो रे अरे ऐ अजी हा अस्तु हुँ छिः धिक् बस वाह भला चुप ठीक ऐं इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

धातु I

जैसे नाम दो प्रकार के हैं वैसे ही धातु भी दो प्रकार के हैं अर्थात् केवल और समस्त (समासयुक्त यौगिक)। यहाँ कुछ 'केवल' धातुओं के रूप दिये जायेंगे।

---

* अव्यय स्वतन्त्र इष्टार्थक नहीं होते।

I धातु उस शब्द को कहते हैं, जिससे अपूर्ण व्यापार का बोध हो।

वैसे ही समस्त धातुओं के भी रूप जानने चाहियें। हिन्दी के धातुओं के मुख्य दो ही रूप होते हैं—वर्तमानार्थक और संभावनार्थक। इन दोनों में दो वचन और तीन पुरुष होते हैं। धातु रूप को क्रिया भी कहते हैं। क्रिया 'मैं' और 'हमसे' समानाधिकरण हो तो उत्तमपुरुष समझना चाहिए। 'तू' वा 'तुम' से समानाधिकरण हो तो मध्यम पुरुष और शेष प्रथमपुरुष।

एक आदर सूचक प्रथम पुरुष होता है जिसमें केवल बहुवचन होता है। उदाहरण—

अह* और हो[1] धातु।

वर्तमान

	प्र०	म०	उ०
ए०	है	है	हूँ।
व०	हैं (आप हैं)	हो	हैं।

सम्भाव्य

	प्र०	म०	उ०
ए०	हो, होय	होवे, होय	होऊँ
व०	हों, होंय	होवें, होओ	हों, होवें

(आप होइये, आप हूजिये)

'अह' और 'हो' धातु को छोड़कर और धातुओं में केवल संभाव्य ही क्रिया होती है। जैसे, जा धातु:—

	प्र०	म०	उ०
ए०	जाय	जा	जाऊँ
व०	जायें, जावें	जाव	जांव, जाओ (वो)

(आप जाइये)

क्रिया में प्रकार, पुरुष, वचन, काल और वाच्य कृत भेद होते हैं।[2]

प्रायः हिन्दी के व्याकरणों में संस्कृत, अंग्रेजी आदि का अनुकरण कर काम में आते हुए प्रकार आदि कृत भेदों के अनुसार धातु रूपों में भी भेद बतलाया है। वस्तुतः हिन्दी के धातुओं के रूपों में प्रकार आदि कृत भेद नहीं होते। अनेक धातुरूपों के मिलाने से या धातुजसंज्ञा आदि से प्रकार आदि का सूचन हिन्दी में किया जाता है जैसा नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा।

---

*संस्कृत 'अस्' जैसे 'अहै' (ब्रजभाषा)।

[1]संस्कृत भू।

[2]संस्कृत में प्रकार आदि कृत भेदों के अतिरिक्त प्रयोजनकृत भेद भी क्रिया में कहा गया है। प्रयोजनकृत भेद के अनुसार क्रिया तीन प्रकार की होती है—परस्मैपदी आत्मनेपदी, और उभयपदी। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में प्रयोजनकृत भेद जानने के लिये विशेष उपाय नहीं है।

काम अर्थात् क्रिया के प्रकारकृत दो भेद होते हैं—साधारण और संभाव्य। साधारणक्रिया में काम का होना कहा जाता है, सम्भाव्य क्रिया में कहा जाता है कि ऐसा हो। राम जाता है, श्याम जायगा, बालक गया इत्यादि साधारण क्रिया है, तुम जाओ, वे जायँ (तो खाना पावेंगे), वृष्टि होती (तो खेती होती), इत्यादि सम्भाव्यक्रिया है।* साधारण क्रिया में कालकृत तीन भेद हैं—वर्तमान, भूत और भविष्य। सम्भाव्यक्रिया में भी भूत और भविष्य दो भेद हो सकते हैं। साधारण वर्तमान चार प्रकार का है, शुद्ध—सातत्यबोधक, सन्दिग्ध और स्वभावबोधक। राम जाता है—यह शुद्ध वर्तमान है। राम जा रहा है, यह सातत्यबोधक वर्तमान है। राम जाता होगा—यह सन्दिग्ध वर्तमान है। पृथ्वी सूर्य की चारों ओर चलती है—यह स्वभावबोधक वर्तमान है।

साधारण भूत पाँच प्रकार का होता है—शुद्ध, पूर्ण, आसन्न, सन्दिग्ध और अपूर्ण। जैसे, राम आया—यहाँ 'आया' शुद्ध भूत है। राम आया था—यहाँ 'आया था' पूर्णभूत है। राम आया है—यहाँ 'आया है' आसन्नभूत है। राम आया होगा—यहाँ 'आया होगा' अपूर्णभूत है।

साधारण भविष्य एक ही प्रकार का होता है। सम्भाव्य क्रिया दो प्रकार की होती है—शुद्ध और हेतुहेतुमत्। शुद्ध सम्भाव्य में कालकृत भेद नहीं होता है, जैसे—वे जायँ, तुम आओ इत्यादि। हेतुहेतुमत् सम्भाव्य में कालकृत दो भेद होते हैं; भूत—जैसे वह जाता तो खाना पाता और भविष्य—जैसे, वह जाय तो खाना पावेगा।

क्रिया में वाच्य कृत तीन भेद होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। कर्तृवाच्य क्रिया के वचन आदि कर्ता के अनुसार होते हैं।† कर्मवाच्य क्रिया के वचन आदि कर्म के अनुसार होते हैं। और भाववाच्य क्रिया सदा एकवचन पुंल्लिङ्ग रहती है। वाच्य का भेद केवल भूतकालिक क्रिया में होता है। कर्तृवाच्य के कर्ता में कोई चिह्न नहीं रहता। कर्मवाच्य के कर्म में कोई चिह्न नहीं रहता और भाववाच्य के कर्ता में 'ने' चिह्न और कर्म में 'को' चिह्न रहता है। जैसे कर्तृवाच्य—राम गया। कर्मवाच्य मैंने रोटी खाई। भाववाच्य—सीता ने सखियों को बुलाया। क्रिया में पुरुषकृत तीन भेद

---

*विधि और सम्भावना के प्रकाशन की रीति में हिन्दी में कुछ भेद नहीं है, इसलिये सम्भाव्य ही क्रिया में दोनों का अन्तर्भाव किया गया है।

†कर्मवाच्य और भाववाच्य के कर्ता में सदा 'ने' चिह्न आता है। इसका अपवाद खा जा इत्यादि 'जा' धातु से समस्त धातुओं के प्रयोगों में पाया जाता है। ऐसे धातुओं के साथ कर्ता में 'ने' अव्यय के बदले 'से' अव्यय लगता है, जैसे 'मैं खा गया,' इसका कर्मवाच्य 'मुझसे खाया गया है' नकि 'मुझने खाया गया है'। "खाया गया" "खा जा" इस समस्त धातु का कर्मवाच्य है न कि शुद्ध 'खा' का, जैसा सामान्यतः लोग समझते हैं।

होते हैं : उत्तम, मध्यम, और अन्य। 'मैं' 'हम' की* समानाधिकरण क्रिया को उत्तम पुरुष की क्रिया कहते हैं। 'तू' 'तुम' की समानाधिकरण क्रिया को मध्यमपुरुष की क्रिया कहते हैं और इनके अतिरिक्त शब्दों की समानाधिकरण क्रिया को अन्य पुरुष की क्रिया कहते हैं। प्रयोजन के भेद से क्रिया दो प्रकार की होती है—परस्मैपद और आत्मनेपद। पर हिन्दी में प्रयोजनबोध के लिये कोई विशेष उपाय नहीं है।

वचन के भेद से क्रिया दो प्रकार की होती है —एकवचन और बहुवचन।

क्रिया के इन भेदों के देखने से यह विदित होता है कि 'अह' धातु के अतिरिक्त और धातुओं के शुद्ध वर्त्तमान बनाने के लिये 'हैं' इत्यादि रूपों में 'जाता' 'जाती' इत्यादि क्रियार्थातक लगाया जाता है। 'जा रहा है' इत्यादि सातत्यबोधक वर्त्तमान के रूप 'जा' 'रह' और 'अह' इन तीन धातुओं को मिलाकर बने हैं। चलता होगा इत्यादि सन्दिग्ध वर्त्तमान के रूप 'चल' और 'हो' धातु से मिलकर बने हैं। स्वभावबोधक वर्त्तमान का रूप शुद्धवर्त्तमान के सदृश है। 'राम आया' इत्यादि में वस्तुतः 'आया' क्रिया नहीं है, किन्तु विशेषण है। इसीलिये जैसे 'काले घोड़े को लाओ' इत्यादि वाक्य कहते हैं वैसे ही 'आये धन को नहीं छोड़ना' 'गयी बात को नहीं पछताना' इत्यादि बोलते हैं। यही कारण है कि ऐसे शब्दों में लिङ्ग का भेद होता है, अन्यथा क्रिया में तो लिङ्ग का भेद किसी भाषा में होता ही नहीं। हिन्दी में भी 'है' 'आये' इत्यादि क्रियाओं में लिङ्ग का भेद नहीं होता। तो किसी क्रिया में लिङ्ग का भेद हो और किसी में न हो इसका क्या कारण? कारण यही है कि वास्तविक क्रियाओं में लिङ्गका भेद कभी नहीं होता। पर आया, गया, इत्यादि विशेषण जब क्रिया के बदले आते हैं तब उनमें लिङ्ग का भेद होता है। जैसे—'आये धन में' और 'गयी बात में' लिङ्ग का भेद हुआ है। वैसे ही 'घोड़ा आया' और 'गाड़ी गई' में भी लिङ्ग का भेद है; क्योंकि आया, गया इत्यादि तो वस्तुतः विशेषण हैं—कभी-कभी क्रिया का काम देते हैं। राम आया था इत्यादि पूर्णभूत 'आया' और 'था' दो भूतकालिक विशेषणों से बने हैं। राम आया है इत्यादि आसन्न भूत में 'है' क्रिया के पहले 'आया' विशेषण लगा दिया है; जैसे—'राम काला है' कहें अथवा 'राम आया है' कहें; केवल 'है' ही क्रिया है, 'आया' विशेषण मात्र है। 'राम आया होगा' इत्यादि सन्दिग्ध भूत में 'आया' और 'होगा' दोनों विशेषण हैं; यद्यपि 'होगा' विशेषण के ऐसा कभी प्रयुक्त नहीं होता तथापि 'होगा' 'होगी' इत्यादि लिङ्ग में भेद होने के कारण इसे वास्तविक क्रिया नहीं कह सकते। 'राम जा रहा था' इत्यादि अपूर्ण भूत में तीन धातुरूप मिले हुए हैं जो 'जा' 'रह' और 'अह' धातु से निकले हैं। 'आवेगा' साधारण भविष्य है इसमें लिङ्ग का भेद हो सकता है। इसलिये इस रूप को कृत्-प्रत्ययान्त विशेषण कहना उचित है, क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि वास्तविक क्रिया में लिङ्ग आदि के भेद नहीं होते। केवल इतना समझना चाहिए कि भविष्यकालिक रूप का भाषा के

*दो शब्दों के लिङ्ग वचन आदि जब एक रहते हैं और जब दोनों एक ही द्रव्य से एक ही सम्बन्ध रखते हैं तब उन दोनों को समानाधिकरण कहा जाता है।

व्यवहार के अनुसार विशेषण के सदृश प्रयोग नहीं होता, किन्तु चिरकाल से क्रिया के सदृश ही प्रयोग चला आता है। पर ऐसे प्रयोग से यह नहीं कह सकते कि यह वास्तविक क्रिया है। क्योंकि यदि किसी देश में गधे को देवता मानने का प्रचार चला आता हो तो यह नहीं कह सकते कि वस्तुतः गधा कोई देवता है। इस प्रकार परीक्षा से यह जान पड़ता है कि धातुओं के वर्तमान आदि ऊपर कहे हुए रूप क्रिया नहीं कहे जा सकते। केवल 'अह' धातु के शुद्ध वर्त्तमान 'है' इत्यादि को क्रिया कह सकते हैं।

शुद्ध सम्भाव्य 'जाय' इत्यादि वास्तविक क्रिया हैं जैसा ऊपर धातुरूप के प्रकरण में कहा गया है। इसीलिये इसमें लिङ्गका भेद नहीं होता। हेतुहेतुमत् सम्भाव्यभूत '*जाता*' *इत्यादि स्पष्ट ही क्रियाद्योतक विशेषण हैं इसीलिये इसमें* '*जाता*' '*जाती*' *इत्यादि* लिङ्ग के भेद हो सकते हैं। हेतुहेतुमत् सम्भाव्य भविष्य 'जाय' इत्यादि वास्तविक क्रिया है इसीलिये इसमें लिङ्ग आदि का भेद नहीं होता। इन्हीं कारणों से ऊपर धातुरूप के प्रकरण में यह बतलाया गया है कि वर्तमान और सम्भाव्य दो क्रियायें केवल 'अह' धातु से उत्पन्न हो सकती हैं, और धातुओं से केवल एक ही सम्भाव्य क्रिया उत्पन्न हुई कही गयी है। हिन्दी के प्रचलित व्याकरणों में गढ़े हुए क्रिया के जितने और भेद हैं वे या तो अनेक धातुओं की मिलावट से बने हैं या व्यवहार में क्रिया के बदले आने वाले विशेषण आदि हैं। अब यदि 'राम आता है'—यह वाक्य सामने आवे तो यह नहीं समझना चाहिए कि 'आ' धातु का वर्तमान रूप 'आता है' है; किन्तु यह समझना चाहिये कि 'राम' कर्ता है; 'है' 'अह' धातु की वर्तमान क्रिया है और 'आता' केवल क्रियाद्योतक विशेषण है। इसीलिये आता–आती–आते इत्यादि उसके भेद कर्ता के अनुसार हो सकते हैं। 'आता' शब्द के रूप वैसे ही चलेंगे जैसे काला, नीला इत्यादि शब्दों के। इसी प्रकार अन्य वाक्यों में भी समझना चाहिए।

शब्दनिर्वचन

शब्द दो प्रकार के हैं—समस्त और असमस्त। कई शब्दों का मिलकर एक हो जाना समास कहा जाता है। जो शब्द परस्पर सम्बन्ध रखते हैं उन्हीं में समास होता है। कई शब्द यदि परस्पर सम्बद्ध रहें तो एक-दो छोड़ दिये जायें और औरों में समास कर दिया जाय ऐसा नहीं होता। समास से उत्पन्न शब्द को समस्त कहते हैं। समस्त शब्द एक हो जाता है। विभक्ति आदि एक ही जगह अन्त में लगती है, बीच में नहीं लग सकती। समस्त शब्द के खण्ड में पुनः किसी का सम्बन्ध नहीं होता। अनेक संज्ञाओं में या संज्ञा और अव्ययों में जो समास होते हैं वे प्रायः चार प्रकार के हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व। तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय है और कर्मधारय का एक भेद द्विगु है।*

---

*हिन्दी में कर्मधारय और द्विगु नहीं आते, केवल संस्कृत से आए हुए शब्दों में मिल सकते हैं।

जब दो शब्द मिलकर अव्यय हो जायँ अर्थात् उनका रूप विभक्तियों में न बदले तब ऐसे समास को अव्ययीभाव कहते हैं, जैसे, हाथोंहाथ।

जिसमें उत्तर पद का अर्थ प्रधान हो उसे तत्पुरुष कहते हैं। जैसे—कठफोड़वा, मुँहतोड़, मुँहचोर, इत्यादि।

जिसमें समस्त पदों से अन्य पद का अर्थ प्रधान हो उसे बहुव्रीहि कहते हैं, जैसे एकरङ्गा, दुरङ्गा, इत्यादि।

जिसमें दोनों पद के अर्थ प्रधान हों उसे द्वन्द्व कहते हैं, जैसे दालभात, रामकृष्ण इत्यादि।

इसके ऊपर बीस, तीस इत्यादि दस के अपवर्त्य छोड़कर जितने संख्यावाचक शब्द हैं सब द्वन्द्व समास के उदाहरण हैं। हिन्दी में धातुओं में भी समास होता है अर्थात् कई धातु मिलकर एक हो जाते हैं। जैसे—लेजा, खाजा, करसक, खाले, इत्यादि। ऐसे स्थल में समस्त धातुओं में से पहले में विकार नहीं होता। रूप अन्तिम धातु का-सा होता है। ऊपर की बातों से यह जान पड़ता है कि संक्षेप में समास चार प्रकार के होते हैं—कहीं तो नाम से नाम मिला रहता है, जैसे रसोईघर, कहीं धातु से धातु मिला रहता है जैसे—खाजा, लेजा, कहीं नाम और धातु मिले रहते हैं, जैसे—मुँहतोड़, वज्रफोड और कहीं-कहीं अव्यय से नाम मिला रहता है। जैसे—प्रतिदिन, यथाशक्ति इत्यादि।

समास के सदृश द्विरुक्त शब्द होते हैं। कभी-कभी द्विरुक्त शब्द के दोनों शब्द एक ही रूप के होते हैं, जैसे—चोरचोर, देखोदेखो, मारमार इत्यादि। कभी-कभी अन्तिम शब्द का रूप विकृत सा हो जाता है, जैसे कुछ चावल वावल लाओ, दालवाल खरीदो। कभी-कभी अनेक शब्दों के मिलने पर भी एक ही शब्द रह जाता है, और शब्द लुप्त हो जाते हैं। जैसे—'हंसी और हंस को देखो' इसके बदले 'हंसों को देखो' ऐसा कहते हैं। ऐसे अनेक शब्दों में से बचे हुए शब्दों को 'एकशेष' कहते हैं।

हिन्दी में पृथक्-पृथक् शब्दों में सन्धियों का दर्शन नहीं होता पर संस्कृत से आये हुए समस्त शब्दों की बनावट जानने के लिये सन्धिज्ञान का काम पड़ता है इसलिये समास के प्रकरण के समीप ही सन्धियों का निर्देश करना उचित है। पर सन्धि-ज्ञान में अक्षरों के 'स्थान' और 'प्रयत्न' जानने की अपेक्षा होती है इसलिये यहाँ संक्षेप में अक्षरों के 'स्थान' और 'प्रयत्न' बताकर कुछ सन्धियों का निर्देश किया जाता है।

जो अक्षर अपने से अर्थात् बिना सहायता के बोले जा सकते हैं वे स्वर कहे जाते हैं, जैसे—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ।

जो अक्षर स्वर की सहायता के बिना नहीं बोले जा सकते हैं अर्थात् जिनके पहले या पीछे स्वर अवश्य होना चाहिये उन्हें व्यञ्जन कहते हैं, जैसे :—

ह य व र ल ञ म ङ ण न झ	भ घ ढ ध ज ब ग	ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह*

ह य व र ल ञ म ङ	ण न झ भ घ ढ ध	ज ब ग ड द ख फ
ह य व र ल ञ व ग ड द श प स ह*	ञ म ङ ण न झ फ छ ठ थ	झ भ घ ढ ध च ट त क प

इनमें 'अ' उच्चारण के लिये है। वस्तुतः ह्, म् इत्यादि रूप हैं। 'ह' लिखा जाय तो जानना कि 'ह' में 'अ' लगा है। इनमें तीस अक्षरों को प्रायः नीचे लिखे हुए क्रम से भी लिखते हैं, जैसे:—

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ	ट ठ ड ढ ण त थ द ध न	प फ ब भ म य र ल व	श ष स ह

व्यञ्जनों के पहले या पीछे उच्चारण के लिये स्वर अवश्य प्रयोगों में आता है। जैसे 'का' 'अव' इत्यादि। शुद्ध हिन्दी के शब्दों में प्रायः केवल व्यञ्जनों में भी 'अ' लगा रहता है, अर्थात् खण्ड व्यञ्जन 'व्' इत्यादि नहीं लिखते, किन्तु व इत्यादि रूप में लिखते हैं। ळ और ल संस्कृत ही के शब्दों में आते हैं। ऌ संस्कृत में भी केवल क्लृप्त आदि दो-चार शब्दों में आता है। स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ह्रस्व का उच्चारण स्वर के उच्चारण के लिये कम से कम समय में होता है। दीर्घ दूने समय में और प्लुत तिगुने समय में उच्चारित होता है। ऌ दीर्घ नहीं होता। ए ऐ ओ औ ह्रस्व नहीं होते।[1]

दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ॠ, ए ऐ, ओ, औ।

प्लुत—आ३ ई३ ऊ३ ॠ३ ए३ ऐ३ ओ३ औ३।

प्लुत का उपयोग-सम्बोधन आदि में होता है जैसे—हे कृष्ण३।

दो या अधिक व्यञ्जन बीच में जब स्वर के बिना मिलते हैं तो संयुक्त कहे जाते हैं। संयुक्त वर्ण प्रायः शुद्ध हिन्दी के शब्दों में नहीं आते।

अनुस्वार और विसर्ग स्वरों के अनन्तर आते हैं। जैसे—कः, सं, निः इत्यादि।[2]

सब स्वर और य र ल व नाक से भी बोले जाते हैं। तब ये सानुनासिक या अनुनासिक भी कहे जाते हैं।

---

*नोट—यह महर्षि पाणिनिके वर्णसमाम्नाय का क्रम है। स्वरों के बाद क्रम से कड़े से कड़े व्यञ्जन आये हैं और 'प' के बाद फिर मृदु हुए हैं, इसीलिये 'ह' दो-चार आया है क्योंकि वह मृदु से मृदु व्यञ्जन है। वर्णमाला में इसे मेरु स्वरूप समझना चाहिए।

[1]पर हिन्दी कविता में ए और ओ ह्रस्व दीर्घ दोनों प्रकार से बोले जाते हैं।

[2]अनुस्वार और विसर्ग भी शुद्ध हिन्दी के शब्दों में प्रायः नहीं आते।

कितने अक्षर शिथिल उच्चारण से भी बोले जाते हैं। शुद्ध हिन्दी शब्दों में ऐ (अय्), औ (अव्) शिथिल ही उच्चारित होते हैं। जैसे—है, हो, इत्यादि।

ड़, ढ़ भी प्रायः शिथिल ही आते हैं। जैसे—अढाई, कड़ाई, इत्यादि।

*भाषान्तर के शब्दों में ज़, क़, फ़, ब, ग़, आदि अक्षर भी शिथिलोच्चारण होते हैं।

[1]ह्रस्व स्वर को लघु भी कहते हैं। दीर्घ स्वर को और जिस स्वर के परे संयुक्त व्यञ्जन रहे उसे गुरु कहते हैं।

अ आ आ३ क ख ग घ ङ ह और विसर्ग का कण्ठ स्थान है। इ ई ई३ च छ ज झ ञ य श का तालु स्थान है। ऋ ॠ ॠ३ ट ठ ड ढ ण र ष का मूर्द्धा स्थान है। लृ त थ द ध न ल स का दाँत स्थान है। उ ऊ ऊ३ प फ ब भ म का ओठ स्थान है। ङ ञ ण न म का अपने-अपने स्थान के अतिरिक्त नासिका भी स्थान है। ए ऐ का कण्ठ और तालु स्थान है। ओ औ का कण्ठ और ओठ स्थान है। व का दाँत और ओठ स्थान है। अनुस्वार का नाक स्थान है। 'प्रयत्न' दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्य प्रयत्न ग्रन्थ बढ़ने के भय से यहाँ नहीं दिखाया जाता। हिन्दी के छात्रों को इसके जानने की अपेक्षा भी नहीं है। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार के हैं—अल्पस्पृष्ट, पूर्णस्पृष्ट, अल्प विवृत, पूर्णविवृत और संवृत। य र ल व का अल्पस्पृष्ट प्रयत्न है। श ष स ह का अल्पविवृत प्रयत्न है। क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म का पूर्णस्पृष्ट प्रयत्न है, अ छोड़कर, सब स्वरों का पूर्णविवृत प्रयत्न है, ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न है।

दो अक्षरों की मिलावट को संधि कहते हैं। कहीं-कहीं दोनों अक्षरों में परिवर्तन होता है। कहीं-कहीं एक ही में परिवर्तन होता है, दूसरा ज्यों का त्यों रहता है। कहीं-कहीं दोनों के बदले तीसरा ही अक्षर आता है। जब संधि में अथवा और किसी प्रकार से एक अक्षर से दूसरा अक्षर होने लगता है तब प्रायः पहले अक्षरों के बदले आनेवाला अक्षर स्थान और प्रयत्न से जहाँतक हो सदृश होता है। यही अक्षरों के बदलने का तत्त्व है और इसी विषय में स्थान प्रयत्न के ज्ञान का उपयोग है।

(१) [1] ह्रस्व या दीर्घ अ इ उ ऋ के बाद क्रम से ह्रस्व या दीर्घ अ इ उ ऋ आवे तो दोनों मिलकर क्रमसे दीर्घ आ ई ऊ ॠ हो जाते हैं। जैसे, रत्न+आकर=रत्नाकर, प्रति+इति=प्रतीति, विधु+उदय=विधूदय, पितृ+ऋण=पितॄण, इत्यादि।

(२) ह्रस्व या दीर्घ इ उ ऋ के बाद कोई भिन्न स्वर हो तो क्रम से इ का य्, उ का व्, ऋ का र् हो जाता है जैसे—प्रति+अङ्ग=प्रत्यङ्ग, अनु+अय=अन्वय, भ्रातृ+अर्थ=भ्रात्रर्थ इत्यादि।

---

*ऐसे अक्षर फारसी अंग्रेजी आदि भाषाओं में प्रायः मिलते हैं। हिन्दी में भी इन भाषाओं के शब्द कभी-कभी प्रयुक्त मिलते हैं।

१ कविता में इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं।

१ प्लुत अक्षरों में संधि प्रायः नहीं होती।

(३) ए ऐ ओ औ के बाद स्वर होने से क्रम से ए का अय्, ओ का अव्, औ का आव् होता है। जैसे,—ने + अन = नयन, भो + अन = भवन, पौ + अक = पावक, नै + अक = नायक, इत्यादि।

(४) ह्रस्व या दीर्घ अ के बाद ह्रस्व या दीर्घ इ हो तो दोनों मिलकर ए हो जाता है। ह्रस्व या दीर्घ अ के बाद ह्रस्व या दीर्घ उ हो तो दोनों मिलकर ओ हो जाता है। ह्रस्व या दीर्घ अ के बाद ह्रस्व या दीर्घ ऋ हो तो दोनो मिलकर अर् हो जाता है। जैसे—महा + ईश = महेश, गज + इन्द्र = गजेन्द्र, महा + उदय = महोदय, देव + ऋषि देवर्षि, इत्यादि।

(५) अ या आ के बाद ए या ऐ रहे तो मिलकर ऐ होता है, अ या आ के बाद ओ या औ रहे तो मिलकर औ होता है। जैसे—एक + एक = एकैक, महा + ऐश्वर्य = महैश्वर्य्य, महा + ओघ = महौघ, महा + औदार्य्य = महौदार्य्य, इत्यादि।

(६) स या तवर्ग के पहले या पीछे श या चवर्ग रहने से स और तवर्ग का क्रम से श और चवर्ग हो जाता है। जैसे—निस् + चय = निश्चय, समुत् + चय = समुच्चय, उत् + चारण = उच्चारण, इत्यादि।

(७) प्रायः पद के अन्त में वर्गों के प्रथम तृतीय अक्षरों के स्थान में पञ्चम वर्ण हो जाता है यदि आगे किसी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो तब। जैसे—वाक् + मय = वाङ्मय, उत् + नति = उन्नति, इत्यादि।

(८) ल के पहले त का ल और न का सानुनासिक लँ होता है। जैसे—तत् + लीला = तल्लीला, महान् + लाभ = महाँल्लाभ, इत्यादि।

(९) पद के अन्त में प्रायः वर्गों के प्रथम अक्षर का तृतीय अक्षर हो जाता है, वर्गों के प्रथम और द्वितीय और श ष स परे न हो तब। वाक् + ईश = वागीश, दिक् + गज = दिग्गज, अप् + धि = अब्धि, इत्यादि।

(१०) स्वर के बाद छ रहने से छ के पहले एक च आ जाता है। स्व + छन्द = स्वच्छन्द, प्रति + छाया = प्रतिच्छाया, इत्यादि।

(११) विसर्ग के पहले और पीछे अ हो तो तीनों मिलकर ओ हो जाता है। जैसे—मनः + अवधान = मनोवधान, इत्यादि।

(१२) विसर्ग के पहले अ हो और आगे वर्गों के प्रथम द्वितीय और श ष स छोड़कर कोई व्यञ्जन हो तो अ और विसर्ग मिलकर ओ हो जाता है। जैसे—मनः + रथ = मनोरथ, सरः + ज = सरोज, मनः + ज = मनोज, पयः + द = पयोद, इत्यादि।

(१३) स ष और श के पहले विसर्ग का स होता है। जैसे—निः + तार = निस्तार, निः + सार = निस्सार, इत्यादि।

(१४) च छ और श के पहले विसर्ग का श होता है। जैसे—निः + चल = निश्चल, निः + छल = निश्छल, निः + शरण = निश्शरण, इत्यादि।

(१५) ट ठ और प के पहले विसर्ग का ष होता है। जैसे—धनु+टंकार=धनुष्टंकार, इत्यादि।

(१६) अ आ के अतिरिक्त किसी और स्वर के बाद विसर्ग हो तो उसका र् हो जाता है वर्गों के प्रथम द्वितीय और श ष स के अतिरिक्त कोई अक्षर परे रहे तब। जैसे—बहिः+गत=बहिर्गत, निः+वाद=निर्वाद, दुः+गति=दुर्गति, इत्यादि।

संस्कृत में ऊपर दिये हुए सन्धि के नियमो के अतिरिक्त और भी बहुत से सन्धि के नियम हैं जिनका प्रयोजन हिन्दी में बहुत ही कम पड़ता है इसलिए ऐसे नियम यहाँ नहीं दिये गये हैं।

ऊपर कहा गया है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—'समस्त' और 'असमस्त' और समस्त शब्दो का संक्षिप्त वर्णन भी किया जा चुका है। अब 'असमस्त' शब्दों के विषय में कुछ कहना है। 'असमस्त' शब्द दो प्रकार के हैं—'व्युत्पन्न' और 'अव्युत्पन्न'। जो शब्द किसी दूसरे शब्द में कोई प्रत्यय लगाकर बनते हैं वे 'व्युत्पन्न' कहे जाते हैं और जिनमें प्रत्यय नही लगे हैं वे 'अव्युत्पन्न' कहे जाते हैं। अव्युत्पन्न शब्दों का जड़-पता बताना भाषातत्त्व का काम है। व्याकरण का काम केवल व्युत्पन्न शब्दों का जड़-पता बताना है। अव्युत्पन्न शब्द चार प्रकार के होते हैं—नामज नाम, नामज धातु, धातुज नाम, और धातुज धातु। क्रिया के अतिरिक्त जितने शब्द हैं सभी को संस्कृत में नाम कहते हैं। यहाँ इस व्याकरण में भी नाम शब्द का यही अर्थ समझा गया है। जिन प्रत्ययों के लगाने से नामज नाम बने है वे दो प्रकार के हैं—स्त्रीप्रत्यय और तद्धित। नामज धातु को नामधातु भी कहते हैं। जिन प्रत्ययो से धातुज नाम बनता है उन्हें कृत्प्रत्यय कहते हैं।

नामज नाम अर्थात् स्त्रीप्रत्ययान्त और तद्धितान्त

(१) स्त्रीप्रत्यय

जिन प्रत्ययों के लगाने से पुल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्ग हो जाते हैं उन्हीं को स्त्रीप्रत्यय कहते हैं। ई, नी, आनी, आइन, आई, इन, इया, इत्यादि स्त्रीप्रत्यय हैं।

ई—घोड़ी, पगली, करनेवाली, बिल्ली, भेड़ी। प्रायः आकारान्त शब्दों का स्त्रीलिङ्ग ऐसे ही बनता है।

नी—सिंहनी, राजपूतनी।

आनी—पण्डितानी, मेहतरानी, गुरुआनी,

आइन—गुरुआइन, सहुआइन।

आई—ठकुराई।

इन—डोमिन, पण्डाइन।

इया—लोटिया (यहाँ स्त्रीप्रत्यय लघुत्वार्थक है)। कहीं कहीं पुल्लिङ्ग शब्दों में स्त्रीप्रत्यय लगाने के समय कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे—राजा, रानी।

(२) सादृश्यार्थक प्रत्यय

सा, हरा, आदि सादृश्यार्थक प्रत्यय हैं, जैसे—कालासा, ऐसा, कैसा, वैसा, तैसा, जैसा, सोनहरा, रुपहरा, इत्यादि ।

(३) लाघवार्थक प्रत्यय

वा, या आदि लाघवार्थक प्रत्यय हैं, जैसे—घोड़वा, घोड़िया, इत्यादि ।

शब्दों को संक्षिप्त कर देने से भी छोटे अर्थ का बोध होता है, जैसे—राजेन्द्रका राजू या राजा । ऐसे प्रयोग प्रायः प्रेमद्योतन करने के लिये आते हैं ।

(४) महत्त्वार्थक प्रत्यय

अङ्ग इत्यादि महत्त्वार्थक प्रत्यय हैं, जैसे—लठङ्ग (अर्थात् बड़ी लाठी), इत्यादि ।

(क) उत्कर्षार्थक प्रत्यय 'तर' और 'तम' हैं । दो में अधिक कहना हो तो 'तर' आता है। बहुत में अधिक कहना हो तो 'तम' आता है जैसे—लघुतर, लघुतम ।

(ख) समूहार्थक प्रत्यय 'आयत' आदि हैं; जैसे पञ्चसमूह पञ्चायत ।

(५) सम्बन्धवाचक प्रत्यय

सम्बन्धवाचक प्रत्यय 'का' 'रा' (स्त्रीलिङ्ग 'की' 'री') 'या' 'ऊ' 'वाला' 'हारा' (स्त्रीलिङ्ग 'वाली' 'हारी') आदि हैं; जैसे—उसका, मेरा, [1] गँवइया, डाहू ।

(६) पूरणार्थक

एक—पहला दो—दूसरा, तीन—तीसरा, चार—चौथा, पाँच—पाँचवा, छ—छठा, सात—सातवाँ, आठ—आठवाँ, नव—नवाँ, दस—दसवाँ । इसके बाद सब में 'वाँ' लगता है ।

संस्कृत में जन्यजनक भाव के तथा सामान्य सम्बन्ध के बोधक 'अ' 'इ' 'एय' 'इय' 'ईय 'ईन' इत्यादि प्रत्यय हैं, जसे—शिव से शैव, पाण्डु से पाण्डव, दशरथ से दाशरथि गङ्गा से गाङ्गेय, रथ से रथिक, मालव से मालवीय, बङ्ग से बङ्गीय, विश्वजन से विश्वजनीन इत्यादि ।

संस्कृत में स्वत्वबोधक प्रत्यय मत्,- वत्, इन्, धन से धनवत (पुंलिंग में धनवान, स्त्रीलिंग में धनवती । विन्, इत्यादि हैं ; जैसे—श्री से श्रीमत् (पुल्लिङ्ग में श्रीमान् स्त्रीलिङ्ग में श्रीमती) कर से करिन् (पु० में करी, स्त्री० में करिणी) हस्त से हस्तिन् (पु० में हस्ती, स्त्री० में हस्तिनी) माया से मायाविन् (पु० में मायावी, स्त्री० में मायाविनी) इत्यादि ।

संस्कृत में कई सहस्र तद्धित प्रत्यय हैं जिनका विशेष वर्णन हिन्दी के व्याकरण में असम्भव है ।

---

[1] उसका मेरा इत्यादि तद्धित शब्दों के रूप काला, गोरा इत्यादि विशेषण शब्दों के सदृश होते हैं ।

यहाँ जो प्रत्यय नहीं कहे गये हैं उन्हें शब्दों की परीक्षा कर स्वयं अनुमान कर लेना चाहिए। जैसे—लोमश में लोम शब्द से स्वत्वार्थक 'श' प्रत्यय है, पुच्छल में पुच्छ शब्द से स्वत्वार्थक 'ल' प्रत्यय है, इत्यादि। 'ल' 'श' इत्यादि संस्कृत प्रत्ययों के जोड़ने में भी हिन्दी भाषा सर्वथा संस्कृत का अनुसरण नहीं करती। संस्कृत के नियमों के विरुद्ध भी हिन्दी शब्दों में प्रायः संस्कृत प्रत्यय पाये जाते हैं।

नामज धातु या नामधातु

प्रायः नाम से धातु बनाने के लिये 'आ' या 'या' लगते हैं; जैसे—खटखट से 'आ' लगाकर खटखटाता है, इत्यादि बनते हैं। पानी से 'या' लगाकर पनियाता है, इत्यादि। इसी प्रकार लात से लतियाना, हाथ से हथियाना, इत्यादि बनते हैं।

धातुजनाम या कृदन्त

शुद्ध काम का बोध कराने के लिये धातु में 'ना' लगा दिया जाता है। जैसे—जाना, खाना, गाना, सोना, बोना, इत्यादि। कहीं-कहीं 'आई' 'आव' इत्यादि प्रत्यय भी धातु के आगे लगाये जाते हैं, जैसे—पढ़ाई, चढ़ाव, इत्यादि। काम जारी रखने का बोध कराने के लिये ता प्रत्यय लगाया जाता है; जैसे—जाता, खाता, गाता, सोता, इत्यादि किन्तु स्त्रीलिङ्ग में 'ता' का ती हो जाता है, जैसे—आती खाती, गाती, सोती, इत्यादि। पूर्ण हुए काम के बोध के लिये प्रायः 'आ' अथवा 'या प्रत्यय लगता है जैसे—हुआ, गया, खाया, सोया, गाया इत्यादि। किन्तु स्त्रीलिङ्ग में आकार का ईकार हो जाता है। जैसे—हुई, गयी, खायी, सोयी, गायी, इत्यादि। किसी-किसी धातु में 'आ' लगाते समय बहुत परिवर्त्तन हो जाता है। जैसे—अह धातु से था, थी इत्यादि।

संस्कृत आदि भाषाओं मे भूतकालिक क्रिया का जैसा प्रयोग होता है, वैसा ही हिन्दी में प्रायः गया, खाया, सोया, इत्यादि का प्रयोग होता है। खाया, गया इत्यादि रूप सकर्मक धातु से उत्पन्न हों तो प्राय कर्मवाच्य होते हैं और अकर्मक धातु से उत्पन्न हों तो कर्तृवाच्य होते हैं। किसी-किसी वाच्य में सकर्मक धातु से उत्पन्न होने पर भी बुलाया इत्यादि भाववाच्य हो जाते हैं। कर्तृवाच्य प्रयोग के लिङ्ग, वचन, कर्त्ता के लिङ्ग वचन के अनुसार, कर्मवाच्य प्रयोग के लिङ्ग वचन कर्म के लिङ्ग, वचन के अनुसार और भाववाच्य प्रयोग के लिङ्ग वचन सदा पुल्लिङ्ग और एक वचन होते हैं। उदाहरण:—

* कर्तृवाच्य—बालक गया, बालिका आयी, वीरलोग आये, इत्यादि।

कर्मवाच्य—मैंने आम खाया, उसने रोटी खायी, राम ने केले खाये, इत्यादि।

---

*साधारण व्याकरण में 'रामने खाया' इसको कर्तृवाच्य समझ के 'राम से खाया गया' यह इसका कर्मवाच्य बतलाया जाता है। वस्तुतः 'खाया गया' केवल 'खा' धातु का रूप ही नहीं है, यह तो 'खा जा' समस्त धातु का रूप है।

भाववाच्य—रामने रावण को मारा, वानरों ने राक्षसों को मारा, सीताने सखियों को बुलाया, आज मेरे यहाँ खाया जाय, इत्यादि।

कर्तृवाच्य के कर्त्ता में कोई चिह्न नहीं रहता, कर्मवाच्य में कर्म में कोई चिह्न नहीं रहता और भाववाच्य में कर्ता और कर्म दोनों में चिह्न रहते हैं। जो क्रिया होने वाली है उसके बोध के लिये धातु में 'गा' प्रत्यय लगता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में 'आ' का 'ई' हो जाता है और बहुवचन में 'आ' का 'ए' हो जाता है। प्रायः धातु और 'गा' के बीच में 'य' अथवा 'ए' 'वे' इत्यादि लगते हैं। बहुवचन में अक्षर सानुनासिक हो जाते हैं, जैसे, जायगा, पढ़ेगा, आवेगा, इत्यादि और बहुवचन में जायँगे, पढ़ेंगे, आवेंगे, इत्यादि। एक काम करके कोई दूसरा काम किया जाय तो पहली क्रिया के वाचक धातु में 'कर' लगता है जैसे—जाकर खाकर, इत्यादि।

धातुज धातु।

धातु से अनेक प्रकार के धातु बनते हैं; जैसे, प्रेरणार्थक, अतिशयार्थक, इच्छार्थक, इत्यादि।

(१) प्रेरणार्थक—'पी' से पिला, 'दे' से दिला, 'खा' से खिला, 'सो' से सुला, 'देख' से दिखा, दिखला इत्यादि।

(२) अतिशयार्थक—'टर्रा' से टरटरा।

(३) इच्छार्थक—'पीया' से पियासना, 'भूकना' से भुकवांसना, इत्यादि।

वाक्य-रचना और वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध

'राम आता है', 'राम आता है' और 'श्याम जाता है' और 'मैंने देखा कि राम आता है' ये तीन वाक्य हम लोगों के सामने हैं। इन तीनों वाक्यों की परीक्षा करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कितने ही वाक्य अपने ही में पूर्ण रहते हैं, किसी दूसरे वाक्य से सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे—राम आता है, इत्यादि। इसलिये प्रथम वाक्य के नमूने के जो वाक्य हैं वे शुद्ध वाक्य कहे जाते हैं। दूसरे और तीसरे वाक्य में देखा जाता है कि कई छोटे-छोटे वाक्य मिले हैं। जैसे—'राम आता है', और 'श्याम जाता है' इनको मिलाकर एक वाक्य, 'राम आता है और श्याम जाता है' बना। ऐसे ही तीसरे वाक्य में भी दो वाक्य मिले हैं। ऐसे वाक्यों को मिश्रितवाक्य कहते हैं। पर मिश्रित वाक्य के भी जो दो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं उनके देखने से विदित होगा कि कुछ मिश्रित वाक्य ऐसे हैं जो दो या अनेक बराबर दर्जे के वाक्यों से बने हैं। जैसे—'राम आता है और श्याम जाता है' ये दोनों वाक्य बराबर दर्जे के हैं। इनका 'और' शब्द से योग कर दिया गया है जिसमें 'राम आता है और श्याम जाता है' ऐसा वाक्य बन गया है। इस नमूने के वाक्यों को संसृष्ट-वाक्य कहते हैं। पर कुछ मिश्रित वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें एक वाक्य मुख्य रहता है, और वाक्य उसके अङ्ग रहते हैं। जैसे— मैंने देखा कि राम आता है। इसमें 'मैंने देखा', यह मुख्य वाक्य है और 'राम आता है' यह उसका अङ्ग है। ऐसे वाक्यों को संकीर्णवाक्य कहते हैं।

राम आता है और श्याम जाता है, राम आता है या श्याम आता है; राम आता है परन्तु श्याम नहीं आता, राम जाय किन्तु श्याम नहीं जाय, इन वाक्यों के देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि बराबर दर्जे के वाक्य, 'और' 'या' 'परन्तु' 'किन्तु' आदि शब्दों के जोड़ने से बनते हैं।

मैंने देखा कि राम जाता है, बाघ जो गोली से मारा गया शहर के बाहर मैदान में बैठा था, मैं सो जाऊँगा क्योंकि मैं थका हूँ—इत्यादि वाक्यों के देखने से जान पड़ता है कि अङ्गवाक्य कहीं संज्ञा का काम करते हैं, कहीं विशेषण का काम करते हैं और कहीं क्रियाविशेषण का काम करते हैं। क्रम से ऐसे वाक्यों को संज्ञावाक्य, विशेषण वाक्य और क्रियाविशेषण वाक्य कहते हैं। मैंने देखा कि राम आता है—इसमें राम आता है' इतना अंश संज्ञावाक्य है, क्योंकि वह संज्ञा का काम करता है और 'देखा' का कर्म है। संज्ञावाक्य कर्ताकर्म इत्यादिक होता है। 'बाघ जो गोली से मारा गया शहर के बाहर मैदान में बैठा था', इसमें 'जो गोली से मारा गया' इतना अंश विशेषण वाक्य है क्योंकि यह बाघ का विशेषण है और उसका गुण बतलाता है। 'मैं सो जाऊँगा क्योंकि मैं थका हूँ' इसमें 'क्योंकि मैं थका हूँ' इतना अंश क्रियाविशेषण वाक्य है क्योंकि यह सोने का कारण बताता है।

इतनी परीक्षा से यह स्पष्ट विदित होता है कि एक निरपेक्ष पूर्ण अभिप्राय जिससे प्रकाशित हो उस पद या पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं। वाक्य के तीन प्रकार भी कह आये हैं—शुद्ध, संसृष्ट और संकीर्ण। मनुष्य जिन अर्थों को प्रकाशित कर सकते हैं वे अर्थ अनेक प्रकार के हैं, किन्तु वे सब मनुष्यों के लिये समान हैं। उनको वाक्यों में कैसे प्रकाश करना, यह प्रत्येक भाषा का विशेष धर्म है। इसलिये मनुष्यों के वाक्यों में कितने खण्ड हो सकते हैं इसका विचार पहले करके हिन्दी भाषा में उसका किस रीति से प्रकाश किया जाता है, दिखाया जायगा। चाहे कैसा भी छोटा वाक्य क्यों न हो उसमें दो खण्ड अवश्य रहते हैं—उद्देश्य और विधेय। कहीं-कहीं उद्देश्य अपने विशेषणों के साथ रहता है और कहीं-कहीं बिना विशेषण का रहता है—ऐसे ही विधेय भी। इसलिये वाक्य के मुख्य चार खण्ड हैं—उद्देश्य और उद्देश्य के विशेषण या विस्तार, विधेय और विधेय के विशेषण या विस्तार।

पहले कहा गया है कि क्रिया के साधक छः कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। वाक्य यदि कर्तृवाच्य हो तो कर्त्ता उद्देश्य रहता है, कर्मवाच्य हो तो कर्म उद्देश्य रहता है और भाववाच्य में वस्तुतः उद्देश्य और विधेय छिपे रहते हैं। पर काम चलाने के लिये कर्ता ही को उद्देश्य समझ सकते हैं। विधेय का काम सदा क्रिया से होता है।

वाक्यों के विस्तार सात प्रकार से होते हैं—गुणवाचक से, क्रियाद्योतक से, परिमाणवाचक से, सम्बन्धवाचक से, सम्बन्धबोधक से, निर्देशार्थक से और प्रश्नार्थक से। काला घोड़ा आता है। यहाँ 'काला' गुणवाचक है। 'दौड़ता हुआ बालक आया' यहाँ 'दौड़ता

हुआ' क्रियाद्योतक है। 'सेर भर चावल लाओ' यहाँ 'सेर भर' परिमाणवाचक है। 'चार पैसे में पाँच आम मिलते हैं' यहाँ 'चार' और 'पाँच' संख्या वाचक हैं। 'राम के घोड़े से श्याम गिरा' यहाँ 'राम के' सम्बन्धबोधक है। 'यह घोड़ा यहाँ आ रहा है' यहाँ 'वह' निर्देशार्थक है। 'आपको कैसा घोड़ा चाहिये?' इसमें 'कैसा' प्रश्नार्थक है।

क्रिया का विस्तार तीन प्रकार से कहा जा चुका है—विशेषणों से, कारकों से या पूर्वकालिक से। शब्दों का परस्पर सम्बन्ध देखा जाय तो यह विदित होगा कि क्रिया सर्वदा उद्देश्य के अनुसार रहती है अर्थात् उद्देश्य के वचन आदि के सदृश क्रिया के वचन आदि होते हैं। केवल भाववाच्य क्रिया सदा पुंल्लिङ्ग, एक वचन होती है जैसे पहले ही कहा गया है। क्रियाओं में, धातुज विशेषणों में, पूर्वकालिक में और धातुज भावार्थक में कर्ता, कर्म आदि प्रायः सब कारकों का अन्वय हो सकता है। धातुज के इन सब रूपों में कर्तृवाच्य होने पर कर्ता के अनुसार, कर्मवाच्य होने पर कर्म के अनुसार वचन आदि होते हैं और भाववाच्य होने पर रूप सदा एक वचन पुंल्लिङ्ग रहता है। इसलिये 'मुझे किताब पढनी है' यहाँ 'पढ़नी है' के स्थान में 'पढ़ना है' होना चाहिये क्योंकि 'पढ़ना' भावार्थक है।

जब उद्देश्य में कई खण्ड, 'और' 'या' इत्यादि अव्ययों से जोड़े हुए रहते हैं तब यदि सब उद्देश्य एक ही पुरुष के हों तो क्रिया बहुवचन होती है।

संज्ञा आदि के विशेषण कभी पहले आते हैं कभी पीछे आते हैं। विशेषण चाहे कहीं रहें उनके लिङ्ग वचन और कारक विशेष्य के सदृश होते हैं।

हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में प्रायः वाक्य के अङ्गों का ठीक क्रम रहता है। जैसे संस्कृत आदि भाषाओं में कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को चाहे जिस क्रम से रख सकते हैं वैसा हिन्दी में नहीं हो सकता। तथापि हिन्दी में वाक्य के कई अङ्गों के दो क्रम हैं। मुसलमानी हिन्दी अर्थात् उर्दू के क्रम कभी-कभी हिन्दुस्तानी हिन्दी से भिन्न होते हैं। इस प्रकरण में हिन्दी शब्द से प्रायः हिन्दुस्तानी हिन्दी समझना चाहिए। हिन्दी में प्रायः पहले कर्त्ता, तब कर्म, सब के अन्त में क्रिया, इसी क्रम से शब्द रखे जाते हैं; और यदि वाक्य में कारक हों तो कर्ता और कर्म के बीच में प्रायः उलटे क्रम से रखे जाते हैं अर्थात् पहले अधिकरण, तब अपादान, तब सम्प्रदान, तब करण। पर कर्ता और कर्म को छोड़ कर और कारकों का क्रम नियत नहीं है।

विशेषण प्रायः अपने विशेष्य के पहले रहते हैं, क्रियाविशेषण क्रिया के पहले रहता है। विशेषण के वचन आदि विशेष्य के अनुसार होते हैं। क्रियाविशेषण अव्यय है। इसलिये उसमें वचन आदि का भेद नहीं होता।

विशेषण दो प्रकार के होते हैं—अनुवाद्य और अपूर्व। जिस विशेषण से विशेष्य के जाने हुए गुण प्रकाशित किये जाते हैं उसे अनुवाद्य विशेषण कहते हैं; जैसे, काला घोड़ा लाओ—यहाँ 'काला' घोड़े का अनुवाद्य-विशेषण है। सफेद कपड़ा काला हो

गया—यहाँ कपड़े का 'काला' गुण पहले से ज्ञात नहीं है इसलिये 'काला' अपूर्व विशेषण है।

अनुवाद्यविशेषण सदा विशेष्य के पहले रहता है, पर अपूर्वविशेषण सदा विशेष्य के बाद ही आता है; अपूर्व विशेषण को कितने लोग विधेयविशेषण भी कहते हैं। यहाँ, वहाँ, कैसे, वैसे इत्यादि क्रियाविशेषण कभी-कभी वाक्य में सब से पहले आते हैं; राम को यहाँ बुलाओ, राम को कैसे देखूँ, यहाँ रामको बुलाओ, कैसे राम को देखूँ—इत्यादि कई प्रकार से वाक्य लिखे जाते हैं। जिस शब्द पर अधिक जोर दिया जाता है उसका स्थान वाक्य में कुछ बदल जाता है। जैसे—पीटने पर यदि अधिक जोर देना हो तो 'उसको पीटो छोड़ो मत' के पहले 'पीटो उसको छोड़ो मत' कहते हैं। 'ने' इत्यादि कारकार्थक अव्यय कारकों के बाद आते हैं।

शब्दों का विभाग

पहले कह आये हैं कि वाक्य में पाँच प्रकार के शब्द आते हैं—संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम, विशेषण और अव्यय। निर्वचन के प्रकरण में यह भी कहा गया है कि कितने शब्द दूसरे शब्दों से निकले हैं और कितने ही किसी दूसरे शब्द से नहीं निकले हैं। इस प्रकार जितने शब्द कहे गये हैं सब अर्थ के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं—रूढ, योगरूढ, और यौगिक। रूढ वे हैं जिनकी व्युत्पत्ति नहीं है अथवा व्युत्पत्ति हो भी तो व्युत्पत्तिका अर्थ से कोई संबंध नहीं; जैसे—गज, घोड़ा, गंध इत्यादि।

योगरूढ वे हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति से कुछ कुछ मिले, पर सर्वथा व्युत्पत्ति के अनुसार न हो; जैसे—सरोज, हनुमान, पंकज, अङ्गरखा, जलज, इत्यादि।

यौगिक वे हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति से ठीक-ठीक मिले, जैसे—सज्जन, मनुज, देवालय, शिवालय, इत्यादि।

संज्ञा के भेद

जातिबोधक, गुणबोधक, क्रियाबोधक, द्रव्यबोधक, व्यक्तिबोधक, भावबोधक और समूहबोधक—ये संज्ञा के सात भेद हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, गाय, भैंस, अंग्रेज, फ्रांसीसी आदि जातिबोधक संज्ञा हैं। रङ्ग के अर्थ में काला, पीला, इत्यादि गुणबोधक संज्ञा है। रङ्गीन वस्तु के अर्थ में ऐसे शब्द संज्ञा नहीं कहाकर विशेषण कहाते हैं। स्तुतिपाठकों को बुलाओ, एक पाचक लाओ—इत्यादि वाक्यों में 'पाठक' 'पाचक' इत्यादि क्रियाबोधक संज्ञा हैं। आटा, घी, सोना, चाँदी, इत्यादि द्रव्यबोधक संज्ञा हैं। साधारण रीति से द्रव्यबोधक बहुवचन नहीं होता, पर जब एक ही द्रव्य अनेक प्रकार का हो तो बहुवचन का प्रयोग होता है और ऐसी अवस्था में द्रव्यवाचक संज्ञा जातिवाचक हो जाती है; जैसे—तुम्हारे पास कितने प्रकार के आटे हैं—यहाँ आटा जातिबोधक संज्ञा है, द्रव्यबोधक नहीं है। राम, श्याम, गङ्गा, हिमालय, भारत, चीन, फ्रान्स, आदि व्यक्तिवाचक संज्ञा हैं। कभी-कभी व्यक्तिवाचक संज्ञा व्यक्तिविशेष के गुणों की प्रसिद्धि के

कारण उस गुण के रखने वाले सब पदार्थों के लिये आती है। ऐसी अवस्था में व्यक्तिवाचक संज्ञा जातिवाचक हो जाती है; जैसे—'अल्प्स यूरोप का हिमालय है', 'होमर यूरोप के वाल्मीकि हैं', 'समुद्रगुप्त भारत के नेपोलियन थे', इत्यादि वाक्यों में हिमालय का अर्थ ऊँचा पहाड़ है; वाल्मीकि का अर्थ महाकवि है, नेपोलियन का अर्थ बड़ा वीर है। इसलिये ऐसी संज्ञाओं को व्यक्तिवाचक न कह कर जातिवाचक कहेंगे। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, मोटापन, कालापन, आदि भाववाचक संज्ञा हैं; प्रायः इनका भी बहुवचन नहीं होता। झुण्ड, गुच्छा, जोड़, सभा आदि समूहार्थक संज्ञा है।

क्रिया दो प्रकार की होती है—सकर्मक और अकर्मक। जिसमें कर्म लग सके उसे सकर्मक और जिसमें कर्म नहीं लग सके उसे अकर्मक क्रिया कहते हैं। बालक आम खाता है—यहाँ 'खाना' सकर्मक क्रिया है, क्योंकि 'आम' 'खाना' क्रिया का कर्म है। श्याम सोता है, इसमें 'सोना' अकर्मक क्रिया है क्योंकि इसमें कर्म नहीं है।

सर्वनाम पाँच प्रकार के हैं;—पुरुषवाचक, निर्देशार्थक, सम्बन्धसूचक, प्रश्नार्थक और अनिश्चयार्थक। पुरुषवाचक सर्वनाम तीन प्रकार के हैं:—मैं, हम, उत्तमपुरुषके; तू, तुम, मध्यमपुरुष के; और वह, वे, अन्य पुरुष के सर्वनाम हैं। यह, ये, वह, वे विशेषण के विना रहें तो निर्देशार्थक सर्वनाम है। जैसे—यह लाओ, वह अच्छा नहीं है। जो, जौन, सो, तौन, सम्बन्धसूचक सर्वनाम है। को, कौन, कोई, क्या, प्रश्नार्थक सर्वनाम है। कुछ, कोई इत्यादि अनिश्चयार्थक सर्वनाम है। यह, जो, कौन, आदि शब्द विशेष्य के साथ रहे तो सर्वनाम नहीं है, विशेषण है।

गुणवाचक या विशेषण, गुण, क्रिया, परिमाण, संख्या, पूरण, निर्देश, प्रश्न और अनिश्चय होने के कारण, आठ प्रकार का होता है। काला, पीला, आदि गुणबोधक विशेषण हैं। मारता हुआ, खाता हुआ इत्यादि क्रियाद्योतक विशेषण है। छोटा, लम्बा, चौड़ा, बड़ा, आदि परिमाण-सूचक विशेषण है। एक, दो आदि संख्यावाचक विशेषण है। पहला, दूसरा, इत्यादि पूरणार्थक विशेषण है। विशेष्य के साथ यह, वह*—इत्यादि निर्देशार्थक विशेषण है। विशेष्य के साथ कौन, कोई इत्यादि प्रश्नार्थक विशेषण है। विशेष्य के साथ कुछ, कोई इत्यादि अनिश्चयबोधक विशेषण है।

अव्यय के चार विभाग हैं—कारकार्थक क्रियाविशेषण, योजक (समुच्चायक) और क्षेपक। को, ने, में, इत्यादि कारकार्थक अव्यय हैं। खूब, धीरे, इत्यादि क्रिया—विशेषण अव्यय हैं। 'और' 'या' इत्यादि ... अव्यय हैं। आ, अरे, हाय!, इत्यादि क्षेपक अव्यय हैं।

---

* यह, वह इत्यादि विशेष्य के साथ आवें तो विशेषण हैं और विना विशेष्य के आवें तो स[र्व]नाम हैं।

वाक्यविभाजन और पदनिर्देश

जब कोई वाक्य सामने आवे तब उसके अङ्गों का परिचय करने के लिये पहले यह देखना चाहिये कि वाक्य शुद्ध है या संसृष्ट है या संकीर्ण है। संसृष्ट हो तो किन वाक्यों के संसर्ग से बना है और वे वाक्य किस शब्द से जोड़े गये हैं यह समझना चाहिये। यदि वाक्य संकीर्ण हो तो यह देखना चाहिए कि कौन मुख्य वाक्य है और कितने उसके अङ्ग हैं एवं कौन अङ्ग मुख्य वाक्य से क्या सम्बन्ध रखता है। इसके बाद शुद्ध वाक्य हो तो समूचे वाक्य के और संकीर्ण और संसृष्ट वाक्य हो तो पृथक्-पृथक् छोटे से छोटे वाक्यों को निकाल कर उन वाक्यों के उद्देश्य, विधेय, उद्देश्य का विस्तार और विधेय का विस्तार, बतलाना चाहिये। फिर क्रम से उद्देश्य आदि में कौन शब्द किस वर्ग का है, उससे और शब्दों का क्या सम्बन्ध है यह दिखलाना चाहिए।

उदाहरण—बाघ जो गोली से मारा गया था मैदान में बैठा हुआ पाया गया था।

क—वाक्य का नाम—संकीर्ण वाक्य

ख—घटकवाक्य	१ बाघ मैदान में बैठा हुआ पाया गया था—प्रधान वाक्य। २ जो गोली से मारा गया था—अङ्ग वाक्य।
ग—प्रति वाक्य के उद्देश्यादि	१ उद्देश्य—बाघ, विधेय—था, विधेय का विस्तार —मैदान में बैठा हुआ पाया गया। २ उद्देश्य—जो, विधेय—था, विधेय का विस्तार—गोली से मारा गया।
घ—पदनिर्देश और पदसम्बन्ध	बाघ—जातिवाचक संज्ञा, एकवचन, अन्य पुरुष, पुंल्लिङ्ग, 'था' का कर्त्ता, प्रथमा विभक्ति। जो—सम्बन्धवाचक सर्वनाम, बाघ के लिये आया है, 'था' का कर्त्ता, लिङ्गादि बाघ के सदृश। गोली—जातिवाचक संज्ञा, 'से' कारकार्थक अव्यय के योग में द्वितीया विभक्ति। से—कारकार्थक अव्यय, कारणता द्योतक।

घ—पदनिर्देश और पदसम्बन्ध

मारा गया—मारा जाना इस समस्त क्रिया का भूतकालिक अपूर्व विशेषण, लिङ्ग आदि बाघ के सदृश।
था—अकर्मक अह धातु से उत्पन्न भूतकालिक, अपूर्व विशेषण, व्यवहार में क्रिया का काम देता है, लिङ्ग आदि बाघ के सदृश।
मैदान—जातिवाचक संज्ञा में कारकार्थक अव्यय के योग में द्वितीया विभक्ति।
में—कारकार्थक अव्यय, अधिकरण-द्योतक।
बैठा—अकर्मक, 'बैठ' धातु का भूतकालिक विशेषण।
हुआ—अकर्मक 'हो' धातु का भूतकालिक विशेषण।
पाया—सकर्मक 'पाना' धातु का कर्मवाच्य भूतकालिक विशेषण।
गया—अकर्मक धातु का कर्तृवाच्य भूतकालिक विशेषण।
था—पहले 'था' के सदृश।

वाक्य परिवर्त्तन

क्रिया के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

कर्तृवाच्य—जैसे, घोड़ा घास खाता है, इत्यादि।

कर्मवाच्य—जैसे, मैंने आम खाया, इत्यादि।

भाववाच्य—जैसे, सीता ने सखियों को बुलाया, आया जाय, चला जाय, इत्यादि।

अर्थ के अनुसार वाक्य चार प्रकार के होते हैं—:—

(१) विज्ञापक, (२) विधायक और संभावक, (३) हेतुहेतुमत् और (४) प्रश्नार्थक।

विज्ञापक—जैसे, वह जाता है, वह गया इत्यादि।

विधायक और सम्भावक—जैसे, खाइये, गाइये, आवें, जावें, इत्यादि।

हेतुहेतुमत्—जैसे, पानी बरसता तो सस्ती होती, इत्यादि।

प्रश्नार्थक—जैसे, वह कौन है? क्या आप जानते हैं? इत्यादि।

सम्बन्ध के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं, विधायक और निषेधक।

विधायक—जैसे, वह जाता है, क्या वह आवेगा? इत्यादि।

निषेधक—जैसे, क्या राम नहीं जायगा? राम नहीं आवेगा, इत्यादि।

व्याप्ति के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—समस्तगामी और अल्पगामी।

समस्तगामी—सब मनुष्य मरते हैं, घोड़ा घास खाता है, इत्यादि।

अल्पगामी—कुछ घोड़े लाल होते हैं, कितने लोग नहीं पढ़ते, इत्यादि।

स्वरूप के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के पहले ही कहे गये हैं—शुद्ध, संसृष्ट और संकीर्ण।

शुद्ध—जैसे, राम जाता है, वह घर गया, इत्यादि।

संसृष्ट—जैसे, राम आता है और श्याम जाता है, इत्यादि।

संकीर्ण—जैसे, उस ब्राह्मण को दान देना चाहिये जो दरिद्र हो, इत्यादि।

एक प्रकार के वाक्य को शब्द, अर्थ आदि के द्वारा यथासम्भव सम्बन्ध रखते हुए दूसरे प्रकार के वाक्य में ले जाने को वाक्यपरिवर्तन कहते हैं। जैसे—कर्तृवाच्य वाक्य को कर्मवाच्य बनाना, विधेय वाक्य को निषेध वाक्य बनाना, शुद्ध को संसृष्ट या संसृष्ट को शुद्ध बनाना अथवा सर्वगामी वाक्य को अल्पगामी बनाना, इत्यादि।

विराम और विच्छेद

हिन्दी में वस्तुतः एक ही विराम है जिसे पूर्ण विराम कहते हैं, जिसका आकार (।) खड़ी रेखा-सा है। अंग्रेजी से अल्प विराम (,) और अर्ध विराम (;) आदि अनेक-अनेक विरामों के चिह्न हिन्दी में लिये गये हैं।

विरामों के अतिरिक्त उद्धृतिचिह्न ("—"), प्रश्न चिह्न (?) विस्मय चिह्न (!), इत्यादि अनेक चिह्न लिये गये हैं।

जब अनेक वाक्यों में एक पूरा अर्थ समाप्त होता है तब प्रकरण का विच्छेद किया जाता है, इसलिये विच्छेद को अंग्रेजी में पैराग्राफ कहते हैं।

लेखशैली

लेख के गुण दो प्रकार के हैं—बाह्य और अन्तर। बाह्य गुणों में अक्षरों की स्वच्छता, सुन्दरता और विराम के चिह्नों का यथायोग रहना इत्यादि है। अन्तर गुण इतने हैं—अर्थ की स्पष्टता, बातों का सिलसिला, व्यर्थ शब्दों का न रहना, अश्लील बातों का न आना, और व्याकरण, तर्क आदि की अशुद्धियों का अभाव।

इति

पीलु-विजय

पीलु प्रदेश अमेरिका की पर्णमय ग्रीवा के दक्षिण है। यहाँ चिरकाल से सूर्य-वंशीय राजा लोग राज्य करते आये थे। कुछ लोग तो कहते हैं कि परशुराम आदि ब्राह्मणों से निकाले हुए भारतीय क्षत्रिय चीन के ईशान कोण से होते हुए अमेरिका में जा बसे थे। सम्भव है कि उन दिनों अमेरिका जम्बु-द्वीप से सटा ही हुआ हो। तब हो सकता है कि भारतीय या जम्बुद्वीपीय क्षत्रियों को अमेरिका जाने में क्लेश न हुआ हो।

जो कुछ हो, पीलु देशवाले चिरकाल तक सुख से रहे। उन्हें बाहर के संसार का प्रायः कुछ ज्ञान नहीं था। देश में सोना-चाँदी, अन्न-पानी इतना होता था कि वे सोने के बड़े-बड़े सूर्य बनाकर उन्हें सोने-चाँदी के मंदिरों में स्थापित कर पूजते थे और सुख से अपना काल काटते थे। उनके यहाँ ऐसे धनी थे कि लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि के बदले सोना-चाँदी का उपयोग होता था। उन्हें बहुमूल्य रत्नों का भी अभाव नहीं था। इतना ही नहीं, सूर्य-मंदिरों में वृक्ष, लता, फूल-पत्ती, फव्वारे, तालाब, मछली, चिड़िया आदि भी सोने-चाँदी और रत्न के बने हुए थे। पीलु प्रदेशवाले बाहर के संसार से अनभिज्ञ थे। बाहरी संसार की ओर भी उनका ध्यान नहीं था। सुख-चैन से जबतक दिन कटते रहते हैं और मनुष्य अज्ञान में पड़ा रहता है तब तक कौन किसको पूछता है? पर दरिद्रता देवी और लक्ष्मी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दरिद्र होने पर मनुष्य उद्योग करता है और लक्ष्मी पाता है, फिर लक्ष्मी होने पर आलस्य के मारे तथा दुर्व्यसनों में पड़कर दिवाला मारने लगता है और दरिद्रता का आश्रय बनता है।

एक समय पर्णमय ग्रीवा में रहते-रहते सुफेन (स्पेन) के अहेरियों को कुछ पीलु प्रदेश के धन-धान्य की महक मिली। कुछ लोग पर्णमय ग्रीवा से दक्खिन को चले। बेचारे भूखों मर रहे थे। किसी छोटे-से टापू में उतर पड़े। बड़े क्लेशों के बाद उन्हें यह टापू मिला था। उस टापू में कुछ समुद्री पक्षियों के अतिरिक्त और किसी का निवास नहीं था। कहीं अन्न का नाम नहीं था। समुद्री घोंघे के अतिरिक्त भोजन की कोई वस्तु नहीं मिलती थी। सब लोग हतोत्साह हो रहे थे। सबके शरीर में अस्थियाँ मात्र रह गयी थीं। राज-प्रतिनिधि ने [illegible] भेजा कि तुम लोग लौट आओ। बस, अब क्या था, अस्थिशेष सिपाहियों के घटी हुई प्राणों से ही नया प्रकाश चमकने लगा। सबको फिर से जीवन की आशा हुई। इतने में सिपाहियों का नायक, जिसका नाम पिजार था, आगे निकलकर खड़ा हुआ। अपने सूखे हाथ में लम्बी तलवार लेकर पिजार ने टापू के जमे हुए बालू पर पूरब-पच्छिम रेखा बनाई। इस रेखा का निर्देश कर उसने सिपाहियों से कहा, "वीर भाइयो! इस रेखा से दक्खिन सोने-चाँदी का बना हुआ पीलु प्रदेश है। स्थान तो भयानक है, पर धन और यश दोनों

इसी ओर है। रेखा के उत्तर पर्णमय ग्रीवा हैं। आलस्य, दुःख और दारिद्र्य तीनों इस ओर हैं। तुममें से जिसको जिधर जाने की इच्छा हैं जा सकता है।" यह कह कर प्रियजार स्वयं रेखा पार कर उसके दक्षिण जा खड़ा हुआ। एक-एक करके तेरह सिपाही रेखा लांघ कर प्रियजार के साथ हुए। शेष पोत पर चढ़ कर पर्णमय ग्रीवा की ओर चले। तेरहों सिपाही दक्षिण की ओर जाते-जाते अन्त में पीलु प्रदेश में पहुँचे। श्वेत वर्ण के अतिथियों को देखकर पीलु प्रदेश का राजा अष्टसूर्य बड़ा आनन्दित हुआ। उसने उन्हें सब प्रकार से सुख पहुँचाया। कुछ काल के बाद जिस राजकीय गृह में ये लोग रहते थे वहाँ स्वयं राजा अष्टसूर्य आया। विश्वासघाती सुफेन के सैनिकों ने भोले अष्टसूर्य को बन्दी कर कोठरी में रख लिया। उसके अनुयायियों के प्राण गोली मार कर ले लिये। अब तो राज्य में बड़ा हलचल मच गया। गोलियों के डर से अग्न्यस्त्र के अनभिज्ञ पीलु-प्रदेश वाले सुफेनों से जल्दी बोलना पसन्द नहीं करते थे। अन्ततः इन राक्षसों की चेष्टा से अष्टसूर्य ने सोचा कि उन्होंने केवल धन-लोभ से कृतघ्नता का महापातक किया है।

एक दिन जिस कोठरी में राजा बन्द था उसकी भूमि पर संकेत देकर उसने बतलाया कि यदि आप लोग मुझे छोड़ दें तो मैं इस भूमि को सोने से ढँक दूँगा। सुफेन वालों को उसकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। तब राजा ने क्रोध से खड़े होकर कहा,"तुम लोग समझते हो कि मैं कोठरी की भूमि सोने से नहीं ढँक सकता। मैं इससे भी अधिक कर सकता हूँ। जितनी दूर मेरे हाथ की पहुँच है वहाँ तक इस कोठरी को सोने से भर दे सकता हूँ।" इस पर सुफेन वाले बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बात पूरी हो जाने पर राजा को छोड़ देने का वचन दिया। बस अब क्या था! अब कोठरी भरने के लिये मन्दिर-महल आदि से सोना लाया जाने लगा। दूर-दूर से सोना लाने में कुछ विलम्ब अवश्य हुआ। इस पर सुफेन वाले बिगड़े। समय के पहले ही इन राक्षसों ने राजा को पशु के सदृश मार डाला। जितना सोना कोठरी में जमा था उन्होंने आपस में बाँट लिया।

अभी कोठरी में पोरसा भर सोना नहीं हुआ था तथापि एक-एक व्यक्ति के हिस्से करोड़ से अधिक मूल्य का सोना पड़ा। अब तो घी देने से जैसे आग बढ़े वैसे-वैसे सोना पाने से सुफेन राक्षसों का लोभ बढ़ा। बिचारे भोले-भाले अष्टसूर्य को मार कर सुफेन वाले पीलु-राज्य में विचरने लगे। अन्त में ये सौर काची में पहुँचे। वहाँ मनु के समय का प्राचीन सूर्य-मन्दिर विराजमान था। मन्दिर के भीतर बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई बड़ी मोटी और बड़ी चौड़ी गोल सोने की मूर्त्ति थी। सोने के बरतनों में प्राचीन 'टंका' अर्थात् पीलु राजाओं के शव मसालों से सुरक्षित थे। बाहर उद्यान में फल, मूल, फूल, जीवजन्तु आदि सोने-चाँदी और रत्न के बने थे। बहुत कुछ धन और जितनी सूर्य की मूर्त्तियाँ थीं, सुफेनों के भय से पीलु वालों ने पहाड़ की सुरंगों में रख दीं। तथापि बहुत धन सुफेनों के हाथ लगा। अन्ततः पीलुवालों का सर्वनाश हुआ। जो भीतर गाड़ दिया गया उसका आज तक पता नहीं है। निदान पीलु प्रदेश सुफेन साम्राज्य का एक भाग हुआ।

हमारा संस्कार

असभ्य जातियों में अपना संस्कार या अपनी शिक्षा नहीं रहती। अपना कोई धर्म भी नहीं रहता, और अपनी शिल्पकला उनके वंशजों की निकाली हुई नहीं होती। इसलिये वे दूसरे देशवालों की शिक्षा आदि लेकर सभ्य बनने का यत्न करते हैं। इनका रहन, गहन, बोल, चाल, वेश, वस्त्र आदि देशान्तर की नकल पर अवलंबित रहता है। परन्तु भारत की ऐसी दशा नहीं। हमारा संस्कार, हमारा धर्म, हमारी शिक्षा और हमारा वेश, वस्त्र आदि अनादि काल से अपना ही चला आ रहा है। दूसरे देशों के गुणों के हम कायल हैं। उनकी अच्छी बातें हम न लें, यह हमारा तात्पर्य नहीं। लेकिन केवल उन्हीं की नकल पर हम सब काम किया करें, अपनी देशकालानुकूल बातों को भी सर्वथा छोड़ दें, यह कभी उचित नहीं, और ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। अँगरेजी-शिक्षा के द्वारा सरकार ने हमारा बड़ा उपकार किया है। इस शिक्षा के कारण हमें देश-देशान्तर की बहुत-सी खबरें मिलती हैं। छोटी-बड़ी नौकरियाँ मिल रही हैं, जिससे हजारों कुटुम्ब आराम में पड़े-पड़े अपना निर्वाह कर रहे हैं। परन्तु द्रव्य और समय आदि के अभाव से सैकड़े पीछे एक-आध के सिवा बहुतेरे ही इस शिक्षा से वंचित हैं। जो लोग इस शिक्षा में जाते भी हैं, वे जितना खर्च करते हैं, उसका आठ आने सैकड़ा सूद भी मिलना दुस्तर है। पाँच हजार खर्च करके जो बी० ए०, एम्० ए०, बी० एल्० आदि होते हैं, उन्हें पचीस रुपये की नौकरी भी सुलभ नहीं। नौकरी और वकील आदि के स्थान बहुत कम हैं, और पढ़ने वालों की संख्या हर साल बढ़ती जा रही है। जिन्हें 'स्कॉलरशिप', पद की गारंटी आदि मिले, या घर में रुपये बहुत हों, वे ऐसी पढ़ाई पढ़ सकते हैं। पर जिन गरीबों को, बढ़ई, लोहार, चमार आदि को, या कथक, पुरोहित आदि को पन्द्रह वर्ष की उमर से बूढ़े माँ-बाप आदि कुटुम्ब का पालन करना है, वे इस शिक्षा में नहीं आ सकते। इसके अतिरिक्त हमें देखना है कि इस देश में शंकर, भास्कर, अमरसिंह आदि के समान पुरुष होते थे, और देशान्तरों में आज भी होते हैं। जर्मनी के डॉक्टर आइन्स्टाइन आज भास्कर और न्यूटन के उत्तराधिकारी हैं। उनकी शिक्षा अपनी भाषा में हुई है, विदेश की भाषा में नहीं हुई। वैदेशिक शिक्षा से ऐसे आचार्य या उन आचार्यों के संग्राहक नहीं हो सकते।

संक्षेप से सब स्त्री-पुरुष यह समझ सकते हैं कि जैसे उदार भाव से, बड़ी आयोजना से और बड़ी बुद्धिमानी के साथ कचहरी, पुलिस आदि के काम के लिये सरकार हमारे उपकार के हेतु तथा अपना साम्राज्य चलाने के लिये अँगरेजी शिक्षा देकर अपना कर्त्तव्य कर रही है, उसी प्रकार दशीय रीति पर, देश की भाषा में शिक्षा का प्रचार

इस देश की प्रजा को भी बड़े-बड़े आचार्य और बड़े-बड़े शिल्पकलाभिज्ञों के आविर्भाव के लिये जातीय विद्या-केन्द्र स्थापित करने चाहिये। इस देश के लोग कुछ समय से विद्या-बुद्धि-हीन होने के कारण केवल नकल करने में प्रवीण हैं। देश के लोग उदार हैं। इनके सूराखदार पाकेटों में से हजार और लाख नहीं, करोड़ों रुपये ऐसे लोगों के व्यर्थ बक-बक पर पानी के समान बहा करते हैं, और देश की दशा दिन-दिन हीन होती जाती है। हमारे रुपये भी चले जा रहे हैं, और सरकारी तथा पूज्य मालवीय जी महाराज आदि के सरकार की नकल में बने हुए करोड़ों के मकानात वाले विद्यालयों में से अब हजारों ऐसे ही आदमी निकल रहे हैं, जो बी० ए०, एम्० ए० पास कर नौकरी न मिलने के कारण और अन्य किसी काम के योग्य न होने से भिक्षा, आत्मघात, परद्रोह आदि की शरण ले रहे हैं, और विज्ञ श्रमजीवियों तथा असली विद्वानों के अभाव से देश रसातल को चला जा रहा है। ऐसी संस्थाओं में हमारे करोड़ों रुपये लग चुके, और अब करोड़ों के लिये लोग फिर अपील कर रहे हैं। जब सरकारी काम के लिये जितने अफसर अपेक्षित हैं, उनसे हजार गुने अधिक सरकारी विश्वविद्यालयों ही से निकल रहे हैं तो फिर हजारों-लाखों बी० ए०, एम्० ए०* भिक्षुक, आत्मघाती, परद्रोही, देशनाशक, विद्या-विलोपक उत्पन्न करने के लिये हम अपने पाकेट से और सहायता क्यों दें! अब बहुत हुआ, अब देशवालों को चेत जाना चाहिए।

अब हमें तो सरकार की व्यर्थ नकल करने वाली संस्थाओं को अपनी वर्तमान स्थिति में रखकर ऐसे विद्या-केन्द्र अपने तन, मन, धन की सहायता से स्थापित करना चाहिए, जिससे फिर देश में प्राचीन भारतीयों के सदृश तथा नतन यूरोप आदि देशों के समान अच्छे ग्रन्थकार और अच्छे शिल्प-कलाभिज्ञ उत्पन्न हों, जो किसी नौकरी का उद्देश्य न रखकर, अपने पैरों पर खड़े होकर, देश-देशान्तर से धन-मान पावें। अपनी रीति पर शिक्षा पाकर बी० ए० आदि डिग्री न लेने से ये स्वयं नौकरी न पावेंगे, और सर्वात्मना ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में और नए आविष्कारों में लगे रहेंगे।

इस कार्य के लिये भारत में एक-एक करोड़ के पच्चीस-तीस केन्द्र अपेक्षित हैं। पहले हमलोग यहाँ एक आदर्श केन्द्र स्थापित करना चाहते हैं। इस केन्द्र में चारों ओर कोटन और पान के गमले रखकर बड़े-बड़े दिवान, मेहराब और मंदिर-द्वारी बरसातियों के बीच और पढ़ाई का प्रबंध नहीं होगा। औषधोद्यान में प्राणरक्षोपयुक्त लता-वृक्षादि का अपनी भाषा में (न कि बड़े-बड़े लैटिन, ग्रीक के शब्दों में) परिचय करते हुए चरक और सुश्रुत आदि की विद्याओं की रक्षा करते हुए देश की अनादिकालिक विद्या को पुस्तकों के बीच में रहकर, सैकड़ों विद्वान् की भाषाओं में यहाँ ग्रन्थों का निर्माण

---

*अब से जो बी० ए०, एम० ए० हों, वे स्वतंत्र जीविका योग्य थोड़ी संख्या में हों, और देश के भारभूत न हों, यही मेरा तात्पर्य है।

किया करेंगे, और जो ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण करेंगे, वह सब स्त्री-पुरुषों को सुलभ रहा करेगा। आजकल के नए ढंग के विद्वानों की क्या दशा है, उनके कुछ उदाहरण आप देख सकते हैं और खयाल कर सकते हैं। मैं कई एम्० ए० पास विद्यार्थियों का पालन कर रही हूं। इनका पालन छोड़ दूँ, तो कल से इनको फाका करना पड़े। कहिए, एम्० ए० होकर प्राण-रक्षा के लिये इस प्रकार दुर्दशा में रहना कैसी निन्दा की बात है। और देखिए, इन बेचारों की शिक्षा ही क्या होती है। मुझे ऐसे एम्० ए० लोगों की खबर है, जो कैथा (कपित्थ) और बड़हल नहीं पहचानते। उनका जन्म और जीवन इस देश में हुआ है। ये कैथे का अर्थ बेल कहते हैं, और बड़हल का तो कुछ अर्थ ही नहीं समझते हैं।* कोटन के बागों में बिजली के पंखे वाले आधुनिक विश्वविद्यालयों के उन्नतिशील विद्यार्थियों में से बहुतेरे की यही गति रहा करेगी। इन्हें न खाने को मिलेगा, और न इनमें निरीक्षा और परीक्षा की शक्ति होगी, न ये किसी स्वतंत्र जीविका के योग्य ही रहेंगे। हमारे नवीन विद्या-केन्द्रों में ऐसी बातें नहीं होंगी। आँख और स्वास्थ्य बिना खोए, फीस में बिना हजारों लगाए, सांप्रतिक जर्मन, जापानी बालकों के सदृश हमारे गरीब बालक यहाँ स्वतंत्र जीविका योग्य विद्या पढ़ सकेंगे। चंदे से आश्रम चलता। विद्यार्थियों से कुछ नहीं लिया जायगा। सबको इस आश्रम से लाभ होगा। परंतु आधुनिक शिक्षा का एक और उदाहरण देखिए। हमारे आधुनिक विश्वविद्यालयों में बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक गप्पें छाँटी जाती हैं। परंतु यदि कोई चमार चमड़ा साफ करने का मसाला जानने के लिये साइंस-कॉलेजों के किसी अध्यापक के पास जाय, तो क्या उसे बिना गर्दनियाँ दिए वे रहेंगे? ये तो चमड़ा साफ करने का मसाला बी० एस्०-सी० करके एम्० एस्०-सी० वाले छात्रों को बतलावेंगे, जिन्हें कभी चमड़ा छूने का अवसर ही नहीं आवेगा, और पुलिस या कचहरी की नौकरी ही खोजते जन्म बीतेगा।

इसलिये हमारा प्रस्ताव है कि आधुनिक शिक्षा की पूर्ति के लिये देश-भाषा में सब ज्ञान-विज्ञान आदि सर्वसाधारण को सिखाने वाले विद्याकेन्द्र स्थापित किए जायँ, और सब वद्या-प्रेमी स्त्री-पुरुषों के पाकेट से निकली हुई धन-धारा इन्हीं केन्द्रों में लगे।

मैंने अपने धन से प्रतिमास सैकड़ों रुपये खर्च कर ऐसा एक छोटा विश्वविद्या-केन्द्र स्थापित किया है। कहा जा चुका है कि इसमें कई विद्वानों का पालन हो रहा है। जिनमें कितने ही एम्०ए० हैं। कुछ पुस्तक आदि का प्रबंध हमारे कुटुम्ब के व्यय से हो रहा है। कुछ पुस्तक आदि की सहायता विद्या में प्रायः सर्वस्व व्यय करने वाले श्रीमान् शिवप्रसाद जी के द्वारा मिल रही है। परन्तु इस केन्द्र में एक बड़े देशीय ओषधोद्यान

---

*अमरकोष सामान्यतः यहाँ के सब विद्यार्थी पढ़ते हैं। प्रथमा का यह कोर्स है। पर निरीक्षक, परीक्षक और अध्यापक, कोई इसका वनौषधि वर्ग नहीं समझता। जैसे एम्० ए०, वैसे आचार्य फिर ऐसी पढ़ाई से क्या फल?

की अपेक्षा पड़ रही है, जिससे हमारे यहाँ जो महानिधान आदि का संग्रह हो रहा है, उसका वनौषधिवर्ग आदि पूर्ण उपयोगी रूप में परिणत हो। यहाँ काम करने वाले विद्वानों के लिये एक बड़े पुस्तकालय की भी अपेक्षा है। अभी दो-तीन विभागों का कार्य हो रहा है। परन्तु पूर्ण प्रबंध के लिये बीस विभागों की अपेक्षा है। प्रत्येक विभाग में पाँच-पाँच कार्यकर्त्ता यदि रहेंगे, तो सौ अधिकारियों के लिये प्रबंध करना पड़ेगा। लगभग बीस वर्ष से संक्षिप्त रूप से कार्य हो रहा है। इधर दस वर्षों से बड़े जोर-शोर से काम हो रहा है। तथापि प्रायः बिना बाहरी सहायता के एक साधारण कुटुम्ब अपने व्यय से देश-भर में कोष, काव्य, दर्शन आदि के उत्तमोत्तम प्रचार के कार्य में कहाँ तक प्रयत्न कर सकता है। इसलिए अब देश को चाहिए कि जगत् के अन्य प्रदेशों की तरह अपना मुख उज्ज्वल करने के लिये रस्मसंहिता के कार्यों से तथा बकवकी लोगों के निरात्मक इष्ट कालमों से कुछ धन, शक्ति, समय आदि बचाकर अब इन कार्यों को अपनायें, और इस महायज्ञ के लिए विशाल देश-व्यापक आयोजन करें। ठीक से इसका प्रबंध होगा, तो हमारा कुटुम्ब तन, मन, धन से पूर्ववत् सहायता करता रहेगा। मैं अपने कुटुम्ब की कमाई से सैकड़ों की सहायता करती रहूँगी, और मेरे कुटुम्ब के लोग शरीर, विद्या, बुद्धि आदि से भी अमूल्य सहायता देते रहेंगे।

— रत्नावती देवी

(साहित्याचार्य पांडेय रामावतार जी शर्मा, एम्० ए० की धर्मपत्नी)

पुराण-तत्व

उक्तियाँ प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—स्वभावोक्ति, रूपकोक्ति और अतिशयोक्ति। वैज्ञानिक बातें स्वभावोक्ति में लिखी जाती हैं। हमारे यहाँ आयुर्वेद, गोलविद्या आदि विषय इसी ढंग पर चलते हैं। वैदिक संहिताओं की बातें बहुधा रूपकमयी हैं। पुराणों की प्रधान बातें अतिशयोक्तिमयी हैं। पूर्ण चन्द्रोदय के समय समुद्र की लहरें ऊँची उठती हैं; क्योंकि चन्द्र के प्रति पृथ्वी अधिक आकृष्ट होती है। ऐसे वर्णन को स्वभावोक्ति कह सकते हैं। पर यदि इसी बात को इस प्रकार कहा जाय कि समुद्र पिता है, चन्द्रमा उसके पुत्र हैं, और पुत्र की पूर्णता देखकर समुद्र उमड़ उठता है, तो इसको रूपकोक्ति कह सकते हैं। पुनः इसी बात की यदि एक कथा बनाई जाय कि सागरदेव नाम के एक राजा हैं, जिनका एक अति सुन्दर बालक चन्द्रदेव नाम का है, इसका जन्म ऐसे नक्षत्र में हुआ है कि ज्योतिषियों ने प्रतिमास एक बार उसके पूर्ण मुखावलोकन का सौभाग्य पिता को बतलाया है तो इस कथा को अत्युक्तिमयी कह सकते हैं। आलंकारिकों ने कहा है कि बालक, पशु आदि के कार्य रूप आदि का शब्दों में यथास्थित चित्र खींचना स्वभावोक्ति अलंकार है। मुख चन्द्र के समान है, ऐसे वाक्यों में मुख आदि वर्णनीय या उपमेय वस्तुओं को विषय कहते हैं। चन्द्र आदि उपमान वस्तुओं को विषयी कहते हैं। स्वभावोक्ति में केवल विषय का उल्लेख रहता है। रूपक-उपमा आदि में विषय-विषयी, दोनों ही पृथक्-पृथक् दिए रहते हैं। किन्तु अतिशयोक्ति में विषय को एकबारगी विषयी खा लेता है। इसीसे अतिशयोक्ति में पढ़ने पर लोग बहुत घबराते हैं। कुछ लोग अतिशयोक्ति की कविता की बड़ी निन्दा करते हैं। दूसरे लोग अतिशयोक्ति का मौलिक अर्थ न समझकर केवल बाहरी अर्थ का खयालकर व्यामोह में पड़ते हैं। अँगरेजी में अतिशयोक्ति को एलगरी (Allegory) कहते हैं। बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अतिशयोक्ति का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। अपने यहाँ पुराण अतिशयोक्ति-प्रधान हैं, यह कहा जा चुका है। 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' में लिखा है कि क्रिस्तान साहब एक बार एक लुभावने किले में गये। लोग कहते हैं कि एक हिंदुस्तानी बारिस्टर लंदन के आस-पास एक बार हाल ही में इस लुभावने किले का अन्वेषण करना चाहते थे। वह नहीं समझते कि हर आदमी क्रिस्तान साहब कहा जा सकता है और लुभावना किला हर जगह मौजूद है। आजकल अज्ञानियों के हाथ में पड़कर पुराणों की बड़ी दुर्दशा है। वे पौराणिक अतिशयोक्तियों का अर्थ नहीं समझते। समझें भी कैसे,

जबतक स्वाभावोक्तिमय ज्योतिःसिद्धांत आदि से तथा रूपकमय वैदिक साहित्य से पौराणिक कथाएँ न मिलाई जायँ, तबतक इनका यथार्थ अर्थ नहीं लग सकता।

प्रायः सब वस्तुओं में स्त्री-पुरुष की भावना स्वाभाविक है। समस्त जगत् तथा उसके अंग-प्रत्यंग के प्राकृतिक दृश्यों को, काम-क्रोध आदि मनोभावों को आधि-व्याधि-शीतला आदि को, अनेक अघोर आदि मतों के आदर्शों तथा अन्य पदार्थों को मनुष्य भारत में तथा देशान्तरों में स्त्री-पुरुष के कल्पित रूप में समझता आ रहा है और समझता रहेगा। होमर से ब्राउनिङ्ग तक, ऋग्वेद के ऋषियों से लेकर तुलसीदास तक यही दशा है। जब समस्त जगत् या महापरिमाण आकाश आदि को मनुष्य पुरुष समझते हैं, तो उसे ईश्वर, खुदा, विष्णु और शिव आदि महादेवों के नाम से पूजते और पुकारते हैं। और उसे अनन्त, सहस्रबाहु से लेकर आठ, चार, दो बाहु आदि का भी समझते हैं। उसकी प्रीति के लिये पशु-पक्षी, हलुआ और पूरी इत्यादि चढ़ाते या आग में डालते हैं। इसी प्रकार शरीर पर ममता रखने वाले ज्ञान को भी लोग इन्द्रियों का अध्यक्ष, इन्द्र, शिव, विष्णु आदि अनेक रूप का अथवा अरूप समझते हैं। उसे स्वर्ग-नरक की सैर करनेवाला, चौरासी योनियों में भ्रमनेवाला, प्रेत-पिशाच होकर खाना माँगनेवाला या टेबुल हिलाने वाला, दूसरे के मन में घुसनेवाला आदि समझने लगते हैं। जब इन्हीं आकाश आदि वस्तुओं को स्त्री समझते हैं, तो सूर्य-चन्द्रमा रूप कुण्डलवाली काली आदि समझते हैं। सयाने लोग ऐसी कथाओं को परिस्तानी गल्पों की तरह आनन्द से पढ़ते और सुनते हैं। इनमें विज्ञान का काम लेने का यत्न नहीं करते। बच्चा भी बुढ़िया की कहानी में उड़न-खटोले की कथा सब देशों में सुनता है। परन्तु उड़न-खटोले के पीछे अपना पढ़ना-लिखना, रोजी-रोजगार नहीं छोड़ता। जो व्यक्ति या जो दश इन कथाओं के अक्षरार्थ में पड़ते हैं और इन अतिशयोक्तियों का मूलार्थ नहीं सुन या समझ पाते, वे नष्ट हो जाते हैं। अन्य देश इस दशा से निकलते जा रहे हैं; पर भारत अभी इसी घोर अन्धकार में पड़ा है, और इन अतिशयोक्तियों को वैज्ञानिक स्वभावोक्ति समझाकर मूर्ख लोग ठगे जा रहे हैं। ऐसा समझाते हुए धूर्त लोग उन्हें ठगते जा रहे हैं। भगवान् व्यास या भागवतकार ने सर्प के मस्तक पर पृथ्वी रखी, और "भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः" यह भी कहा। वे नहीं सोचते थे कि उनके वंशज ऐसे होंगे कि सचमुच साँप पर पृथ्वी समझने लगेंगे।

सूर्य की किरणें ओस की बूँदें तथा कटे हुए रत्न, काँच आदि में, रंग-बिरंगे मालूम पड़ते हैं। सातरंग की किरणों को लोगों ने सात अश्व कहा। अश्व धातु का अर्थ है व्यापना, शीघ्र चलना। इसीलिए वेदों में अश्व शब्द घोड़े और किरण, दोनों अर्थों में आता है। प्रातःकाल की लालिमा के पीछे सूर्य आता है। कवि लोग जैसे मुख को कमल आदि कहते हैं, वैसे ही सूर्य को सप्ताश्व और अरुण को उसका सारथि। इस लालिमा को लोगों ने सूर्य के आगे रथवाह बनाया। दूसरी कल्पना में इस लालिमा को या रात्रि के अन्त की श्वेत प्रभा को लोग उषादेवी कहने लगे। सुमेरु (होमर) कवि ने

उषा की गुलाबी उँगलियों का वर्णन किया है। उषादेवी अमर है। अहल्या उसे कहते हैं, जिसका हनन न हो। बोली में प्रायः नकार का लकार हो जाया करता है। इससे लोगों ने उषा को अहल्या और उसका पीछा करने वाले सूर्य को इन्द्र बतलाया है। उर्वशी, पुरूरवा आदि की अनेक और भी कथाएँ इस मूल पर बन गईं। उर्वशी अर्थात् बहुत दूर तक व्यापने वाली उषादेवी ही है। इसी अर्थ में वेदों में उर्वशी शब्द का प्रयोग है।

सामान्यतः पौराणिक कथाओं के तीन मूल है—आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आधिदैविक मूल पर अनन्त आकाश को शरत्कालिक स्वच्छरूप में विष्णु कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा इनकी आँखें हैं। चार महीने आँख मूँदने के बाद यह देव कार्तिक में उठते हैं। लक्ष्मी, श्री या शोभा इनकी स्त्री है। वेदों में भी 'द्यौः पिता' लिखा है। इसी बुनियाद पर पश्चिम के लोगों में द्युपितर या 'ज्युपिटर' की कल्पना हुई। वेद टटोलने पर इस मूल का पता यूरोपियन लोगों को मिला। इसी आकाश के सन्ध्याकालिक रूप को चन्द्रशेखर, व्योमकेश, दिगम्बर और शिव कहते हैं। वर्षाकालिक, नील मेघाच्छन्न नभस्थली को काली कहते हैं। सूर्य-चन्द्रमा इसके कर्ण-भूषण हैं। आकाश पर ऐसी अनेक कल्पनाएँ हुई हैं। जैसे, विद्युन्मय आकाश के अंक में इन्द्र आदि तैंतीस कोटि तारा-रूपी देव-देवियाँ हैं। आध्यात्मिक मूल पर आत्मा को विष्णु, इन्द्र और शिव आदि कहते हैं। आधिभौतिक मूल पर किसी सुन्दर, वीर, सुभग, अवतार पुरुष यथा राम, कृष्ण आदि को विष्णु का अवतार कहते हैं। भयानक हनुमान् आदि को रुद्र का अवतार कहते हैं। सुन्दर रुक्मिणी, सीता, प्रद्युम्न आदि को लक्ष्मी, काम आदि के अवतार कहते हैं। इसी प्रकार अन्य आदर्शों के भी अवतार होते हैं।

कई पौराणिक अतिशयोक्तियाँ बहुत ही सुन्दर और प्रसिद्ध है। इनमें तीन-चार और उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। नृसिंहावतार की कथा सब लोग जानते हैं। पर इसके मूल का खयाल लोग नहीं करते। देव-दैत्य अमर हैं। हिरण्यकशिपु और उसके पुत्र प्रह्लाद, दोनों ही आजकल भी वर्त्तमान हैं। भगवान् भी सदा जागरूक हैं। जहाँ-जहाँ हिरण्यकशिपु को पाते हैं, उसकी छाती फाड़ देते हैं। आपलोग इन देव-दैत्यों का सदा दर्शन करते हैं, पर इनके रूप-नाम से परिचित नहीं। अब आइए, फिर हम लोग इनका प्रत्यक्ष दर्शन करें या दर्शन तो करते ही हैं, इस बात को समझ लें। हिरण्यकशिपु शब्द का अर्थ है सोने की शय्या या सुनहली शय्या पर सोने वाला पुरुष। ऐसे अमीर हिरण्यकशिपु आज भी बहुतेरे हैं। कशिपु का शय्या या तोशक अर्थ भागवत ही में "शय्याशितौ किं कशिपोः प्रयासैः" इस श्लोक में आया है। सोने की शय्या वाले को हर्ष उल्लास होता है। प्रह्लाद कहते हैं हर्ष को। पर ये शौकीन धनी लोग प्रह्लाद की क्या दशा करते हैं। ये लोग समुद्र की सैर करते हैं। प्रह्लाद तो समुद्र में नहीं डूबता। जहाजी सुख लूटने के बाद ये पहाड़ी होटलों में जाते हैं। पर प्रह्लाद पहाड़ पर भी चूर नहीं होता। अनेक मेह, उपदंश आदि आधि-व्याधि होने पर भी ये समझते हैं कि

हमको ईश्वरीय दण्ड नहीं मिलता है। खयाल करते हैं कि ईश्वर है ही कहाँ; पर एक अव्यक्त बालक की-सी बोली इन्हें बताती है कि ईश्वर तो हममें, तुममें, खड्ग-खंभ में सब जगह है। जब ये अपने अत्यन्त कुकार्यों से मरने लगते हैं तो इन्हें सामने ही के खंभे, दीवार या हवा में विकराल भगवान् की मूर्त्ति नजर आती है। अन्त में मेह उपदश आदि की भयानक व्यथाओं से इनकी छाती फट जाती है और मरने के बाद हमारे राजा या महाराजा, धनी और शौकीन चिरकाल गर्भ में रहकर कुमार हिरण्यकशिपु के रूप में फिर उत्पन्न होते हैं। फिर तारुण्य में इस नये हिरण्यकशिपु की लीला का नाटक वैसे ही चल निकलता है, और उसकी भी छाती भगवान् के भयानक नखों से पहले के समान फाड़ी जाती है।

अब आइए, साक्षात् महिषमर्दिनी, शुंभ-निशुंभ-नाशिनी चंडी भगवती दुर्गा जी का प्रत्यक्ष दर्शन करें। सुरथ राजा का नष्ट राज्य इनकी कथा सुनने तथा इनके पुरश्चरण से फिर मिल गया था। कदाचित हमारे देश के दीवालिये सेठों को भी कुछ धन-दौलत इस देवी के दर्शन से फिर मिल जाय। दुर्गा, भगवती, सर्वदेवमयी, गौरी, विज्ञानमयी, चण्डी शासन-शक्ति है। यह सनातन नियम है कि दुर्बल, मूर्ख, जंगली लोगों पर प्रबल ज्ञानवान् सभ्यों का शासन हुआ करता है। प्रकृति का स्वभाव या परमेश्वर की व्यवस्था (जिसमें आपका विश्वास हो) ऐसी कभी नहीं हो सकती कि इस व्यवस्था में प्रबल वैज्ञानिकों पर मूर्ख और दुर्बलों का शासन हो। यह शक्ति जब आगे बढ़ती है तब इन्द्र, वरुण, और यम, सब अपने शस्त्र इसे दे देते हैं। जब आर्य-शक्ति सिन्धु-तट से पूर्व-दक्षिण की ओर चली तो विन्ध्यवन से अक्षरशः सत्य महिषासुर निकला। उसकी सेना में विडालासुर, चिक्षुरासुर (गिलहरी) आदि निकले। पर इन जंगली भैंसों, वनबिलाव आदि तथा जंगली आदमी कोल, भिल्ल, गोंड, मुंडा आदि को मारती तथा वश करती हुई, जंगलों को जलाती और साफ करती हुई, दुर्गम पहाड़ों में प्रवेश करती हुई आर्य-शक्ति (आर्य-शक्ति से आर्यसमाज की शक्ति न समझिएगा) सब अनार्यों पर शासन करने लगी। हमें इस देवी का आज भी प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। यही प्रचंड आर्य-शक्ति, आज फिर क्षीर-सागर के मध्य में वर्तमान अद्भुत श्वेतद्वीप से निकलकर चारों ओर के जंगलों को साफ करती हुई हरित भूमि (Green Land) से नवजीवन भूमि (Newzealand) तक शासन कर रही है। इस शक्ति से असली आराधकों ने संसार में कैसा गौरव पाया है, सो सभी लोग जानते हैं। चिरायता शब्द जपने से ज्वर नहीं जाता, उसके अर्थ का उपयोग करने से लाभ होता है। वैसे चंडी-स्तोत्र पाठ करने से क्या फल होगा? चाहे स्वयं पाठ कीजिए या आठ आने पर पंडित जी से पाठ कराइए, बिना अर्थानुष्ठान के फल नहीं।

मंत्रवादियों की तीन अवस्थाएँ इतिहास में देखी जाती हैं। एक वह जिसमें लोग बिना बोले मन से मंत्र के अर्थ का खयाल कर, तदनुसार अनुष्ठान कर बड़े-बड़े कार्यों में सफल होते थे। इस अवस्था का वर्णन श्रुति-स्मृतियों में है। मनु ने "साहस्रोमानमः

स्मृतः" कहा है, अर्थात् मंत्रानुष्ठान का फल मंत्र के मानस-खयाल से, बोलने की अपेक्षा, सहस्रगुण होता है। छांदोग्योपनिषद् में भी लिखा है—"यथा अग्नेर्मन्थनमाजेःसरणं दृढ़स्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तत्करोति" अर्थात् अग्निमंथन आदि बलकर्म सांस के लिए बिना किया जाता है। जोर से कान में उंगली डालकर, चिल्लाकर मंत्र पढ़ने से ऐसे कार्य नहीं होते। इसके बाद दूसरी अवस्था है, जब लोग लकड़ी रगड़ते और "अरण्योर्निहितो जातवेदाः" कहते जाते थे, जैसे श्रमजीवी लोग रोलर खींचते और 'हैयो-हैयो' आदि चिल्लाते जाते हैं। पर इसके बाद एक तीसरी अवस्था और भी अद्भुत आई, जो आज तक इस देश में वर्तमान है। इस अवस्था में लोग यह समझने लगे कि कार्य की या उसके साधारण साधनों की कोई जरूरत नहीं, केवल मन की कल्पना से या "ह्रां-ह्रीं कलकत्तेवाली कमच्छेवाली धर-मार-चीर-फाड़' आदि पवित्र मंत्रों के कहने से जो चाहे मिल सकता है, आग-पानी उत्पन्न हो सकते हैं या जिसको चाहे मारा या जिलाया जा सकता है। व्यामोह की यह परम और चरम सीमा है। इसमें पड़े हुए देश पराधीनता, प्लेग और दुर्भिक्ष के प्रत्यक्ष घोर नरक में सड़ते रहते हैं। असल में देशों तथा मनुष्य-जातियों की दो ही गतियाँ होती हैं, वास्तव विकास या औत्प्रेक्षिक संक्षेप। वास्तव विकास वाले पहले बैल या घोड़ागाड़ी आदि पर, इसके बाद रेल घुघाकश आदि पर और अन्त को वैद्युत वायुयान आदि पर चलते हुए संसार को अपनी मुट्ठी में रखते हैं। पर औत्प्रेक्षिक संक्षेप वालों का चरित बड़ा विलक्षण होता है। देखिए, श्री रामचन्द्रजी को बहुत बखेड़ा करना पड़ा था। भगवान् वाल्मीकि लिखते हैं कि आपने अयोध्या से गंगा तट तक सपत्नीक सुमंत्र के रथ पर यात्रा की। पर गंगा में वह रथ न चल सका। निषादराज गुह की नौका पर राजकुमार को अपने कोमल चरण रखने पड़े। फिर लंका से लौटती बार आकाश-मार्ग से आने में महाराज रामचन्द्रजी को कुबेर के वायुयान पुष्पक की शरण लेनी पड़ी। यह बखेड़ा हमारे महाकवि कालिदास को सह्य नहीं हुआ। वशिष्ठजी के मंत्र के प्रताप से दिलीप की अकेली घोड़ागाड़ी ही पहाड़, समुद्र तथा आकाश में उड़ जाती, ऐसा खयाल इनके मन में आ गया, और उन्होंने लिख दिया—

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ।। (रघु० ५।२७)*

कालिदास के बाद, या कुछ पहले ही से तांत्रिकों ने तो इन प्रयत्नों को भी व्यर्थ समझा और वे पादुका-गुटका आदि को, शून्य ध्यान से उड़ने की तथा प्राकाम्य

*वशिष्ठ के मन्त्रजल के छींटे के प्रभाव से वह रथ पर्वतों के ऊपर और आकाश में उड़ चला। वायु जिसकी सहायता कर रही हो वैसे मेघ की गति के समान उसकी गति अप्रतिहत थी। —सम्पादक

आदि सभी सिद्धियों को आसान समझने लगे। हमलोग आज इसी औत्प्रेक्षिक संक्षेप-रूपी मनोमोदक को खाते हुए, मूँज की रस्सी से बँधी हुई बैलगाड़ी पर सुख से चलते हैं। त्रिकालदर्शिनी अँगूठी और आइने के मौलिक आविष्कारक, ध्रुवतश्च मनोरिक्ष्वाकुर्घ्राणतो जज्ञे" इस विष्णुपुराणीय मंत्र के अनुष्ठान से हाथी छींकने की सिद्धि रखनेवाले, त्रेसोग्राफ के द्वारा बिना तार और बिना खंभे के तार के केवल नाक ही के द्वारा हजारों मील खबर भेजनेवाले वरुणलोकज, संप्रति हाजीपुर-निवासी, श्री १०८ हिज सुप्रीम होलिनेस (His Supreme Holiness) मैत्रेयावतार श्री स्वामी मुद्गरानंदजी हमलोगों को इसी औत्प्रेक्षिक संक्षेप को न मानने से नास्तिक कहते हैं।

अथ श्रीसत्यदेव कथा

एकदा मुद्गरानन्दं भगवन्तं महामतिम् ।
पप्रच्छुः सुहृदस्तस्य काशीक्षेत्रे मनोरमे ॥१॥

श्रीसत्यदेव कथा । पहला अध्याय

किसी समय मनोहर काशीक्षेत्र में महा बुद्धिमान् भगवान् मुद्गरानन्द से उनके मित्रों ने पूछा ॥१॥

सुहृद ऊचुः ।

भगवन्मूर्खताग्रस्तं भारतं पापदूषितम् ।
तस्योद्धारः कथं भावी तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥२॥

मित्रों ने कहा हे भगवन् ! यह भारत मूर्खता से ग्रस्त हो रहा है और पाप से दूषित हो गया है । सो आप बतावें कि इसका उद्धार कैसे होगा ॥२॥

सत्यदेवकथा यावृक् साधुनान्यैस्तथा श्रुता ।
कालेन च विलुप्ता तां तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ॥३॥

जैसी सत्यदेव की कथा साधु, बनिया तथा और लोगों ने सुनी थी सो कालक्रम से लुप्त हो गई है । उसको आप ठीक-ठीक कहें ॥३॥

इति श्रुत्वा वचस्तेषां सुहृदां शुद्धचेतसाम् ।
भगवान् मुद्गरानन्दः प्रीतिमानिदमब्रवीत् ॥४॥

शुद्ध हृदय वाले मित्रों का ऐसा कहना सुनकर भगवान् मुद्गरानन्द जी प्रसन्न होकर यों बोले—॥४॥

मुद्गरानन्द उवाच ।

सत्यप्रियैः श्रुता पूर्वं श्रूयमाणा च साम्प्रतम् ।
ईदृक् सुमहती विप्राः ! [illegible] अद्भुता ॥५॥

मुद्गरानन्द जी बोले—हे ब्राह्मणो ! यह सत्यदेव की अद्भुत कथा बहुत बड़ी है । सत्य के प्रेमी लोग ऐसी ही कथा पहले सुना क[illegible] थे तथा आज भी सुनते हैं ॥५॥

कालेन सा विलुप्ताभूद्दोषान्मूर्खपुरोधसाम् ।
तां पुनर्वः प्रवक्ष्यामि श्रद्धया श्रोतुमर्हथ ॥६॥

वह कालक्रम से मूर्ख पुरोहितों के अपराध से लुप्त हो गयी थी । उसे मैं आपलोगों से कहता हूँ, श्रद्धा से सुनिए ॥६॥

श्रीकृष्णसचिवा वीराः पार्था बलमदोद्धतान् ।
दुर्योधनादीन्संग्रामे सुखेनैव विजिग्यिरे ॥१५॥

श्रीकृष्ण के मंत्रित्व से वीर पाण्डवों ने बल के घमण्डी दुर्योधन आदि को सहज ही में महाभारत के संग्राम में जीत लिया ॥१५॥

कुरूणां पाण्डवानां च काले प्रायोभवन्भुवि ।
असुरा अजपुत्राश्च पार्श्वयोर्लोहिताम्बुधेः ॥१६॥

प्रायः कुरुपाण्डवों के समय ही में रक्त सागर के दोनों ओर असुर और अजपुत्र लोग पृथ्वी पर उपजे ॥१६॥

ब्राह्मणानां शतपथप्रभृतीनां क्रमेण च ।
छान्दोग्याद्योपनिषदां प्रादुर्भावोभवद्भुवि ॥१७॥

क्रम से शतपथ आदि ब्राह्मणों का और छान्दोग्य आदि उपनिषदों का जगत् में प्रादुर्भाव हुआ ॥१७॥

आदौ कालः संहितानां ब्राह्मणानां ततः परम् ।
सूत्राणां समयः पश्चात्काव्यानां समयस्ततः ॥१८॥

सबसे पहले ऋग्वेद आदि संहिताओं का समय है। उसके पीछे ब्राह्मणों और इनके बाद काव्यों का समय है ॥१८॥

भाषानुसारतः प्रायः कालस्थितिरितीदृशी ।
जनोद्योगानुसारेण कृतादिस्थितिमूचिरे ॥१९॥

यह समय की स्थिति प्रायः भाषा के अनुसार है। कृत आदि युगों की स्थिति मनुष्यों के उद्योग के अनुसार कही गई है ॥१९॥

अथ कृष्णे गते घोरः कलिः प्रावर्तत क्षितौ ।
सार्धपंचशती प्रायो वर्षाणां क्लेशयञ्जनान् ॥२०॥

जब कृष्ण चल बसे तब संसार में घोर कलियुग छा गया और प्रायः साढ़े पांच सौ वर्षों तक लोगों को बहुत क्लेश होता रहा ॥२०॥

व्यनश्यद्वैदिकं ज्ञानमितिवृत्तं व्यलुप्यत ।
भूतप्रेतपिशाचादिपूजनं सर्वतोभवत् ॥२१॥

(कलि के व्यापते ही) वैदिक ज्ञान का नाश हो गया, इतिहास का लोप हो गया और भूत, प्रेत, पिशाच आदि की पूजा सब जगह चल पड़ी ॥२१॥

ततः सन्देहरूपोभूद्वापरो यमजः कलेः ।
धर्माधर्मविमूढानां विनिपातस्य कारणम् ॥२२॥

इसके बाद धर्माधर्मविमूढ लोगों का नाश करने वाला कलियुग का यमज 'जुड़वाँ' भाई संदेह उत्पन्न हुआ ॥२२॥

भारतीयेष्वनुद्योगदग्धेषु प्रायशः कलाः ।
यवनान्रोमकांश्चैव पाश्चात्येषु समाश्रिताः ॥२३॥

जब भारतीय लोग आलस्य की आग से दग्ध हो चुके तब सभी कलाएँ पश्चिमी यवन-रोमक लोगों की शरण में गईं ।।२३।।

इति श्रीमदभिनवभागवतान्तर्गतायां श्रीसत्यदेवकथायां आर्येतिवृत्तं नाम तृतीयोध्याय: समाप्त: ।

अब श्रीमदभिनव भागवत की सत्यदेव कथा का आर्यों का इतिहास नाम का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ सर्वात्मने नम: ।

चतुर्थोध्याय:

द्वापरे संशयग्रस्ते भारते मोहविक्लवे ।
असत्यासुर उद्भूतो जनानां विनिपातकृत् ।।१।।

जब द्वापर युग में भारत संदेह से ग्रसा जा रहा था और मोह से व्याकुल था तब मनुष्यों का नाश करनेवाला असत्यासुर उत्पन्न हुआ।

कारुण्यकपटेनासावनुद्योगमुपादिशन् ।
भिक्षुवेशो भ्रमद् भूमौ स्थापयन्सर्वशून्यताम् ।।२।।

करुणा के छल से वह उद्योग छोड़ने का उपदेश देता हुआ, सब शून्य है, यही (शून्यवाद का) सिद्धान्त फैलाता हुआ भिक्षु का वेश धारण कर पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा ।।२।।

मायामयं जगत्सर्वं कर्मबद्धोखिलो जन: ।
इत्यादि भावनायोगान्मुक्ति: शून्यात्मता भवेत् ।।३।।

समूचा संसार माया है, सब लोग कर्म से ही बन्धन में पड़े हैं। ऐसी भावना कर लेने ही से शून्य भाव रूप मुक्ति होती है ।।३।।

इतीदृशैरसद्वादैर्मोहयञ्जनतामिमाम् ।
प्रमादोपहतांश्चक्रे सत्यदेवपराङ्मुखीम् ।।४।।

ऐसे-ऐसे असद्वादों से जनता को मोहते हुए सभी लोगों को भ्रम में फँसा कर उसने सत्यदेव से विमुख कर दिया ।।४।।

असत्यासुरसन्तानैरसद्वादपरैस्तत: ।
विप्लावितेयं जनता सत्यदेवं न मन्यते ।।५।।

फिर असत्यासुर की सन्तान के इसी असद्वाद से उपद्रव मचाये जाने के कारण जनता सत्यदेव को नहीं मान रही है ।।५।।

सदप्यसदिति ब्रूते नास्तिक्यं चावलम्बते ।
वन्ध्यापुत्रानुसन्धानसमितिं चानुगच्छति ।।६।।

जो लोग सत् हैं उसको भी लोग असत् कहते हैं, नास्तिक्य का अवलम्बन करते हैं, और बाँझ के बेटे को खोज करनेवाले समाज के पीछे-पीछे चलते हैं ।।६।।

हत्वाभासैरमुष्यैव मोहिता जनताखिला ।
अवसम्भित निर्वेदा चिरं दुःखैरतप्यत ॥७॥

इन्हीं दिखाऊ हेतुओं के प्रचार से मोह में पड़कर जनता बहुत काल तक दुख से अत्यन्त पीड़ित रही ॥७॥

आर्याश्च यवनाश्चैव रोमकाश्चैव सर्वशः ।
तस्योपदेशैर्व्यामूढा अनुद्योगपराः क्रमात् ॥८॥

उसी (असत्यासुर) के उपदेश से व्यामोह में पड़कर आर्य, यवन और रोमक लोगों ने क्रम से उद्योग छोड़ दिया (और आलसी हो गये) ॥८॥

अजायन्त व्यसनिनस्तामसा धर्मकञ्चुकाः ।
निरस्यन्तः शुभां विद्यां विपन्निरयपातिनः ॥९॥

धर्म का जामा पहनने वाले ये लोग तामसी और व्यसनी हो गये तथा पवित्र ज्ञान को छोड़कर विपद्ग्रस्त हुए ॥९॥

नाशं प्रजग्म्यां प्राचीनसभ्यतायां ततः शनैः ।
विनष्टः शाश्वतो धर्मः सत्यदेव उपेक्षितः ॥१०॥

इस प्रकार जब प्राचीन सभ्यता धीरे-धीरे नष्ट हो गई तो शाश्वत धर्म का भी नाश हुआ और सत्यदेव का अनादर हुआ ॥१०॥

दम्भः सत्यो धनं सत्यं सत्या च स्वैरिणी किल ।
विद्या मिथ्या गृहं मिथ्या भार्या मिथ्यतिवादिनः ॥११॥

तस्यासत्यासुरस्यैते पुत्राः पौत्राश्च भूतले ।
जनान्प्रचेरुः कुर्वाणाः सत्यदेवपराङ्मुखान् ॥१२॥

दम्भ सत्य है, धन सत्य है, स्वेच्छाचारिणी स्त्री सत्य है; विद्या मिथ्या है, गृह मिथ्या है, पत्नी मिथ्या है । उसी असत्य रूपी असुर के ये पुत्र और पौत्र पृथ्वी पर लोगों को सत्यदेव के प्रति उदासीन बनाते हुए इस प्रकार से प्रचार करने लगे ॥११, १२॥

सम्प्रदायसहस्राणि मतभेदाश्च भूरिशः ।
धर्मे विनष्टे जायन्त व्यामोहाय नृणां क्षितौ ॥१३॥

धर्म के विनाश के बाद लोगों को भ्रांत बनाने के लिए पृथ्वी पर अनेक संप्रदाय और वाद उत्पन्न हुए ॥१३॥

शैशुनागाश्च नन्दाश्च मौर्याः शुङ्गाश्च काण्वकाः ।
आन्ध्राः शकाश्च गुप्ताश्च द्वापरे भारतं दधुः ॥१४॥

द्वापर में शैशुनागों, नन्दों, मौर्यों, शुङ्गों और काण्वकों ने तथा आन्ध्रों, शकों और गुप्तों ने भारत पर शासन किया ॥१४॥

बिम्बिसारो जरासंधपुरे राजगृहाभिधे ।
राज्यं चक्रे महातेजाः शिशुनागकुलोद्भवः ॥१५॥

जरासंध की नगरी राजगृह में शिशुनाग वंश में उत्पन्न परम तेजस्वी बिम्बिसार ने राज्य किया ॥१५॥

अजातशत्रुस्तत्पुत्रो जित्वा कोशलमैथिलान् ।
मगधान्प्रशशासाथ भूमिपालो महाबलः ॥१६॥

उसके पुत्र अजातशत्रु ने कोशल और मिथिला को जीत कर मगध पर राज्य किया। वह महा बलशाली राजा था ॥१६॥

ततो नन्दा विजयिनः समस्तां भारतावनिम् ।
नृपाः सहस्रकोटीशाः पालयामासुरुद्धताः ॥१७॥

इसके उपरान्त समूची भारतभूमि पर विजय प्राप्त करने वाले असंख्य प्रजाजनों के प्रभु उद्धत नन्दों ने शासन किया ॥१७॥

नन्दैः प्रपालितां प्राचीमदृष्ट्वैव जिघृक्षिताम् ।
उद्दामोलिकचन्द्रोगात्सिन्धुतीराद्यथागतम् ॥१८॥

पूर्व में इन नन्दों के द्वारा सुरक्षित प्रदेश को देखे बिना उद्दण्ड अलिकचन्द्र ने भारत पर आक्रमण किया पर सिन्धुतीर से उसी प्रकार लौट गया जिस प्रकार आया था ॥१८॥

नन्दान्विनाश्य चाणक्यसचिवोऽथ महाबलः ।
शशास चन्द्रगुप्तोऽसौ मौर्यवंशदिवाकरः ॥१९॥

तदनंतर महाबली सचिव चाणक्य ने नन्दों का विनाश कर दिया और उसने तथा मौर्यवंश के सूर्य के समान चन्द्रगुप्त ने शासन किया ॥१९॥

शल्यकाद्यवनापीडाद्बलेन विजितादसौ ।
गान्धारादीन्समाच्छिद्य चक्रवर्तित्वमाप्तवान् ॥२०॥

चन्द्रगुप्त ने शल्यक (सेल्यूकस) आदि यवनों के द्वारा बलपूर्वक जीते हुए गान्धार आदि देशों को छीन कर चक्रवर्तित्व प्राप्त किया ॥२०॥

चन्द्रगुप्तस्य पौत्रेण भारते प्रियदर्शिना ।
विहाय शाश्वतं धर्मं बौद्धमतमुपाश्रितम् ॥२१॥

फिर भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त के पौत्र प्रियदर्शी (अशोक) ने शाश्वत धर्म का परित्याग कर बौद्धमत स्वीकार किया ॥२१॥

संत्यज्य वैदिकान्यागान्समुपेक्ष्य कुटुम्बकम् ।
भिक्षवः संचरन्तिस्म समाः पशुमनुष्ययोः ॥२२॥

वैदिक यज्ञों को छोड़ कर और परिवार की उपेक्षा कर बौद्ध भिक्षु आधे पशु और आधे मनुष्य के समान देश में विचरण करने लगे ॥२२॥

अर्जिता चन्द्रगुप्तस्य महोद्योगस्य विक्रमात् ।
हारितेयं मही पूर्वं भिक्षुभिः प्रियदर्शिनः ॥२३॥

कठिन उद्योग करने वाले चन्द्रगुप्त के पराक्रम से अर्जित पृथ्वी को प्रियदर्शी के भिक्षु पुत्रों ने हाथ से निकल जाने दिया ॥२३॥

बृहद्रथं विनिष्पिष्य भिक्षुणामन्तिमं नृपम् ।
पुष्यमित्रोथ शुङ्गेन्दुः प्रशशास धरामिमाम् ॥२४॥

इन भिक्षु राजाओं में अंतिम, बृहद्रथ, को मार कर शुङ्गवंश के चन्द्रमा के समान पुष्यमित्र ने राज्य किया ॥२४॥

चिरादशोकस्याज्ञाभिर्नियंज्ञां भारतावनिम् ।
पुष्योऽश्वमेधकल्पेन यज्ञागतनोदिमाम् ॥२५॥

अशोक की आज्ञाओं से जिस भारतभूमि पर बहुत दिनों से यज्ञ नहीं हुए थे उस पुष्यमित्र ने अश्वमेधयज्ञ से पवित्र किया ॥२५॥

भारतो भिक्षुसम्बन्धादार्यधर्मोपि दूषितः ।
निवदभवनं भूत्वापुनर्नाप स्थिरां श्रियम् ॥२६॥

इन भिक्षुओं के कारण न केवल भारतवर्ष बल्कि आर्यधर्म भी दूषित हुआ। भारत वराग्य का भवन बन गया और उसे फिर कभी स्थिर राज्य-लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई ॥२६॥

यदा कदाचिद्विधृता याज्ञिकैश्चण्डविक्रमैः ।
हारिता भूर्व्यसनिभिस्तद्वंश्यैर्धर्मकञ्चुकैः ॥२७॥

कभी-कभी प्रचण्ड विक्रम वाले और यज्ञ करने वाले राजा लोग कुछ काल तक इस भारतभूमि का धारण, रक्षा और पालन करते तो थे परन्तु उन्हीं के वंश के धर्म का जामा पहनने वाले व्यसनी इसे फिर-फिर हार जाते थे ॥२७॥

निहत्य नाट्यशालायां चरमं शुङ्गवर्करम् ।
अशिषन्ब्राह्मणाः काण्वा मगधांशं कियच्चिरम् ॥२८॥

शुङ्गवंश के सबसे अन्तिम, बकरे सदृश, राजा को नाट्यशाला में मारकर, कण्ववंशी ब्राह्मणों ने कुछ काल तक, मगध के एक अंश पर शासन किया ॥२८॥

नन्दैर्मौर्यैश्च शुङ्गैश्च काण्वैश्च विधृतं चिरम् ।
आन्ध्रैर्दक्षिणदेशीयैर्जितं पाटलिपत्तनम् ॥२९॥

जिस पाटलिपत्तन (पाटलिपुत्र) को बहुत काल तक नन्द, मौर्य, शुङ्ग और कण्व राजाओं ने अधिकार में रखा था उसे दक्षिण देश वाले आन्ध्रों ने जीत लिया ॥२९॥

येर्दिता मौर्यसिंहानां प्रतापनखरैः खरैः ।
आन्ध्रयूथाधिनाथास्ते स्वतन्त्रा भारतेभ्रमन् ॥३०॥

जो आन्ध्र सेनापति मौर्य वंश के सिंह समान राजाओं के तीक्ष्ण प्रतापरूपी नखों से त्रस्त रहते थे वे अब भारत में स्वतन्त्र घूमने लगे ॥३०॥

आन्ध्रमुख्योभवद्वीरः सातवाहनभूपतिः ।
शालिवाहननाम्नापि यस्य ख्यातिर्महीतले ॥३१॥

आन्ध्रों का प्रधान वीर सातवाहन राजा हुआ, जिसका दूसरा नाम शालिवाहन पृथ्वी पर प्रसिद्ध है ॥३१॥

मौर्येषु क्षीणवीर्येषु क्रमात्पश्चिमभारतम् ।
यवनैश्च शकैश्चाभ्रसमाक्रम्य वशीकृतम् ॥३२॥

जिस समय मौर्य लोगों का बल घट चला था उसी समय पश्चिम भारत को यवनों ने, और उनके बाद शकों ने, आक्रमण कर अपने वश में कर लिया ॥३२॥

पुरुषाख्ये पुरे राजा कनिष्कोभून्महाबलः ।
रुद्रदामा च सौराष्ट्रे शकवंशधरावुभौ ॥३३॥

पुरुषपुर में महाबली राजा कनिष्क हुए और सौराष्ट्र में रुद्रदाम हुए। ये दोनों शकवंश के थे ॥३३॥

रुद्रदामसुतैश्चाथ सौराष्ट्रादौ विनिर्जिते ।
हृते कनिष्कदायादैः क्रमादुत्तरभारते ॥३४॥
सातवाहनवंश्यानामान्ध्राणां राज्यमर्जितम् ।
सार्धे गते शकाब्दानां व्यशीर्यत शनैः शनैः ॥३५॥

जब रुद्रदाम के पुत्रों ने सौराष्ट्र आदि को और कनिष्क के उत्तराधिकारियों ने उत्तर भारत को क्रमशः विजित कर लिया तब सातवाहन के वंश वालों का समृद्ध राज्य धीरे-धीरे एकाब्द के डेढ़ सौ वर्ष बीतते-बीतते नष्ट हो गया ॥३४-३५॥

अथ प्रयाते काले च विनाथायां भारतावनिम् ।
समुद्रगुप्तो विक्रम्य वशीचक्रे महामनाः ॥३६॥

कुछ काल बाद जब भारत-भूमि अनाथ हो रही थी उस समय तेजस्वी समुद्रगुप्त ने अपने विक्रम से इसे अपने वश में किया ॥३६॥

समुद्रगुप्तस्य सुतश्चन्द्रो दुर्वारविक्रमः ।
विक्रमादित्य इत्यासीद्विश्रुतो भूतले नृपः ॥३७॥

अतुल पराक्रमी समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त पृथ्वीतल पर विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥३७॥

इति श्रीमदभिनव भागवते श्रीसत्यदेवकथायां भारतेतिवृत्तं नाम चतुर्थोध्याय समाप्तः।

अब श्रीमदभिनवभागवत की सत्यदेव कथा का भारत का इतिहास नाम का चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ सर्वात्मने नमः ।

पंचमोऽध्यायः

द्वापरस्यावसानेथ दम्भाद्रिक्षोभिताद्भूत् ।
सर्वात्मवारिधेर्यन्त्यविसर्पाख्यो हलाहलः ॥१॥

अब द्वापर के बीत जाने पर पाषण्डरूपी (दम्भादि) पहाड़ से मथे हुए सर्वात्मरूपी समुद्र से जङ्गलियों का बाड़रूपी कालकूट (विष) उत्पन्न हुआ ॥१॥

हूणैर्गौथैस्तुरुष्कैश्च वन्यरन्यैस्तथा जनैः ।
आर्ययावनरोमीयसभ्यता कवलीकृता ॥२॥

हूण, गौथ, तुरुष्क तथा अन्यान्य जंगली लोगों ने आर्य, यवन और रोमीय सभ्यता को चबा डाला ॥२॥

असत्यासुरमन्त्रेण विपन्ना प्राच्यसभ्यता ।
सास्थिमांसं कवलिता विकटैः कुणपाशिभिः ॥३॥

जब असत्यासुर के मन्त्र से प्राच्य सभ्यता नष्ट हो गई तो विकट राक्षसों ने इसे हड्डी-मांस सहित ही अपना ग्रास बना लिया ॥३॥

वन्यताकालकूटेन विज्ञाने कवलीकृते ।
असत्यासुरसन्तानैः सर्वं विश्वं वशीकृतम् ॥४॥

जब वन्यता (जङ्गलीपना) का विष विज्ञान का भक्षण कर गया तब असत्यासुर की सन्तान ने सारे जगत् को अपने वश में कर लिया ॥४॥

ज्ञानसूर्यः प्रयातोऽस्तं न दृष्टा भक्तिचन्द्रिका ।
घोरे मोहान्धकारे च नास्फुरत्कर्मतारकाः ॥५॥

ज्ञानरूपी सूर्य अस्त हो गया, भक्ति की चन्द्रिका लुप्त हो गई और कर्म के नक्षत्रों ने भी चमकना छोड़ा ॥५॥

मायावादान्धतामिस्रे दम्भोलूकनिषेविते ।
धर्मकञ्चुकिभिर्दृष्टा हन्त विद्या व्यपद्यत ॥६॥

पाषण्डरूपी उल्लुओं से सेवित मायावादरूपी प्रचण्ड अन्धकार में धर्म का जामा पहिने हुए केंचुलवाले सर्पों से डँसी हुई विद्या मर गई ॥६॥

वीरत्वं व्यभिचारेभूद्भक्तिरासीत्पिशाचगा ।
असत्यकल्पना विद्या दम्भोभूद्धर्मनामभृत् ॥७॥

वीरता व्यभिचार करने में रह गई, भक्ति पिशाचों में हुई, असत् (जो नहीं है उस) में सत् (जो है उस) की कल्पना ही विद्या समझी जाने लगी और पाषण्ड ही का नाम धर्म हो गया ॥७॥

अथ मध्याम्बुधेस्तीरे धन्वन्तरिरिवोदभूत् ।
विज्ञानपीयूषकरः सत्यदेवः पुनः क्षितौ ॥८॥

अब मध्यसमुद्र के तीर पर धन्वन्तरि तुल्य, विज्ञानरूपी अमृत को हाथ में लिये हुए सत्यदेव जी फिर पृथ्वी पर प्रकट हुए ॥८॥

वत्सरार्धसहस्रेण धर्मं विद्यां बलं यशः ।
पीयूषपाणिर्देवोसौ पाश्चात्यानामजीवयत् ॥९॥

अमृतमय हाथ वाले इस देव ने पांच सौ वर्षों में पच्छिमी लोगों के धर्म, विद्या, बल और यश को फिर से जिला दिया ॥९॥

पक्षैः प्रवाधमानाश्च तं देवं दम्भकौशिकाः ।
हठाग्निरस्ता न स्थानमलभन्त तमःप्रियाः ॥१०॥

ग्रन्थकार के प्रेमी दम्भरूपी उलूक, सत्यदेव को अपने पक्षों की फड़फड़ाहट से दबाने की चेष्टा करने लगे; पर उनके बल से पराजित होकर उनके समीप स्थान नहीं पा सके ॥१०॥

देशभक्तैर्जननेतृभिः सत्यदेवप्रियैरपि ।
रक्षिते भारते दैत्यो महादम्भं ततान सः ॥११॥

सच्चे विज्ञान में प्रेम रखने वाले देशभक्त नेताओं से रक्षित भारत-भूमि पर भी असत्यासुर ने अपना दम्भ न जाने कैसे फैला दिया ॥११॥

तमोलिकूटः पत्न्याथ भ्रमेल्लाभोत्सुकाख्यया ।
महादम्भस्वरूपश्च बबाधे भारताम्बुजम् ॥१२॥

महादम्भरूपी असत्य-राक्षस अज्ञानरूपी भ्रमरों के समूह के रूप में, लाभ की उत्कण्ठा नाम की अपनी सहधर्मिणी के साथ, आकर भारतरूपी कमल पर गिरा ॥१२॥

तत्संपर्केण कलुषे पौरस्त्यहृदयाम्बुजे ।
पुण्या नवीन विज्ञानज्योत्स्ना न लभते पदम् ॥१३॥

इसी असत्य राक्षस के सम्बन्ध में कलुषित पूर्वी मनुष्यों के हृदयरूपी कमल पर नवीन विज्ञान की पवित्र चाँदनी भी स्थान नहीं पा रही है ॥१३॥

इति श्रीमदभिनवभागवते श्रीसत्यदेवकथायां असत्यासुरोद्भवो नाम पंचमोऽध्यायः।

अब श्रीमदभिनव भागवत की सत्यदेव कथा का 'असत्यासुर का जन्म' नाम का पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

ॐ सर्वात्मने नमः ।

षष्ठोऽध्यायः

चतुर्दशशती याता त्रेतायाः किल भूतले ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्ना देशाः प्रायोऽभवन्भुवि ॥१॥

त्रेता युग के चौदह सौ बरस बीत गये और पृथ्वी पर प्रायः सभी देश ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न हैं ॥१॥

अधर्मस्य पदं चैकं यत्प्रमादाख्यया श्रुतम् ।
तत्सत्यदेव वैमुख्यात्पतितं भारते हठात् ॥२॥

सत्यदेव से विमुख रहने के फलस्वरूप, अधर्म का एक चरण जो प्रमाद (भ्रम) नाम से प्रसिद्ध है, बलात् भारत पर आ पड़ा है ॥२॥

शासकैर्ज्ञानिनिलयैः सत्यदेवप्रियैरिदम् ।
उत्थापयितुमेवेष्टं जनानां न तु तत्प्रियम् ॥३॥

सत्यदेव को प्रिय समझनेवाले ज्ञानी शासनकर्ता इस भ्रम को उखाड़ना चाहते हैं, परन्तु यह काम जन-समुदाय को प्रिय नहीं है ॥३॥

असत्यप्रियता यावद्वन्ध्यापुत्रानुसारिणी ।
प्रचरिष्यति देशेऽस्मिंस्तावदस्योन्नतिर्भवेत् ॥४॥

जबतक बाँझ के बेटे को खोजनेवाली असत्यप्रियता इस देश में प्रचार पावेगी तबतक इसकी उन्नति नहीं होने की ॥४॥

असत्यासुरसन्तानैर्वन्ध्यापुत्रानुसारिभिः ।
अन्येष्वलब्धप्रसरैर्भारतीयाः प्रतारिताः ॥५॥

वन्ध्यापुत्र के सदृश बेठिकानी बातों की खोज में पड़ी हुई इसी दम्भ नामक असत्य-राक्षस की सन्तान दूसरी जगह स्थान न पाकर, भारतवालों को ठग रही है ॥५॥

भूतप्रेतपिशाचादीनसतोपि सतो यथा ।
वन्ध्यापुत्रानुसन्धानसमितिर्दर्शयत्यलम् ॥६॥

वन्ध्यापुत्रान्वेषण-समाज का यही काम है कि वह भूत, प्रेत, पिशाच आदि झूठी वस्तुओं को सत्य के समान दिखलाता है ॥६॥

असत्यवादान्प्रभाषन्ते मिथ्याविज्ञानवल्लभाः ।
विप्लावयन्ति विज्ञानं प्राच्यं नव्यं च भूतले ॥७॥

(वन्ध्यापुत्रान्वेषण-समाजवाले) झूठी बुद्धि की बातें करते हैं, झूठे विज्ञान में लिपटे रहते हैं और नये-पुराने समस्त विज्ञान का पृथ्वी से लोप कर रहे हैं ॥७॥

आज्ञा राज्ञामृषीणां या मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
निर्हेतुकं ग्रहीतव्या स्थितिः सभ्यजनस्य सा ॥८॥

राजा की, ऋषियों की, माता-पिता की तथा गुरु की आज्ञा का, बिना फल का विचार किये ही, पालन करना चाहिए। सभ्य लोगों का ऐसा ही व्यवहार होता है ॥८॥

वस्तुस्थितौ तु केषांचिन्न शब्दानां प्रमाणता ।
शब्दैरुक्तेप्यनुक्तेपि वस्तुष्वनुभवः प्रमा ॥९॥

वस्तु की स्थिति में (क्या है, क्या था, क्या होगा इत्यादि में) किसी के भी वचन का प्रमाण नहीं। जो बात है उसे चाहे किसी ने कहा हो अथवा नहीं कहा हो उसमें अनुभव ही प्रमाण है ॥९॥

यन्नानुभूयते साक्षान्न चैवाप्यनुमीयते ।
तादृशे शब्दमात्रोक्ते सन्देहो व्याहृति र्न चेत् ॥१०॥

जिसका साक्षात् अनुभव नहीं हो सके अथवा जो अनुमान में न आवे वैसी केवल शब्दमात्र से कही बात में सन्देह रहता है—यदि बात बेठिकानी न हो ॥१०॥

व्याहतेषु न सन्देहः सद्यस्त्वासत्यताग्रहः ।
सत्याराधनशीलानां सभ्यानां स्थितिरीदृशी ॥११॥

जो बात बेठिकानी हो उसमें सन्देह भी नहीं करना चाहिए। उसे झट झूठा समझना चाहिए। सत्य को पूजनेवाले सभ्य लोगों का ऐसा ही व्यवहार है ॥११॥

जलमानय पुत्रेति विधेयाज्ञा पितुर्द्रुतम् ।
वाराणसी हिमाद्रावित्यपरीक्ष्य न मन्यते ॥१२॥

"हे बेटा! जल लाओ" ऐसी बाप की आज्ञा का तुरन्त पालन करना चाहिए। परन्तु "बनारस हिमालय पर है" बिना परीक्षा किए इस बात को नहीं मानना चाहिए ॥१२॥

वन्ध्यापुत्रशिरोवर्त्तिहेमपात्रं गृहान्तरे ।
तदानयेति व्याघातग्रस्तं सद्य उपेक्ष्यते ॥१३॥

"घर में बाँझ का बेटा है, उसके सिर पर सोने का बरतन रखा है, उसे लाओ" ऐसी बेठिकानी बात की झट उपेक्षा कर देनी चाहिए ॥१३॥

अलिकूटस्यविधवा शम्भली विकटानना ।
माधवीनाम वाचाला पूतना बालभक्षिणी ॥१४॥
द्विजिह्वया तया दष्टा धर्मकञ्चुकिभार्यया ।
मूर्च्छिता न विजानन्ति निरये स्वां स्थितिं जनाः ॥१५॥

अन्धकाररूपी भ्रमर-समूह के साथ रहनेवाली, भयंकर मुँह की, ठगनी पूतना के सदृश, बालकों को खाती हुई, बहुत बकती हुई, मधु अर्थात् मद्य के सदृश लोगों को भ्रम में डालने वाली जो मूर्त्तिमती अविद्या है, जिसका पालन आजकल धर्म का जामा पहनने वाले कर रहे हैं, उसी केंचुलवाली विषधरी से डसे हुए मूर्च्छित जन नरक में अपनी स्थिति नहीं जानते हैं ॥१४–१५॥

तस्याः प्रमाणमैतिह्यं विद्या चासत्यकल्पना ।
पिशाचाराधनं भक्तिः किंवदन्ती महाश्रुतिः ॥१६॥

जो पहले के लोग कहते आये हैं वही उसके लिए प्रमाण है, जो असत्य है उसकी कल्पना कर लेना ही उसकी विद्या है, पिशाचों की पूजा उसकी भक्ति है और किंवदन्ती ही उसके लिए वेद है ॥१६॥

शिखासूत्रादिचिह्नेषु पितृदेवादिमूर्त्तिषु ।
विद्युच्चुम्बकशक्त-पादेरुक्तिश्च विज्ञता ॥१७॥

यज्ञोपवीत और शिखा आदि चिह्नों में तथा देव, पितर आदि की मूर्त्तियों में बिजली तथा चुम्बक की शक्ति समझ लेना ही उनकी बुद्धिमानी है ॥१७॥

प्रेतबन्धनविस्फोटो मन्त्रैरित्यादिजल्पनैः ।
मूर्खान्विमोहयत्येषा वज्रमूर्खैः प्रपूज्यते ॥१८॥

मन्त्र पढ़ने से प्रेत का बन्धन टूट जाता है इत्यादि गप्पें हाँकती हुई यह मूर्खों को मोहती है और वज्रमूर्ख लोग इसे पूजते हैं ॥१८॥

धर्मकञ्चुकिनश्चैव बहवस्तदनुव्रताः ।
मोहयन्तश्चरन्तीमामधन्यां भारतावनिम् ॥१९॥

धर्म की केंचुली पहने हुए उसके बहुतेरे अनुगामी हैं। वे इस भाग्यहीन भारत देश में मोह फैलाते हुए विचर रहे हैं ॥१९॥

केचित्पुमांसः स्त्रीवेषाः पुंवाचालाः स्त्रियः पराः ।
उपवीतार्पणव्यग्रा मद्यपेषु तथा परे ॥२०॥

कुछ पुरुष स्त्रीवेष में हैं तो कुछ स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक बकबक करनेवाली हैं और, कुछ लोग मद्य पीने वालों के गले में भी जनेऊ बाँधने को व्यग्र हैं ॥२०॥

अपरे वेदशिविकावहनाल्लब्धजीविकाः ।
श्राद्धदक्षिणाया वेश्यास्तर्पयन्तस्तथापरे ॥२१॥

कुछ लोग वेद की सवारी ढोकर जीविका निर्वाह करने वाले हैं तथा कुछ श्राद्ध की दक्षिणा से वेश्याओं को प्रसन्न करने वाले हैं ॥२१॥

तान्त्रिकाः सर्वभक्षाय व्यभिचाराय मान्त्रिकाः ।
धार्मिकाः कूटसाक्ष्याय पुण्यायोत्कोचवल्लभाः ॥२२॥

कितने ही सब कुछ खाने के लिए तान्त्रिक बनते हैं, व्यभिचार करने के लिए मन्त्र जपते हैं, झूठी गवाही देने के लिए धार्मिक बन जाते हैं तथा पुण्य के लिए घूस लेते हैं ॥२२॥

छात्रायुः क्षपणाश्चैव वाक्प्रपंचपरायणाः ।
अज्ञाननिलया विज्ञा धर्मवादाश्च पापिनः ॥२३॥

कितने ही विद्यार्थियों का समय नष्ट करने वाले वाक्प्रपंच में चतुर व्यक्ति हैं, और कितने अज्ञान की खान होते हुए भी बुद्धिमान् बनने वाले, पापी होते हुए भी धर्म-धर्म चिल्लानेवाले हैं ॥२३॥

श्राद्धिनो भूतविभ्रस्ताः स्त्रीलुब्धास्तीर्थयात्रिणः ।
अनीतिसक्ता नीतिज्ञाः सत्यज्ञाः कल्पनाप्रियाः ॥२४॥

कितने ही भूत के डर से श्राद्ध करने वाले, स्त्रियों के लालच से तीर्थयात्रा करनेवाले, अनीति में रत रहनेवाले नीतिज्ञ, कल्पना पसन्द करने वाले सत्यज्ञ लोग हैं ॥२४॥

इति दाम्भिकमूर्खाणां प्रचारैर्विकलीकृते ।
सत्यदेवस्य देशेऽस्मिन्नादरो दृश्यते क्वचित् ॥२५॥

इस प्रकार मूर्ख पाषण्डियों के प्रचार से व्याकुल इस देश में कहीं भी सत्यदेव का आदर नहीं दीख पड़ता ॥२५॥

मायाशून्याद्यसद्वादाः पिशाचाद्यर्चनानि च ।
सद्विज्ञानेष्वभक्तिश्च यावद्देशेऽत्र वर्तते ॥२६॥
तावन्नास्योन्नतिः कापि कदाचित्सम्भविष्यति ।
सर्वतायामभक्तिर्हि लक्षणं परमुन्नतेः ॥२७॥

धर्मार्थकामा उद्योगादनुद्योगस्त्रिवर्गहा ।
त्रिवर्गसेवासर्वात्मप्रीतये मोक्षरूपिणी ॥१२॥

धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों उद्योग ही से साधे जायेंगे और आलस्य से त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की हानि है। त्रिवर्गसेवा सर्वात्मा की प्रसन्नता है और यही मोक्षस्वरूप है ॥१२॥

देश-भक्तिर्मातृभक्तिः पितृभक्तिस्तथापरा ।
भक्तिरध्यापके चैव चतस्रो भक्तयः शिवाः ॥१३॥

देशभक्ति, माता की भक्ति, पिता की भक्ति और अध्यापक की भक्ति—ये ही चार कल्याण देने वाली भक्तियाँ हैं ॥१३॥

दाम्भिकेषु तु मूर्खेषु तन्त्रमन्त्रादिवादिषु ।
परोक्षदृष्टिसिद्ध्यादिव्यापकेषु न विश्वसेत् ॥१४॥

जो पाखंडी हों, मूर्ख हों, तन्त्र-मन्त्र की गप्पें मारते हों, परोक्ष वस्तु देखना आदि सिद्धि की डींग मारते हों, उनमें कभी विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१४॥

मतंभक्त्या हि संन्यस्य कुटुम्बमवसादयेत् ।
शून्यध्यानजपैः सिद्धिं मृषा वाञ्छञ्जडः कुधीः ॥१५॥

जो कोई निर्बुद्धि मूर्ख में भक्ति करके संन्यास ले लेता है वह अपने कुटुम्ब को कष्ट देता है और व्यर्थ ही शून्य के ध्यान तथा जप से सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करता है ॥१५॥

यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां शास्त्रं शिल्पं च संगतम् ।
पवित्रं तत्समं नास्ति तदधीनाश्च सिद्धयः ॥१६॥

शास्त्र और शिल्प, जो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से ही संयुक्त हैं, उनके जैसा पवित्र कुछ भी नहीं है और सभी सिद्धियाँ उन्हीं के अधीन हैं ॥१६॥

मृतः पिता तथायाति खेचरोहं तपोवशात् ।
इत्यादि धूर्तवादेषु कः श्रद्धां कर्तुमर्हति ॥१७॥

'तुम्हारा मरा बाप आ रहा है' 'तपस्या के बल से मैं आकाश में उड़ता हूँ' इत्यादि धूर्तों के वचन में कौन श्रद्धा करेगा ॥१७॥

घृताक्तं भण्यते भक्तं न बिडालोपि याचयत ।
आघ्राय तु घृतं तस्य भोजने संप्रवर्तते ॥१८॥

केवल कहने से बिल्ली भी भात को घी से सना नहीं मान लेगी। पहले घी सूँघ लेगी तब खायगी ॥१८॥

वाङ्मात्रेण महात्मायं सिद्धोयमिति यः पुनः ।
यं कञ्चिदनुगच्छेन्मूढ स पशोरधमः स्फुटम् ॥१९॥

परन्तु जो किसी को, केवल यह सुन कर कि ये महात्मा हैं, ये सिद्ध हैं, पूजे, तो साफ है कि वह पशु से भी अधम है ॥१९॥

युधिष्ठिरस्य वाङ्मात्रे विश्वसंस्तद्गुरुर्हतः ।
अपरीक्ष्य न कस्यापि श्रद्दधीत वचस्ततः ॥२०॥

युधिष्ठिर के वचनमात्र में विश्वास करने के कारण उनके गुरु (द्रोणाचार्य) मारे गये, इसलिए विना परीक्षा किये किसी की भी बात में श्रद्धा नहीं करनी चाहिए ॥२०॥

परीक्षापि न कर्तव्या व्याहतानां कदाचन ।
वन्ध्यापुत्रोऽस्ति नास्तीति न केनापि परीक्ष्यते ॥२१॥

जो बातें बेठिकानी हों उनकी कभी परीक्षा भी न करना । बांझ को बेटा है या नहीं, इसकी कोई भी परीक्षा नहीं करता ॥२१॥

मृतवार्त्ता पिशाचैश्च रक्षा दिव्यैः समागमः ।
नद्या घृतं तथा मंत्राद्‌द्रव्यं योगात्खचारिता ॥२२॥

मरे लोगों से बातचीत करना, प्रेत-पिशाचों से रक्षा करना, देवताओं का समागम होना, नदी से घी आना, मन्त्र से द्रव्य का आना, योग से आकाश में चलने की शक्ति पाना—॥२२॥

भक्तार्थं रामकृष्णादि-सत्त्वानां भूतल भ्रमः ।
अन्यदृष्टस्य संकेतं विनैवान्येन वेदनम् ॥२३॥

भक्त के लिए राम-कृष्ण आदि के भूतों का पृथ्वी पर घूमना, दूसरे की देखी वस्तु को विना इशारे ही जान लेना— ॥२३॥

दृष्टिः परोक्षवस्तूनामनुमानं विनैव च ॥२४॥

विना अनुमान किये, जो आंख के सामने नहीं, उसे देख लेना—॥२४॥

धूर्तप्रख्यापितानेतान्मिथ्यावादानितीदृशान् ।
न सत्यदेवभक्तस्तु श्रद्दधीत कदाचन ॥२५॥

धूर्तों की कही इन झूठी बातों में तथा ऐसी ही अन्य बातों में सत्यदेव के भक्त कभी श्रद्धा नहीं करते ॥२५॥

नैवेदृशप्रलापानां व्याहतानां कदाचन ।
परीक्षायां प्रकुर्वीत कालशक्तिधनव्ययम् ॥२६॥

ऐसी-ऐसी बेठिकानी गप्पों की परीक्षा करने में भी समय, शक्ति और धन का व्यय नहीं करना चाहिए ॥२६॥

भ्राता ते वाष्पयानेन समायातीति शृण्वता ।
सम्भाव्य तस्यागमनं पाकार्थं हि प्रवर्त्यते ॥२७॥

'तुम्हारा भाई रेलगाड़ी से आता है', ऐसा सुनकर उसका आना सम्भव जानकर रसोई आदि की जाती है ॥२७॥

स चेदायाति तद्‌भुंक्ते परेभ्यो दीयतेऽन्यथा ।
न तत्र महती हानिर्नैवार्थो व्याहतो ह्यसौ ॥२८॥

यदि वह आया तो खायगा, यदि न आया तो उसका अंश दूसरे को दे दिया गया। इसमें कोई बड़ी हानि नहीं है, न यह बात ही बेठिकानी है ।।२८।।

भ्राता ते पादुकाशक्त्या खेचरन्नेति तं व्रजेः ।
इति श्रुत्वा न बालोपि प्रत्युद्व्रजति सोदरम् ।।२९।।

'तुम्हारा भाई खड़ाऊँ की शक्ति से आकाश में उड़ता हुआ आ रहा है, उसकी अगवानी करने चलो', ऐसा सुनकर कोई बालक भी भाई की अगवानी नहीं करता ।।२९।।

न च लक्षव्ययं कृत्वा मेरोः स्वर्णतृणं यदि ।
आनीय भक्षयेत्कश्चित्तदास्यादजरोमरः ।।३०।।
इति कस्यापि मूर्खस्य श्रुत्वा धूर्तस्य वा वचः ।
प्रदाय दक्षिणां तस्मै मेरुं धावति कश्चन ।।३१।।

'मेरुप्रदेश में सोने की घास है, यदि उसको लाख रुपया खर्च करके खाय, तो अजर-अमर हो जाय'--किसी मूर्ख या धूर्त की ऐसी बात सुनकर कोई भी उसे दक्षिणा देकर मेरु की ओर नहीं दौड़ता ।।३१।।

तस्मान्मूर्खप्रलापेषु सत्यदेवप्रियैर्नरैः ।
श्रद्धालेशो न कर्त्तव्यो न तदर्थो व्ययस्तथा ।।३२।।

इसलिए मूर्खों की गप्पों में किसी भी सत्यदेव को चाहने वाले को लेशमात्र भी श्रद्धा नहीं करनी चाहिए, न इसके लिए कुछ व्यय ही करना चाहिए ।।३२।।

धूर्त्तैर्मूर्खैश्च संबाधा मोहयन्ती जनान्मुहुः ।
वन्ध्यापुत्रानुसन्धानसमितिः सत्यनाशिनी ।।३३।।

धूर्त और मूर्खों की भीड़ से भरी हुई और मनुष्यों को मोह में डालती हुई वन्ध्यापुत्रान्वेषण-सभा सत्य का नाश कर रही है ।।३३।।

सत्यप्रकृतिविज्ञानविरुद्धाः ख्यातयः कृताः ।
तथैव जनपूजार्थं तासु तस्याः प्रवृत्तयः ।।३४।।

उसी ने सच्चे और प्राकृतिक विज्ञान के विरुद्ध कितनी ही बातें चलाई हैं और लोगों से पुजाने के लिए ही उसमें प्रवृत्ति रखती है ।।३४।।

सत्यदेवप्रियाणान्तु मातापितृनृपादयः ।
निर्हेतुकाज्ञानुष्ठानैराराध्याः सर्वदा भुवि ।।३५।।

जो सत्यदेव को चाहने वाले हैं उनके लिए माता, पिता, राजा आदि, कारण का विचार किये बिना ही, आज्ञा-पालन द्वारा सदा पूजा के योग्य हैं ।।३५।।

आज्ञातिरिक्तं यत्किंचिन्न च सिद्ध्येत्कथंचन ।
प्रत्यक्षेणानुमानेन तदुपेक्ष्यं तु दूरतः ।।३६।।

आज्ञा के सिवा जो कुछ है, वह यदि प्रत्यक्ष और अनुमान से ठीक न जँचे, तो उसका दूर से ही अनादर कर देना चाहिए ।।३६।।

इति वः कथिता दिव्या सत्यदेवकथाद्भुता ।
संक्षेपेण महाभागाः प्रचारोऽस्या विधीयताम् ॥३७॥

यही आपलोगों से संक्षेप में मैंने सत्यदेव की दिव्य और अद्भुत कथा कही। अब, हे महाशयो, आपलोग इसका प्रचार करें ॥३७॥

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान्काशीक्षेत्रे मनोरमे ।
भगवान्मुद्गरानन्दः कार्याय विससर्ज तान् ॥३८॥

इति श्रीमदभिनवभागवते श्रीसत्यदेव कथायां सप्तमोऽध्यायः।

॥ समाप्ता चेयं कथा ॥

मनोहर काशीक्षेत्र में अपने सब मित्रों से ऐसा कहकर भगवान् मुद्गरानन्द ने उन्हें अपना-अपना काम करने के लिए विसर्जित (विदा) किया।

अब श्रीमदभिनवभागवत की सत्यदेवकथा का सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ। अब सत्यदेवकथा समाप्त हुई।

॥ ॐ सर्वात्मने नमः ॥

पूजाविधिः

अनुपपन्नस्य छात्रस्य सीदत्कुटुम्बस्याध्यापकस्य वा ॥
माल्यवस्त्रपुस्तकादिभिः पूजा ॥

पूजाविधि—दीन विद्यार्थी अथवा दुःखी परिवार वाले अध्यापक की पूजा माला, वस्त्र, पुस्तक आदि से करनी चाहिए ॥

ॐ सर्वात्मने नम इति मन्त्रः ॥

ॐ सर्वात्मने नमः यही मन्त्र है ॥

प्रार्थना— सर्वात्मीयोपहारेण सर्वात्मीयशरीरिणा ।
सर्वात्मीयो मयेष्टस्त्वं सर्वात्माराधको भव ॥

प्रार्थना— सर्वात्मा का मैं एक रूप हूँ। मैंने सर्वात्मीय द्रव्यों से सर्वात्मीय आपकी पूजा की है। आप सर्वात्मा के सेवक हों।

आशीः— परमार्थपरास्सर्वेजायन्तां भवतः कुले ।
सरस्वतीमुपासीना महोद्योगा गतभ्रमाः ॥

आशीः— आपके कुल में सभी परमार्थ-परायण हों, सरस्वती के उपासक हों तथा उद्योगशील और भ्रमरहित हों ॥

अथ ध्यानम्— आकाशत्वगनन्त आदिरहितस्सर्वात्मभतो विभु-
स्तारासूर्यसहस्रभास्वरतनुः स्वस्मिन्नशेषेक्षिता।
निर्मायोऽपरिमेयशाश्वतजगद्वैचित्र्यरूपः सदा
भातु प्रेमनिधिः सुखैकनिलयः श्रीदेवदेवः स नः॥

ध्यान— आकाश जिसकी त्वचा है; जो आदि-अन्त-रहित, सर्वात्म-स्वरूप तथा व्यापक है; हजारों तारा-सूर्यों से जिसका शरीर चमकता है; जो अपने में ही सब कुछ का द्रष्टा है; जो माया-रहित है; जिसका रूप ऐसा है कि उसमें अपरिमेय विचित्रता सदा बनी रहती है; जो सब की प्रीति का आश्रय है और सुख का एकमात्र आगार है; वही देवदेव हम लोगों के लिए सदा अभीष्ट रहें।

इति पूजाविधिः समाप्ता।

मुद्गरानन्दचरितावली

प्रथम अध्याय

जन्म

मुझे इस छोटे पृथ्वीग्रह पर लोग अँगरेजी भाषा में His Holiness Sri Swami Mudagaranand कहते हैं। सूर्य के बाद बुध, उसके बाद शुक्र, तब पृथ्वी, फिर मंगल, फिर बृहस्पति, फिर शनैश्चर, तब उरण और उसके बाद वरुण, यह है। वरुण को यहाँ वाले नेप्चून (Neptune) भी कहते हैं।

वरुण के ऊपर मेघ-भूमि में शब वर्ष से दस हजार वर्ष पहले मेरा जन्म हुआ। इन्द्रदेव की इच्छा से अमैथुन सृष्टि द्वारा मैं उत्पन्न हुआ। मेघों की गर्जना ही मेरी मातृभाषा हुई। घड़ घड़ घड़ दड़ दड़ इत्यादि शब्द, जिनका अर्थ प्रायः यहाँ लोग नही समझते, मुझे भगवत्कृपा से समझ में आने लगे। मैं जब उत्पन्न हुआ उसी समय यहाँ के बीस वर्ष के पुरुष के समान मेरा आकार था। यहाँ के जलवायु के कारण अनेक परिवर्त्तन होने पर भी मैं आज ११८३२ वर्ष की अवस्था में भी प्रायः वैसा ही हूँ।

कुछ समय के बाद उपनिषद् वालों की* पञ्चाग्नि विद्या के अनुसार मैं मेघभूमि से वरुण ग्रह की खास जमीन पर पहुँचा। वहाँ पर पाँचवी आहुति में शाण्डिल्य वंश के एक ब्राह्मण के घर मेरा प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण के प्रादुर्भाव से जो आनंद नन्द को नही हुआ था वह मेरे माता-पिता को हुआ। मेरे पूर्वज शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र बना रखे हैं जिनपर स्वप्नेश्वराचार्य का भाष्य और कितने ही महामहोपदेशकों की टीका-टिप्पणियाँ हैं।

कुछ काल तक मैं अपनी दिव्य शक्ति से अनेक ग्रहों की, मेघभूमियों में इन्द्र-धनुष से, बिजली के गेंदों से, बर्फ के रुमालों से, देवताओं के विमानों से खेलता रहा।

वरुण ग्रह में अनेक विद्यालय, अविद्यालय, स्वर्ग, नरक, अजायबघर, कब्रगाह, मंदिर चिड़ियाखाना आदि बने हैं जिनकी खूबसूरती और बदसूरती दोनों ही अद्भुत हैं। बाँकीपुर, हवड़ा आदि की नालियों में, गड्ढों में, अस्पतालों में जो मल और गंध दुर्लभ हैं वे वहाँ सहज सुलभ हैं। जैसे नरकों का भागवत के पंचमस्कन्ध में वर्णन है उनसे कही बढ़े-चढ़े नरक वहाँ जहाँ चाहिये मिल सकते हैं। सभापर्व में जैसी देव-सभा का वर्णन नही पाइएगा वैसी देवसभाएँ यहाँ सर्वत्र दीख पड़ती हैं। हीरे की ईंटों के मकान, रत्न की सीढ़ियाँ, मोती की झालरें, मूँगें की लकड़ी की कुर्सी

* प्रपाठक ५, खंड ३–१०, छांदोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यक, ६–२–१–१६ तक।

और पलँग आदि तो वहाँ साधारण चीज समझी जाती है। यही नहीं, अनेक अपूर्व बातें जिनकी मिल आदि दार्शनिकों ने पृथ्वी के बाहर संभावना की थी वहाँ बराबर अनुभव में आती रहती हैं। दो सीधी रेखाओं से घिरे हुए बहुत-से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अनेक वन्ध्यापुत्रों के किले, तालाब, बाग आदि बने हुए हैं। आठवें स्वर में गाती हुई स्त्रियाँ और चिड़ियाँ दूध के समुद्र के किनारे वहाँ खेलती हैं। बाजार में खरहों के सींघ की कंघियाँ बहुतायत से मिलती हैं। सत्तामात्र निर्विशेष निराकार का प्रत्यक्ष, जो शंकर भगवान् को तीस वर्ष की अवस्था में हुआ था, वहाँ पाँच वर्ष के भिक्षुओं को भी हुआ करता है। पाँच हजार वर्ष की समाधि के बाद पत्थर के परमाणुओं में लीन हो जाने की जो शक्तियाँ यहाँ हिमालय और तिब्बत के साधुओं तथा ग्रेजुएट महात्माओं ने पाई हैं, वे शक्तियाँ वहाँ मैथम, इकथियौ, सौरस, रीया, हाथी, ऊँट, शार्दूल आदि विशाल जंतुओं में भी पाई जाती हैं। जब चाहो जिसका धन, जिसकी स्त्री उठवा मँगाओ। भूत-प्रेत आदि को चाहे जहाँ से खींच मँगाने की सांकल्पिक सिद्धि वहाँ एक साधारण खेल है। सांसिद्धिक भाव जो यहाँ रसिक भक्तों ही में जबतब देख पड़ता है, वहाँ महत्तर बालकों में भी पाया जाता है। वहाँ के सरकारी आफिसों में कभी किसी को छुट्टी लेने की जरूरत नहीं पड़ती। यदि कोई कारणवश दस-बीस रोज घर बैठ जाय तो उसके रूप में राम, कृष्ण, भीष्म आदि काम कर दिया करते हैं।

बचपन ही से माता-पिता की कृपा से मुझे, जब चाहूँ हजारों वर्ष के लिए, समाधि ले लेने की शक्ति हो गई थी। किसी दिव्य शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, जो स्वप्नेश्वर आदि के स्वप्न में ही देखी जा सकती है, जो मुझे, अमैथुन सृष्टि करनेवाले माता-पिता की कृपा से, बचपन ही में न मिल गई हो। कई संतान होने पर भी मेरे पिता का ब्रह्मचर्य और मेरी माता का कुमारीपन नष्ट नहीं हुआ था। पिता जी का भीष्म से बढ़कर आदर होता था और माता जी पंचकन्याओं से अधिक पवित्र समझी जाती थी।

मेरे ग्रह में सामाजिक स्थिति भूग्रह से कहीं बढ़ी-चढ़ी है। विवाह की प्रथा बहुत कम है। स्त्री-पुरुष का भेद विशेष नहीं है। स्त्री पुरुष का वेष धारण कर सकती है और पुरुष स्त्री का। वहाँ वस्तुतः वे नहीं हैं! इच्छा मात्र से इन्द्रियों का आकार बदल देना, मटकना, चटकना आदि विलासों का धारण कर लेना अत्यन्त आसान है। विवाह की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ती कि तान्त्रिक रीति से, खंजन की शिखा शरीर के किसी रन्ध्र में रखकर, जब चाहे तब अदृश्य होकर स्त्री-पुरुष व्यवहार कर सकते हैं।

मन्त्रों की शक्ति ऐसी प्रबल है कि एक-एक अक्षर को जपकर हाथ झाड़ दें तो रेलवे इंजन निकल आवे, छींक दें तो पट्ठा मनुष्य या हाथी सामने खड़ा हो जाय। इसलिए समाज को सवारी आदि के विशेष प्रबंध की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवत्कृपा से स्वर्ग-नरक भोगने के लिए यदि दूसरे ग्रहों से लोग पहुँचें और उन्होंने वहाँ

रेल, जहाज ग्रादि खोले तो खोलने वालों पर कुछ कृपाकर, कुछ भाड़ा उन्हें देकर लोग टिकट लेने की धक्कमधुक्की का क्लेश सह लेते हैं; नहीं तो एक प्राणायाम में चाहे जितनी दूर चले जायँ। चिठ्ठी-पत्री, तार ग्रादि का व्यवहार भी वहाँ के निवासी पसन्द नहीं करते; त्रिकालदर्शी ग्राईने से संसार भर की खबर जाना करते हैं; प्लैंनचेट की सब बातें पूछ ले सकते हैं। इसलिए कचहरी ग्रादि में गवाही की जरूरत नहीं पड़ती। जो कार्य ग्राईने ग्रौर प्लैंनचेट से नहीं होता वह दिव्य दृष्टि से हो जाता है। मन्त्रों में ऐसी शक्ति है कि श्राद्ध-तर्पण ग्रादि के समय मूर्ख से मूर्ख पुरोहित ने मुँह से शब्द निकाला नहीं कि मेघवासी पितरों के बंधन धड़-धड़ धड़-धड़ टूटने-फूटने लगे।

उस ग्रह की राजधानी का नाम निर्वाणपुर है। इस निर्वाणपुर में ग्रनेक महात्माग्रों के ब्रह्माश्रम, विहार, कुंज, योगाश्रम, संयोगमठ, गढ़ी ग्रौर पिण्डालय ग्रादि बने हैं।

शहर के बीच भगवान् भूतनाथ का मंदिर है। इसमें ग्रद्भुत ज्योतिर्लिंग स्थापित है, जिससे चाहे जो वस्तु छुला दो वही सोना हो जाय। इस लिंग में चुम्बक शक्ति ऐसी है कि व्याधि-ग्रस्त स्त्री-पुरुष इसे छू दें तो इसमें व्याधि घुस जाय, बुद्धिमान् या मूर्ख इसे छू दे तो बुद्धि या मूर्खता उसमें घुस जाय। कभी-कभी इस चुम्बकशक्ति से व्याधि ग्रादि का संचित ग्रसर निकलने भी लगता है। ऐसे ग्रवसरों पर प्लेग ग्रौर हैजा ग्रादि फैल जाते हैं।

इस नगर में ग्रनेक कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामधेनु ग्रादि सदा सुलभ हैं जिनसे जो चाहो मिल सकता है। पर संकल्पसिद्धि ग्रौर सासिद्धिक भाव यदि न होते तब तो इनसे माँगने की ग्रावश्यकता होती! इस पृथ्वी ग्रह के गँवार मनुष्यों को ऐसी बातें बराबर ग्रसंभव-सी मालूम पड़ती है। पर ग्रब ऐसा समय न रहा कि इन बातों को कोई ग्रसंभव कहे।

पहले-पहल जब मैं पृथ्वी ग्रह पर ग्राया तब मैं ग्रकेला ही था। मुझे यहाँ ग्राए ग्राठ हजार वर्ष से ऊपर हो गये। इस बीच में मैंने कितनों ही को वरुण ग्रह पर ले जाकर उसकी शोभा दिखलाई है। इन महात्माग्रों के लेख ग्रनेक ग्रन्थों में उपस्थित हैं। इन लेखों की गवाही से मेरी बातों की सचाई स्पष्ट विदित हो सकती है। फिर भी जो नास्तिक लोग लेखों की गवाही नहीं मानते उनके लिए मैंने ग्राज भी कई ऐसे स्त्री-पुरुष को तैयार किया है जो निर्वाणपुर के ग्रनेक दृश्य ग्रपनी ग्राँखों से देख ग्राये हैं। ग्राग नगर में एक बूढ़े ग्रफसर हैं, जो बहुत दिनों तक निर्वाणपुर रह ग्राये हैं। काशी में एक ऐसी समिति है जहाँ ग्रनेक स्त्री-पुरुष ने हमारे कुंजों की देखा-देखी यहाँ भी ऐसे कुंज बनवाये हैं, जिनमें दिव्यदृष्टि से दूर की बातें देखने वाले प्राणायाम से उड़ने वाले तथा ग्रवतारों ग्रौर भूत-प्रेत ग्रादि से बातचीत करने वाले उपस्थित हैं। कई तीर्थों में पुरुष से स्त्री बन जाने वाले महात्मा ग्राज भी वर्तमान हैं, जिनके पास राम ग्रादि ग्रब भी जाते हैं। इन लोगों से यदि संतोष न हो तो प्रयाग,

इटावा आदि में ऐसे-ऐसे भट्टाचार्य्य और सिद्ध लोग हैं जो हिमालय के महात्माओं को पत्थर में अदृश्य होना आदि वैभव स्वयं देख आये हैं और दूसरों को भी वहाँ ले जाकर दिखला सकते हैं। इस पृथ्वी पर इस मनुष्य युग में भी ऐसे अद्भुत महानुभावों को देखकर कौन ऐसा होगा जिसे मेरी बात पर विश्वास न होगा।

जिस निर्वाणपुर का इतना वृत्तांत आपलोग सुन चुके हैं वहीं मैंने अपना बहुत समय बिताया। वहाँ एक वन्ध्यापुत्र मेरे इष्टदेव हैं।

द्वितीय अध्याय

दो शरीर और दो आत्मायें

आपलोगों से मैंने पहले ही कहा है कि बचपन ही में एक वन्ध्यापुत्र मेरे इष्टदेव हुए। इनका कुछ वर्णन, थोड़े दिन हुए, चिंतामणि मंत्र से सिद्धि पाये हुए कवि पंडित श्रीहर्ष ने अपने नैषध काव्य में लिखा है—

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया प्रज्ञाचक्षुरवेक्षमाणतिमिरप्रख्याधिताःकीर्त्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरात् मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणी दुग्धोदधे रोदसी॥

इन्हीं वन्ध्यापुत्र की कल्पान्तजीविनी बहिन अम्बरमाला से चारायण के विवाह की वार्त्ता राजशेखर कवि की विद्धशालभञ्जिका नाटिका में दी हुई है। ये राजशेखर कवि श्रीहर्ष से कहीं पुराने हैं।

कितने यारानी वैय्याकरण लोग भी, जो 'अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र पर छे महीने से कम नष्ट करना नहीं जानते, वन्ध्यापुत्र का वर्णन भलीभाँति जानते हैं। इन वैय्याकरणों का सुन्दर श्लोक जिसे अनेक पाठान्तरों से उस देश के बहुत से लोग जानते हैं, यह है—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कूर्मदुग्धाम्बुधौ स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः॥

वन्ध्यापुत्र के प्रताप से मुझे जो अद्भुत शक्तियाँ मिली उनके समझने के लिए कदाचित् इस छोटे ग्रह पर सिद्ध लोग भी समर्थ नहीं होंगे। अमेरिका आदि में बच्चों को हाथ के संकेत से आदेश करने वाले और सुला देनेवाले प्लैनचेट आदि के रहस्य जानने वाले महानुभाव लोग यदि उनमें से एक आध बात समझें तो समझें। इन्हीं शक्तियों में से एक बात यह भी है कि मेरा शरीर और आत्मा दोनों दुकहरे नहीं हैं। मेरा एक ताराशरीर है और एक स्थूल शरीर है। आत्मा भी एक परमात्मा-सा व्यापक है और एक जीवात्मा-सा परिच्छिन्न है। मैं जब ताराशरीर से परमात्मा के साथ अनेक ग्रहों उपग्रहों में घूमता रहता हूँ तब भी मेरा स्थूल शरीर किसी एक स्थान में पड़ा रहता है। पश्चिम के लोग शायद इसी को डबल रैशनालिटी (Double Rationality) कहते हैं।

अपने इष्टदेव वन्ध्यापुत्र के साथ खेलते-खेलते मैंने तीनों काल और चौदहों भुवन की यात्रा आरंभ की। छायापथ के अंशों से ब्रह्मांडों के निकलने का तमाशा मैंने देखा। एक-एक ब्रह्मांड मे तारा रूपी सूर्य, अनेक ग्रहों अनेक उपग्रहों के निकलने का दृश्य मैंने खूब देखा। अग्निगोलकमयी पृथ्वी ब्रह्मांड से निकलकर अपने बड़े भाई सूर्य प्रजापति के सदृश तप करते-करते, ताप कम होने पर, जलमयी हो गई। इस तमाशे को मैंने देखा। पानी में कीचड़ जमते-जमते कही ऊँची जमीन और कही समुद्र के खड्ड पड़ गये। कहीं-कही ज्वालामुखी पर्वत के भयानक उद्भेद से काले-काले पहाड़ निकल पड़े। इस दृश्य को भी मैंने देखा। धीरे-धीरे इस पर कीड़े-मकोड़े, मछली-कछुआ, सुअर-सिंह, बन्दर, जंगली मनुष्य आदि मनु शतरूपा के रूप में परिणत भगवती वसुन्धरा के शरीर से निकले—सो भी मैंने देखा।

कुछ काल के बाद और ग्रहादिको से मेरी प्रीति न जाने क्यों कम हो चली। पृथ्वी ग्रह से मुझे बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई। इसका कारण मैं अपनी दिव्यदृष्टि से भी समझ नही सका तब मैंने इस विषय में अपने इष्टदेव जी से प्रश्न किया। उन्होंने यह बतलाया कि इस ग्रह पर भ्रष्ट युग में एक त्रिमूर्त्ति और दो एकमूर्त्ति देवता उत्पन्न होने वाले हैं। त्रिमूर्त्ति में तो एक पुरुष दो स्त्रियां होंगी, जिन लोगों के व्याख्यान और लेख आदि से पृथ्वीवालों को मेरी (वन्ध्यापुत्र की) स्थिति में पूर्ण विश्वास हो जायेगा। ये लोग वन्ध्यापुत्रान्वेषिणी महासभा स्थापित करेंगे। वट-वृक्ष की-सी इस सभा की अनेक शाखायें–प्रशाखायें होंगी। अवस्कर संप्रदाय के अनेक मठों की उपयोगिता वैज्ञानिक रीति से यही समाज साबित कर सकेगा। एकमूर्त्ति ऐसी उत्पन्न होगी जिसके उगलदान से बिजली के छर्रे निकल-निकल कर प्रकाश रूप से संतसंगियो के दिमागों में जिह्वा द्वारा जाया करेंगे। एक दूसरी मूर्त्ति ऐसी उत्पन्न होगी जो पुरुष से स्त्री होकर अपने वीभत्स नृत्यों से जगत् के भक्तों को कृतार्थ करेंगी।

बस अब क्या था। इन बातो को सुनकर पृथ्वी ग्रह पर मेरी प्रीति और भी उमड़ी और मैंने संकल्प किया कि अब मैं कम-से-कम अपनी एक आत्मा को बराबर पृथ्वी ही पर रखूँगा।

मै यह ध्यान कर ही रहा था कि ऊपर कहे हुए भ्रष्ट युग के पाँच भावी महात्माओं का स्मरण और कीर्तन करते-करते मेरे इष्टदेव जी में एक अत्यन्त पवित्र और अद्भुत आवेश-सा आया। कछुये के रोयें के सदृश उनके रोयें खड़े हो गये। पुण्डरीक के सदृश उनकी तीनो आँखें लाल हो आईं। क्षीर समुद्र, मद्य समुद्र और ईख के रस की धारा की तरह उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। वरुणग्रह के ऊपर घटा गरजने और बिजली चमकने लगी। सूर्य प्रजापति का मुख काला हो गया। श्यामवर्ण आकाश, विष्णु के शरीर, पर धूल छा गई। ब्रह्मा से लेकर सारा जगत् काँप उठा। एक करोड़ क्रकाद्वीप अर्थात् (Krakatoa) के अकस्मात्

अटल प्रेम दिखलाया था उसी प्रकार रावण भी कैलास नाथ पर बहुत ही प्रीति रखता था। जब-जब वह हेमकूट पर चरण देता था तब-तब पहाड़ कुछ न कुछ धँस जाता था। उसकी तृतीय यात्रा के समय मेरे ऊपर बड़ी भारी आफत आई। उस समय हजारों वर्ष की समाधि के बाद मेरी मूँछें लंबी हो गई थीं कि बाईं ओर की मूँछ तो कैलास शिखर के पास लामा कुवेर जी के बगीचे में भगवान् भूतनाथ के वट वृक्ष में लिपट रही थी, और दाहिनी ओर की मूँछ गंधमादन पर्वत पर भविष्य काल में श्रीराम जी के सरयू-प्रवाह के बाद आने वाले श्री हनुमान् जी की पूँछ में लिपट गई। जब तीसरी बार रावण पहुँचा और उसने अपने गुरु शिवजी से कुछ खफा होकर कैलास को हाथ पर उठा लिया उस समय का मेरा क्लेश पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। एक ओर की मूँछ तो गंधमादन पर्वत पर और दूसरी ओर की रावण के हाथ के साथ सप्तर्षि-मंडल के ऊपर।

भगवती भवानी तो सब क्रोध छोड़ सौतिन गंगा का कुछ खयाल न कर शिव जी से लिपट गईं। माघ कवि ने भी कहा है—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं,
वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुता ससंभ्रमं
स्वयं महाश्लेषसुखेन निष्क्रियम्॥

कैलास के उठ जाने से भगवान् भूतनाथ को भी बड़ी घबराहट हुई। उन्होंने अपने अँगूठे से कैलास को कुछ दबाया। अब तो 'सो चलि गयउ पताल तुरन्ता' की हालत हुई। रावण तो राजा बलि के लोक में पहुँचा। कैलास फिर अपने स्थान में आ बैठा। पर इस हलचल में भगवती वसुन्धरा की स्थिरता विचलित हुई। बेचारा हेमकूट पहाड़ कश्यप जी के दस हजार विद्यार्थियों के विश्वविद्यालय के सहित न जाने कहाँ चला गया। कोई-कोई कहते हैं कि उसी विद्यालय के पुनर्जन्मस्वरूप बालादित्य का नालन्दा विश्वविद्यालय हुआ जो हुयान्साङ्ग के समय में मगध में था। कितने लोग कहते हैं कि वह भारतधर्ममहामंडल के गर्भस्थ विश्वविद्यालय के रूप में कभी प्रकट होगा। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि कश्यप का वह पौराणिक विद्यालय अब कौरानिक विद्यालय के रूप में किसी तामसी मत के अधिष्ठाता की कृपा से मुसलमान भाइयों की भलाई के लिए उत्पन्न हुआ।

हेमकूट के धँस जाने से मेरी ऐसी दुर्दशा हुई जैसी कैलास के उठ जाने से भी नहीं हुई थी। मैं रोता हुआ, निराश्रय, केवल मूँछों के बल, न जाने कितने काल तक टँगा रहा। पर बेचारी पुरानी मूँछें कहाँ तक सँभाल सकें? अन्त को वे जड़-मूल से उखड़ चलीं। राम जी के तोड़े हुए शिव के धनुष के टुकड़े जैसे पत्थर हो-होकर आज भी जनकपुर में पड़े हैं वैसे ही मेरी मूँछें काली-काली शिलाएँ होकर गंधमादन

और कैलास पर वर्तमान है। बुद्ध भगवान् के दाँतों की क्या वैसी पूजा होगी जैसी मेरी मूँछों की पूजा और भक्ति अनेक सिद्ध लोग करते हैं।

पाठक गण! यदि मुझे उस समाधि का बल न होता जिसके भरोसे आजकल के पूरबी और पश्चिमी सिद्ध लोग कागज की मूरत उड़ा कर लोगों से कहते हैं कि मरे गुरु जी उड़ रहे हैं, तो मैं न जाने गिरते-गिरते रावण की तरह बलि राजा की घरनियों के रूप में जा पड़ता या बलि राजा के उन मुद्गरों के माथे पर जा गिरता जिन्हें रावण भी नहीं हिला सका था और यथार्थ ही में मुद्गरानंद या और कुछ हो जाता यह कौन कह सकता है। पर समाधि के बल से मूँछों के उखड़ जाने और मारीच के विश्वविद्यालय के धँसने पर भी मैं आसमान में ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

छठा अध्याय

हेमकूट के स्थान पर कुछ काल के बाद, एक बहुत भारी तालाब दिखलाई पड़ा। इस तालाब पर रावण के आने की वार्ता महाकवि क्षेमेन्द्र के दशावतारचरित में भलीभाँति लिखी हुई है। तबसे इस तालाब में अनेक कमल उत्पन्न हुए थे। पर सब से अद्भुत बीच का कमल था। यह कमल समस्त पृथ्वी-मंडल से भी बड़ा था। यदि यह पूछो कि पृथ्वीमंडल के एक टुकड़े में एक छोटे तालाब के बीच समूचे पृथ्वीमंडल से बड़ा एक कमल क्यों कर रह सकता है, तो इसका उत्तर सत्यवती-पुत्र महासत्यवादी पुराने व्यास जी और जीते-मरे अनेक सर्वानन्द, राधाकृष्ण आदि व्यास आसानी से दे सकते हैं। समूचे संसार को पेट के एक कोने में लेकर संसार के एक क्षुद्र बिन्दु के समान इस पृथ्वी के एक कोने में स्थित क्षीरसमुद्र के भीतर वट के पत्र के ऊपर या शेष जी के फण के नीचे विष्णु भगवान् कैसे रहते हैं? और उनकी नाभि के कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा अपने चारों ओर समस्त संसार को कैसे रच जाते हैं? जो रावण, कुंभकर्ण आदि सूर्य और नक्षत्रों को हाथ से खींच सकते थे और जो श्री हनुमान् जी मेरुमंदर-संकाश थे वे लंका या ऋष्यमूक की झोपड़ियों में कैसे रह सकते थे?

अरे मूर्ख नास्तिको! 'मसक समान रूप कपि धरी' आदि चौपाइयाँ भी भूल गये? मेरु-मंदर-संकाश आदि संस्कृत की उक्तियाँ तो कहाँ से याद आवेंगी? मूर्ख वैज्ञानिकों आदि पर श्रद्धा कर दिव्य बातों में भी अश्रद्धा करने लगे? देश की क्या दशा करोगे? जिस अन्धश्रद्धा से फिर उन्नति की संभावना थी उसे भी विज्ञान की झंझटों में फँसाने लगे? हाय! वन्ध्यापुत्रानुसंधान-समिति और अवस्कार संप्रदाय आदि के व्याख्यानों का भी कुछ असर न पड़ा! धन्य! मेरी पवित्र कथायें, भगवान् न करें, तुम्हारे हाथ में पड़ें! जैसे रूपकला के चरित्र आदि ग्रंथ नास्तिकों के हाथ में नहीं दिये जाते वैसे

ही मेरे भक्त लोग भूल कर भी मेरी जीवनी तुम्हारे हाथ में नहीं देंगे। चाहे तुम विश्वास करो या न करो महात्माओं के चरित्र सुनने वाले बहुत-से भक्त हैं। उन्हीं को मैं अपनी कथा सुना रहा हूँ।

हे भक्तो! ठीक मानो, मेरी बात पक्की समझो। श्रद्धा करोगे तो कच्ची बात भी पक्की हो जायेगी। इसका भी ख्याल रखो कि मैं अपनी अधोदृष्टि से प्रत्यक्ष देखी हुई बात कह रहा हूँ कि ठीक मेरे नीचे वह मणिकर्णिकायुक्त सोने का महा-कमल पृथ्वी-मंडल से बड़ा होने पर भी पृथ्वी के एक छोटे तालाब में खिल रहा था, जब कि महाराजाधिराज लंकेश्वर फिर मेरे समाधिगगन के पास पहुँचे। रावण ने झट हिमाचल का एक बड़ा भारी शृंग तोड़कर इसी तालाब के किनारे रख दिया। फिर उसी को वह शिवलिंग मानकर पूजने लगा। सभी कमल शिवजी पर चढ़ाने के बाद अंत को वह तालाब में तैरकर बड़े कमल को भी तोड़ लाया। उस कमल के भीतर क्या देखता है कि थोड़े दिनों की जन्मी हुई एक कन्या पड़ी है। वेदवती मरकर इस कन्या के रूप में जन्मी थी। अब अमैथुन सृष्टि का खंडन करने वाले और पुनर्जन्म को न मानने वाले नास्तिकों के मुंह पर स्याही लगनी चाहिए। क्या व्यासदेव और बौद्ध महाकवि क्षेमेंद्र की कपोल-कल्पनाओं से भी पुनर्जन्म के संबंध में अश्रद्धा न हटेगी! आधुनिक हिंदू धर्म वाले ही पुनर्जन्म कहते हैं, अन्य धर्म वाले नहीं कहते, ऐसी बात भी तो अब रही नहीं! आधुनिक हिंदू धर्म का पुनर्जन्म रूपी महास्तम्भ अब वामन जी के चरण की भाँति बढ़ेगा। किसी नास्तिक के तोड़ने से यह टूटेगा थोड़े ही। तो शिवजी की पूजा समाप्त कर कन्या को गोद में लेकर रावण अपने घर गया। कन्या मन्दोदरी को सौंप दिया। मेरे प्राचीन मित्र देवर्षि नारद के उपदेश से मन्दोदरी ने उस कन्या को बक्स में बंद कर तिरहुत की भूमि में गड़वा दिया। वही कन्या हल जोतते समय जनक जी को मिली थी। वही श्री जनकलली जी हुईं, जिनकी अपूर्व कथा प्रत्येक हिंदू को विदित है। गो-ब्राह्मणभक्षक रावण को प्रत्यक्ष अधोदृष्टि से देखकर और हिंदूमत के शत्रु, बौद्ध मत के अनुयायी एक कवि की आप्तवाणी को प्रमाण मानकर, मैंने श्री महारानी जी की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाई है। मुर्दे में लिपट कर नदी को तैरने वाले और साँप को पकड़ कर अपनी स्त्री की खिड़की पर चढ़ने वाले अद्भुत महात्मा श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस रामायण के क्षेपकों की जागती बानी के अनुसार भी महारानी घड़े में रखे हुए मुनियों के रुधिर से सुकुमार पिल्लू की तरह निकल पड़ी थीं। अथवा क्षेमेंद्र की उक्तियों के अनुसार कमल की धूल में मधुकरी की तरह लिपटी हुई थीं। भक्त लोग इसका विचार स्वयं कर लें।

सातवाँ अध्याय

गत अध्याय म तो मैं अपनी मूँछ और हनुमान् की पूँछ में ऐसा उलझा हुआ था कि निकलना मुश्किल था। खैर, अब निकल आया तो त्रिकाल यात्रा का परिशिष्ट अंश समाप्त करना चाहिए। हल जोतने से सीताजी की उत्पत्ति हुई। जर्मन्य देश के और भारतवर्ष के कुछ लोग राम जी को कृषक-समष्टि और सीताजी को लाङ्गल-पद्धति कहते है और बन्दर-राक्षस आदि को उस समय के असभ्य मनुष्य बतलाते हैं। मुझे इनसे कुछ कहना नहीं है। मैं समाधि में अदृश्य हेमकूट के ऊपर खड़ा-खड़ा जिन बातों को अपनी प्रत्यक्ष अधोदृष्टि से देख चुका था उन बातों में संदेह कैसे करूँ ? आजकल के क्षुद्र पंडित लोग अधोदृष्टि के नाम पर मुस्कराते हैं। क्यों न मुस्करायें! उन लोगों को तो योगदृष्टि और दिव्यदृष्टि आदि पर भी विश्वास नहीं! 'ङ्, ङ, ञ्, करणे' पढ़ते-पढ़ते और 'डॉग, कैट' के मानी घोखते-घोखते इन लोगों को मनुस्मृति तो याद ही नहीं रही, जिसमें मैत्राक्षज्योतिष्क नामक प्रेत का वर्णन है, जिसकी अधोदृष्टि ऋषियों ने मानी है। समाधि-शक्ति से हजार मैत्राक्ष-ज्योतिष्क की अधोदृष्टि मेरे अधोभाग में वर्तमान थी। ऐसी दृष्टि की देखी हुई बातें कुछ मुँह की बातें नहीं हैं कि उनको कोई झूठ मानेगा। सीताजी के प्रादुर्भाव के बाद रामायण की समस्त कथा अनेक रूपों में प्रसिद्ध ही है। इसलिए मैं इन विषयों में फिर से उलझना नहीं चाहता। ऐसी कहानियाँ हनुमान् जी की पूँछ की तरह घटती-बढ़ती रहती हैं। आनंद-रामायण, अद्‌भुत-रामायण आदि की महिरावण की कथा जिन्होंने देखी है उन्हें मेरी बातों पर श्रद्धा अवश्य होगी। मुझे एक बार हनुमान् जी की पूँछ में उलझने का अनुभव हो चुका है। अब फिर मैं ऐसी लंबी चीज में उलझना नहीं चाहता। मौके-मौके से अपनी त्रिकाल-यात्रा में रामायण, भारत आदि की पवित्र कथाओं को छू-छा लूँगा।

मैं समाधि में पड़ा ही पड़ा अपनी त्रिकाल-यात्रा में सभी वृत्तांतों को देखता चला। अपने इष्टदेव के विरह में कितनी ही बातें मेरी यात्रा में छूट भी गईं। जैसे, सगर के साठ हजार बेटों का पातालस्थ कपिल के कोप से भस्म होना, राजमहल से लेकर गंगा-सागर तक भगीरथ के द्वारा गंगा की नहर का खोदा जाना, वेणु के शरीर के ऋषियों द्वारा मथे जाने पर राजा पृथु की उत्पत्ति, मन्दराचल से समुद्र का मथा जाना आदि बातें ऐसी हैं जो मुझे अपने इष्टदेव के विरह में कुछ धुँधली-सी मालूम हो कर रह गईं। इसलिए इनका साफ चित्र खींचकर मैं अपने पाठकों के सामने नहीं रख सकता। पाठक क्षमा करें। जो मुझसे छूटा-बचा रहेगा उसका दृश्य पाठकों के सामने आजकल के व्याख्याता लोग रखे होंगे। अगर व्याख्याता लोगों से भी बचा तो त्रिकाल-दर्शी रसिक लोग ऐसी बातों को कभी छोड़ने वाले नहीं। रामायण का अंत होने पर मैं अपनी मैत्राक्ष दृष्टि से सीताजी का अग्नि-प्रवेश देखता रहा। आजकल की तरह उस

जिनका कृष्णचरित कुछ और ही ढंग का है। इनके हिसाब से भी कृष्णचंद्र लड़कपन में ही एक विलक्षण पुरुष थे। जंगल के बाघ-सिंह से बचने के लिए जब यशोदा जी इन्हें भगवान् का ध्यान करना बतलावें तब ये बुढ़िया की बेवकूफी पर मुस्करा कर रह जायें। जब अहीरों ने इन्द्र की पूजा से फसल और चौपायों की भलाई करनी चाही तब इन्होंने वैदिक पूजा व्यर्थ बतलाकर पूजा की सब मिठाई आप खा ली। गीता में भी उन्होंने वेदवाद की निन्दा की। ऐसे कहने वालों के लिए तो कृष्ण लूथर (Luther) के समान एक साधारण रिफार्मर बन गये। ऐसे लोगों से मैं कुछ विवाद करना नहीं चाहता। ऐसे लोगों से हार मानने में ही कल्याण है। महाभारत में पाण्डवों की विजय हुई। श्रीकृष्ण सुदर्शन चक्र लेकर गर्भस्थ परीक्षित की रक्षा करते रहे। श्रीकृष्ण जी की इस रक्षा के कारण अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र ने कुछ काम न किया। परीक्षित जी उत्पन्न हुए। शुकदेव जी से श्रीमद्भागवत सुनते-सुनते साँप के काटने से बेचारे मर भी गये। हे भगवान् ! ऐसे पुरुवंश की यह दशा! परीक्षित जी का सर्प-दंशन देख मेरा तारा-शरीर करुणा की लहरों में आकुल हुआ और भारत से उदास होकर पश्चिम की ओर चला।

आठवाँ अध्याय

इधर मेरा भावी शरीर भी जैसे ही छै वर्ष का हुआ, पिताजी चल बसे। माताजी ने मुझे सयाना देखकर सोचा कि यदि बहुत बड़ा हो जाने पर शायद लड़की न मिले तो लोग समझेंगे कि लड़के में कोई दोष है इसी से अभी तक शादी नहीं हुई। यही सब सोचकर माताजी ने ऋण लेकर छै वर्ष की ही अवस्था में मेरा विवाह कर दिया। इधर अट्ठारह वर्ष की अत्यंत छोटी कन्या से विवाह होने के कारण मैं कुछ मुँहबँधुआ हो रहा था। मैं सोच ही रहा था कि क्या यहाँ 'घर लागत है जस नारि को नातो' के अनुसार मोटी-ताजी स्त्री न मिली!

इतने ही में मेरी समाधिस्थ आत्मा अजपुर (Egypt) देश में जा पहुँची। कुछ दिनों तक मेरी आत्मा वहीं लाल समुद्र के दोनों बगल नीलनद के किनारे अज-पुरों की ओर उफ्राता (Eyphratus) के दोआब में असुरों की प्राचीन, कुरुभ्राष्ट्र समकालिक सभ्यता देखकर हर्ष और विस्मय से भरी रही। अजपुर और असुरों के देश बड़े अपूर्व हैं। यहाँ आप ही आप जमीन से गेहूँ निकलता है और खिर-मजूर इतने अधिक होते हैं कि एक पेड़ के रस में एक आदमी अच्छी तरह अपना निर्वाह कर सकता है। इन देशों की प्रशंसा यवन ऐतिहासिक हेरदत्त (Herodotus) ने खूब की है। अजपुरों के सम्राट् और असुरों के असुरनज़र (बाबीलन) की शोभा

देखते ही बनती थी। अब तो ये स्थान खण्डहर के रूप में यों ही पड़े हुए हैं। हाल में जहाँ-तहाँ खोदकर पाश्चात्यों ने कई स्थानों का महत्त्व समझा है। अजपुत्रों (Egyptians) के सबसे प्राचीन लेख विलक्षण ही होते हैं। पशु-पक्षी, मनुष्य आदि के आकार के ये अक्षर होते थे। असुरों के अक्षर छोटे-छोटे बाण के फल के आकार के होते थे। अजपुत्रों के राजा शुम्भ (Khufu) के समय में एक बड़ा कोणागार (Pyramid) बना। एक-एक पत्थर पचास-पचास हजार मन तक के इसमें लगाये गये। इनको खान से खींचकर लाने में कितने ही वर्ष लगे थे। जब साढ़े चार सौ फुट ऊँचा यह कोणागार बनकर तैयार हुआ तब मुझे कुंभकर्ण के सिर और शूपनखिया की नाक का स्मरण आया। ऐसे बड़े मकानों का उद्देश्य यह था कि मसालों से सुरक्षित राजकीय मुर्दे उनमें रखे जायें और नित्य उनका धूप-दीप किया जाय। क्या ही उदार उद्देश्य था! आजकल के कितने ही मतवालों के सदृश अजपुत्रों का यह विश्वास था कि कयामत के दिन मुर्दे उठकर बहिश्त में चले जायेंगे। इसी से उनकी रक्षा के लिए उन्होंने इतना प्रयत्न किया था। मरे को मरा समझकर जलाकर खाक कर देना कैसा नास्तिक्य है! हाँ, समझदार लोग पूजा में तथा पिरामिड-मकबरा, मूरत, स्मारक आदि बनवाने में समस्त पृथ्वी के धन का व्यय भी कुछ नहीं समझेंगे—चाहे इस व्यय से जीवित लोगों को कोई लाभ पहुँचे या हानि। पूर्व पुरुषों के भक्त लोग ऐसे व्यय से कभी मुँह न मोड़ेंगे। अजपुत्रों की धर्म पर ऐसी श्रद्धा थी कि उनके यहाँ बाज, बिल्ली, कछुआ कितने ही जानवर पवित्र माने जाकर मन्दिरों में रखे रहते थे। इनमें से किसी जानवर को यदि कोई मारे तो उसकी जान लिये बिना धार्मिकों को विश्राम नहीं होता था। पशुदया यदि इनकी किसी से कम थी तो उस राजा से जिसने एक जूँ सिर से निकालकर नख पर कड़कड़ाने के अपराध में एक मोटे सेठ जी को सकुटुंब देशनिकाले और सर्वस्व-हरण का क्षुद्र पारितोषिक दिया था।

अजपुत्रों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन जातियों की व्यवस्था थी। चित्रकारी, रत्न काटना, मकान बनाना आदि अनेक कलाओं में ये अत्यंत प्रवीण थे। कितने लोग यह भी कहते हैं कि ये लोग गणित में भी निपुण थे। उक्लेदा पंडित की ज्यामिति की प्रथम पुस्तक की ४७ वीं प्रतिज्ञा में यह दिखाया गया है कि समकोण के कर्ण का वर्ग, भुजवर्ग के योग के समान होता है। यह नियम पहले-पहल यवन महर्षि पृथुगौर (Pathagorus) ने अजपुत्रों से ही सीखा था।

असुरों के दो मुख्य नगर थे—निन्हवपुर (Ninveh) और भव्यलूनपुर (Babylon)। इन दोनों ने आपस में लड़ते-लड़ते अपने सर्वनाश का उत्तम दृश्य दिखाया था। मैंने अपनी दिव्यदृष्टि से साम्प्रतिक नंदन (London) नगर भी देखा है। एक नंदन क्या पाँच नंदन यदि मिलें तो इसके विस्तार मात्र का अनुकरण तो कर सकते हैं पर इसकी शोभा की समता नहीं कर सकते। स-नगर

का वर्णन पाश्चात्य भाषाओं में बहुतों ने किया है। संस्कृत भाषा में भी 'वाङ्मय-महार्णव', में इसका वर्णन पाया जाता है।

प्रायः दो हजार वर्ष के स्वातंत्र्य के बाद पहले पारसियों के, फिर अलक्षेन्द्र (Alexander) उसके पीछे रोम के हाथ अजपुत्र, असुर, फणीश (Phenicians) जारूथ (यहूदी) आदि सभी जातियों ने दास्य के मूल्य पर स्वाधीनता बेंच खाई। इन जातियों में फणीश बड़े उद्योगी और साक्षर थे। श्वेतद्वीप से लेकर मलयभूमि तक इनका वाणिज्य चलता था। इन्हीं के अक्षरों से पाश्चात्य यवन-यूनानी और रोमन आदि अक्षर उत्पन्न हुए हैं। अँगरेजी रोमन अक्षरों ही का रूपान्तर है, यह सब लोगों को विदित ही है। जारूथ लोग ऐसे उद्योगी तो नहीं थे पर धर्म-कल्पना में ये पहले से ही ऐसे निपुण थे जैसे आजकल सूद बढ़ाने में। मूसा आदि महात्मा इन्हीं के वंश में हुए थे, जिन्हें ब्रह्म की ज्योति दीख पड़ी थी और जिनकी साक्षात् निराकार ईश्वर से बातचीत होती थी। मैंने एक बार देखा कि अब्रह्म (अब्राहम) नामक जारूथ अपने कुटुंब के साथ घूमते-घूमते अजपुत्रों में आ पहुँचा। अजपुत्रों ने उसके कुटुंब को अपने यहाँ से निकाल दिया। जारूथ महात्माओं की कृपा से पार होते समय लाल समुद्र घुटने भर हो गया और जारूथ लोग उत्तर की ओर चले गये। उस दृश्य को देखकर मुझे भगवान् कृष्णचंद्र को लिये हुए वसुदेव जी का जमुना पार करना याद आया जिसका वर्णन विष्णु भागवत में किया गया है।

जारूथी (यहूदी) लोगों ने अपनी धार्मिकता के बड़े-बड़े तमाशे दिखाये। कुछ रोज तक तो इनके मंदिरों में पुरोहितों को आवेश आ जाता था और उसी आवेश में वे जिस किसी को नियामक का पद दे देते थे, उसी का राज्य रहता था। फिर इनके बाद राजाओं का समय आया। द्विविद (दाऊद) और शूलमणि (सुलेमान) आदि अनेक दिव्य-शक्ति-संपन्न राजा हुए। एक-एक की धर्म-पत्नियों की संख्या देखकर श्रीकृष्णचंद्र को द्वारका के रनिवास का स्मरण आता है। इसी जाति के बीच रोम साम्राज्य के काल में महात्मा ख्रिस्त का जन्म हुआ, जिनका वृत्तांत जब मैं रोम पहुँचूँगा तब लिखूँगा।

फणीशों ने पश्चिम में कई उपनिवेश बनाये थे। उत्तर अफ्रिका में करथ्यजपुर (Carthage), शीतल्य (Cicily) में श्रीकुश (Syracuse) और सुफेन (स्पेन) में गाधिज (Cadiz) नगर इन्हीं के उपनिवेश थे। अजपुत्रों की सभ्यता जब कुछ मंद पड़ रही थी उसी समय यवन देश के समीप क्रीत द्वीप (Crete) में एक बड़ी सभ्यता फैली। भूमि खोद-खोद कर इस सभ्यता के चिह्न और वर्णन पाकर पुरातत्ववेत्ता लोग लोट-पोट हो रहे हैं। क्यों न हों? अमेरिका के कवियों ने कहा है कि 'अतीत काल अपने मुर्दों को गड़ा ही रखे, (Let the dead past bury its dead), पर जिन्हें वर्तमान काल में कोई विशेष कार्य नहीं है वे इन मुर्दों को न उखाड़ें तो और करें ही क्या?

और देशों का तो वर्त्तमान काल की बातों से कुछ प्रयोजन भी निकल आता है पर भारतीयों के लिए अपने प्राचीन गौरव की कहानियों के अतिरिक्त और रह ही क्या गया है ? पर प्राचीन गौरवों के लिए भी भारतवासी स्वयं जमीन खोदने का कष्ट नहीं उठाते । दन्तकथाओं में कौन-से गौरव की बात नहीं आई है जिसके लिए जमीन खोदें । पत्थर खोदनें वाले क्या दन्तकथाओं के टक्कर की कोई बात निकाल सके हैं या निकाल सकेंगे ? हाँ, कोरे संस्कृत के पंडितों और देवबुद्धिवादी अँगरेजीदां के अतिरिक्त और लोगों में यह गुण अवश्य है कि खोद-खाद, छानबीन कर यदि किसी अँगरेज ने कोई प्राचीन गौरव की बात निकाली तो ताली पीटने का कष्ट अपने अवश्य उठा लेते हैं और देशभर में यह आनंद छा जाता है कि पीपा के पुल, पाया के पुल, जल के नीचे-नीचे पुल, चालीस-चालीस मंजिल के मकान, रेल, तार, विमान, व्यवहितदर्शक किरण आदि अद्भुत चीजें चार पैसे के रोजगार के लोभ से पच्छिमी लोग चाहें जितनी दिखलावें, पर मुर्दों के रहने के लिए या जिंदे आलसियों के कौतुक के लिए, करोड़ों की संपत्ति लगाकर और लाखों आदमियों का प्राण लेकर, निष्काम, निष्प्रयोजन उद्योग के आदर्श स्वरूप, बड़े-बड़े खम्भे, पिरामिड आदि तो नहीं बना सकते ।

नवाँ अध्याय

शीतद्वीप की सभ्यता में यवन देश की सभ्यता हुई । मध्यसागर में तीन प्रायद्वीप हैं । सबसे पश्चिमी प्रायद्वीप को सुफेन कहते हैं । बीचवाले प्रायद्वीप में रोमक लोग रहते थे । पूरब वाले प्रायद्वीप में और उसके आसपास की भूमि में यवन लोग रहते थे । प्राचीनकाल में काव्य, कला, नीति आदि में यवनों के समान कुशल कोई नहीं हुआ । सुव्रता और अर्थना यवनों के दो नगर बहुत बड़े-बड़े थे । छोटे-छोटे प्रजा-राज्य यवनों में बहुत थे । प्राचीन समय में इन्हीं प्राचीन यवनों से हरिकुल आदि बड़े-बड़े वीर हुए, जिनके वीभत्स अंगों और वीभत्स व्यापारों को देखकर मुझे हनुमान्, भीमसेन, घटोत्कच, कीचक आदि अतीत महाबलियों का स्मरण होता था । रुस्तम आदि भविष्य वीरों की उनके सामने क्या गिनती थी ! इन्हीं वीरों के समय में सुव्रता की जारव्रता रानी शीला ने इलेश्वरकुमार परेश के साथ भागकर अपने व्रत का पालन किया था, जिसके कारण एक दूसरी रामायण यवन देशों में ठनी ! इस रामायण के ऋषि महाकवि सुमेर बाबा हैं । शीला के चरित्र को देखकर मुझे अनेक भारती कवियों की उक्तियाँ याद पड़ीं जिनमें से दो-एक यहाँ दे देता हूँ —

(क) मया कुमार्यापि न सुप्तमेकया
न जारमुत्सृज्य पुमान्विलोकितः ।

अनेनगोत्र-स्थिति-पालनेन
प्रसन्नतामेत्य भवोपकारिणी ॥

(३). यथं बाल्ये बालास्तदनिमनि यूनः परिणता ।
अभीच्छामोवृद्धास्तविह कुलरक्षा समुचिता ॥
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुमनेनैकपतिना
न नो गोत्रे, पुत्रि, क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत् ॥

इस द्वितीय रामायण के बाद सुव्रता वाले अपनी वीरता से और अर्थना वाले अपने कला-कौशल मे बहुत प्रपन्न हुए। पारस मे पश्चिम के यवन जब राजद्रोह मचा कर पारस वालों से बिगड़े तब अर्थना की नौकाओं ने उनकी मदद की। इस पर क्रुद्ध होकर पारस वालों ने कई बार यवनों पर चढ़ाई की। मारस्थूण की तराई के और मारमेय-मुख के स्थलीय और जलीय युद्धों में कई लाख पारस वाले मारे गये। अंत में पारस वालों के जराक्ष (Xerxes) महाराज जान लेकर अपने देश में भागे। इन युद्धों के बाद सुव्रता और अर्थना का आपस की फूट से नाश और स्थविसपुर के वीरवर अभिमन्यु की विजय, और श्रीमुन्दर के हाथ से अर्थना के नाश आदि के दृश्य में बड़ी करुणाभरी दृष्टि से देखता रहा। नाश होने के समय जाति की बुद्धि भी कैसी हो जाती है! महर्षि सुक्रतु अपने उपदेश से चाहते थे कि अर्थनापुरवालों को भ्रम से बचावें, पर उन्हें नास्तिक बतलाकर अर्थनावालों ने हलाहल पिलाया। अंत में मगद्रोणी से विषधर सर्प के समान निकल कर राजा ने यवनों की बची-बचाई स्वतंत्रता चाट ली। अब तो स्वतंत्रता खोकर यवनों ने चावल-दाल की दूकानों के बदले गाँजा-भाँग की दूकानों को छानना आरंभ किया। प्रस्तु, अरिष्टात्तर आदि बड़े-बड़े दार्शनिक हुए, जिनकी दूकानों से मादक द्रव्य ले-लेकर बहुत दिनों तक पच्छिमी सधुक्कड़ समाधिनिशा में मग्न थे। दो-चार चिलम जूठे गाँजा का महाप्रसाद पीकर अब भी पूर्वीय लोग कृतार्थ हैं और कभी-कभी समाधिनिशा में पड़ ही जाते हैं। सच है ऐसी चीजों के लिए अपने-परायों का विचार क्या? अफीम, गाँजा, भाँग, जहाँ से मिले वहीं से संग्रह करना चाहिए। चीन में जबतक पच्छिमी तत्त्ववाद (Materialism) नहीं घुसा था तबतक परम पूज्य भगवान् बुद्ध के जन्म-देश के अहिफेनामृत की वे कैसी कद्र करते थे!

फणप के मरने के बाद एक उससे भी बढ़कर भयानक भूत निकला, भारतीय तो कहते हैं कि बाप से बढ़कर बेटा हो ही नही सकता। क्या ऋषियों से बढ़कर आजकल वाले हो सकते है? पर फणप का बेटा अलीकचंद्र इस नियम का अपवाद हुआ। मेरी दिव्यदृष्टि में तो यह आता है और बड़े-बड़े ऐतिहासिकों ने भी ऐसा ही लिखा है कि अलीकचंद्र फणप का बेटा ही नहीं था, सुपिता साक्षात् इंद्रदेव ने जैसे गोतमजी के रूप में अहल्या पर कृपा की थी, वैसे ही अजगर के रूप में उन्होंने अलीकचंद्र की माता को कृतार्थ किया था। इस देवपुत्र अलीकचंद्ररूपी,

महाकुंड में यवनों ने अपनी बची-बचाई स्वतंत्रता का हवन कर, सालोक्य, सायुज्य निर्वाण आदि से बढ़कर दास्यरूपिणी मुक्ति पाई। यवन दासों की बहुत बड़ी सेना लेकर दारदुरा पारसीक को जीतता हुआ अलीकचंद्र सिन्ध के पास तक पहुँचा। मैं भी उसके साथ-साथ उसकी सब कार्रवाईयाँ देखता रहा। चंद्रगुप्त मौर्य अभी बिल्कुल बच्चा था और मेरे सामने ही अलीकचंद्र से मिलने के लिए आया था। पर दोनों में कुछ ऐसी बात छिड़ी जिससे दोनों मिलकर कुछ काम नहीं कर सकते थे और आपस में ही झगड़ गये। अलीकचंद्र नन्दों से पाली हुई प्राची को जीतने को तरसते ही रह गये। पर भगवती भारत वसुन्धरा की ऐसी कृपा है कि यहाँ पैर देते ही वीर से वीर आलस्य-निद्रा में पड़ जाते हैं। अलीकचंद्र के सिपाहियों ने यहाँ अनेक नागाओं के दर्शन किये। न जाने इन लोगों के दर्शन से या भारतभूमि के पवित्र स्पर्श से कुछ ऐसी घोर अनुद्योगनिशा यवनों पर आ पड़ी कि अलीकचंद्र ने कितना ही समझाया और लोभ दिखाया पर उन्होंने एक न सुनी और वितस्ता से पूर्व एक कदम भी बढ़ना अस्वीकार किया।

मैं तो इसका कारण समझ गया। अलीकचंद्र के आने से कई सौ वर्ष पहले ही भारतभूमि में श्री शाक्यसिंह और महावीर जिन का अवतार हो चुका था। शाक्य की करुण लहरियाँ देशभर में लहरा रही थीं। फिर ऐसे देश में चंद्रगुप्त मौर्य आदि थोड़े से पाषाण-हृदयों के अतिरिक्त किसकी हिम्मत थी जो यहाँ हिंसा का साहस दिखलावें। धन्य हैं वे भारतीय जो आज भी वैदिक-अवैदिक सब प्रकार की हिंसाओं को छोड़, मांस-भक्षण, को कौन कहे, चिकित्सा के अभ्यास के लिए भी मांस-स्पर्श तक न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा का पालन करते जाते हैं। बौद्ध जातियाँ तो मांसभोगिनी हो भी गईं पर भारतीय तो घासपार्टी की वृद्धि के लिए प्राण तक स्वाहा करने को उद्यत हैं। मनुष्यों के प्राणों को स्वाहा करना तो और प्राणियों की हिंसा के बराबर पापजनक हो ही नहीं सकता, खासकर उनलोगों के लिए जिनके यहाँ काशी-करवट, प्रयाग-करवट आदि में प्राण देना तपश्चरण की पराकाष्ठा समझी जाती है।

सारांश यह कि अलीकचंद्र साहब को पटने की म्यूनिसिपैलिटी के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। वे इधर ही से लौट गये और भव्यलूनपुर में बुखार से मर गये। उस समय मेरी अजीब हालत हुई, मैं बड़े फेर में पड़ गया। जैसे मूँछों को उखड़ने के समय मुझे यह नहीं मालूम पड़ता था कि समाधिबल से कैलास के साथ ऊपर को जाऊँ या हनुमान् जी की पूँछ के साथ नीचे ही रह जाऊँ, अथवा जैसे बनकटा के पास अपनी अट्ठारह वर्ष की छोटी दुलहिन को देखकर मुझे यह नहीं समझ पड़ता था कि उसे मैया कहूँ कि काकी, वैसे ही पशोपेश में मैं फिर पड़ गया। मैं यह नहीं निश्चय कर सकता था कि चंद्रगुप्त के साथ भारत में रहूँ या अलीकचंद्र के सेना-नायकों के साथ पश्चिम जाऊँ। दो शरीर और दो आत्माएँ तो पहले से ही थीं अब कितने कायव्यूह करूँ ? हिंदू कसाई चंद्रगुप्त ने जब वैदिक ब्राह्मण चाणक्य की

सहायता से नंदों को मारकर नरमेध यज्ञ का दृश्य दिखलाया और बेचारे शल्यक आदि यवन राजाओं को सिंधु के किनारे से निकाल कर उन्हें अन्न-पानी का क्लेश दिया तब मुझे बड़ी करुणा उत्पन्न हुई। मेरे ऐसे विरक्त का भारतवर्ष से जी भर गया। भावी राजा प्रियदर्शी के कारुणिक कार्यों को देखने के लिए भी मैं न ठहरा। पश्चिम को भागते-भागते मैं एकदम रोमक और करध्वज के बीच मध्यसागर के ऊपर जा खड़ा हुआ।

दसवाँ अध्याय

मध्यसागर के ऊपर मैं गुब्बारे की तरह आसमान में एक बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँचा, जिसमें अलिकचंद्रिया पुरी की, भारत की, और रोम-स्पेन की सब बातें देखता रहूँ। पर अब विशेष दृष्टि मेरी रोम पर थी। वहाँ पहुँचने के कुछ दिन पहले मैंने अपनी दिव्यदृष्टि से देखा था कि मंगलग्रह के साथ समागम के कारण एक कुमारी को राम और रौमिल नाम के दो पुत्र हुए थे। नास्तिक सामाजिकों के डर के मारे कुमारी ने लड़कों को जंगल में फेंक दिया था। वहाँ एक हुँडारिन ने दूध पिलाकर बच्चों को जिलाया था। रौमिल ने भ्रातृ-हत्या कर रोम नगर बसाया। रोम नगर में पाँच-सात राजाओं के बाद तुर्क नाम का एक राजा हुआ। यह बड़ा अभिमानी और अन्यायी था, इसलिए इसे राज्य छोड़कर भागना पड़ा और रोम में प्रजा-राज्य स्थापित हुआ। प्रजा में से चुने हुए दो शासक सब राज-काज किया करते थे। द्विजों (अमीरों) और शूद्रों (गरीबों) के बीच इस नगर में बड़ा झगड़ा चला। इस झगड़े का अंत नहीं हो पाया था और पड़ोसियों को दबाकर रोमवाले कुछ प्रबल हो ही रहे थे कि इसी बीच साक्षात् हनुमान् जी का अवतार महावीर हनुबल, करध्वजपुर का सेनापति, सुफेन होकर पूर्व और अल्प पर्वतों को लाँघता हुआ रोम के पास आ पहुँचा। कई बरस तक आठ सेनानायकों को फँसाये हुए और देश को खूब तंग करते हुए, इसने अपनी युद्धलीला दिखलाई। अंत में श्रीप्रिय नामक मध्यसागर पार कर करध्वजपुर में पहुँचा और वहाँ उसने ऐसा उपद्रव मचाया कि करध्वजपुर वालों को हनुबल को बुलाना पड़ा।

यमक क्षेत्र के युद्ध में श्रीप्रिय ने करध्वजियों को जीता। करध्वजियों को जीतने के बाद रोम का सामना करनेवाला कोई न रह गया। इन लोगों ने धीरे-धीरे अल्प पर्वत के पार की अग्य जातियों को, यवनों को, अजपुत्रों को तथा और अनेक देशों को जीतकर अपना बहुत बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। मेरे आने के प्रायः दो सौ वर्ष के बाद केशरी (Caesar) नामक एक वीर रोम में उत्पन्न हुआ। इसने श्वेत द्वीप तक धर्मण्य आदि अनेक देशों को विजय कर अंत में रोम में अपना आधिपत्य

स्थापित किया। पंपीय आदि जितने इसके प्रतिद्वन्दी थे, सभी की पराजय हुई और एक सम्राट् के राज्य का आरंभ हुआ। केसरी को भ्रूतुश (Brutus) आदि ईर्ष्यालु लोगों ने रोम की वृद्ध सभा में छल से मार डाला। ये लोग फिर से प्रजा-राज्य स्थापित करना चाहते थे। पर इन लोगों का मनोरथ सफल नहीं हुआ। देश की कुछ ऐसी अवस्था हो गई थी कि बिना एक प्रचण्ड पुरुष के आधिपत्य के जनता कुछ भी नहीं कर सकती थी। केसरी के मरने के थोड़े ही दिनों बाद उसके भानजे का राज्य हुआ। इतिहास में वह अगत्स्य सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध है। अगत्स्य के पीछे रोम में बड़ी खलबली मची। बीच-बीच में कर्मी गिजन जैसे अच्छे सम्राटों का आधिपत्य होने से कुछ दिनों तक शांति रहती थी, नहीं तो प्रायः व्यभिचार, दुर्व्यसन, सैनिकों के विद्रोह, परस्पर मार-काट आदि के कारण देश की ऐसी दुरवस्था हुई जैसी अवन्तिवर्मा के बाद कश्मीर की होने वाली है। यहाँ से मैं देख रहा हूँ कि रोम की दशा को सर्वथा भूलकर प्राचीन भारत के एक ऐतिहासिक कश्मीर का वृत्तांत लिखते समय लोगों के बीच गप उड़ावेंगे कि ऐसा उपद्रव और ऐसा अनाचार पृथ्वी पर कहीं नहीं हुआ था, पर मेरा तो यह अनुभव है कि कश्मीर की अंतिम अवस्था से कहीं बढ़-चढ़ कर रोम की अंतिम अवस्था के उपद्रव हुए थे।

आगे चलकर आपको मालूम होगा कि मेरी दोनों आत्मायें और दोनों शरीर ऐसे प्रबल हैं कि मेरे माथे से आग निकलेगी तो भी मैं नहीं घबराऊँगा और मेरी अँतड़ियों से ज्वाला निकलेगी तो भी मुझे क्षोभ नहीं होगा। अभी आपलोग देख चुके हैं कि अपनी मूँछों के उखड़ने के समय में मैं कैसा उलझा-पुलझा था और मेरी शांति भंग नहीं हुई थी। पर रोम माता के सर्वांग से अनाचार और दुर्व्यसन की चिनगारियाँ निकलती हुई देखकर मुझे बड़ा क्षोभ हुआ। केवल मुझे ही क्षोभ नहीं हुआ, रोम माता को और सीता मैया की माता और इन दोनों के संबंध से मेरी डबल नानी सर्वस्वदा भगवती वसुन्धरा को भी ऐसा क्षोभ हुआ कि विसुवीय अग्नि-पर्वत के कंधररूपी मुख से उन्हें भीषण अग्नि की कै आने लगी। सैकड़ों योजन तक उनका शरीर कांपने लगा। धड़धड़ाता, धड़धड़ाता हुआ द्रवीभूत पाषाण का प्रवाह नानी साहबा के मुख-कंदर से ऐसे वेग से चला कि हरिकुल और पपिय नामक दो नगर तो देखते-देखते लहराती हुई राख के नीचे गड़ गये। शहर से भाग कर लोग जहाजों पर समुद्र की शरण लेते थे। पर शरणागत परित्याग-पातकी सागर बाबा भी भयानक हिलोरों से जहाजों को किनारे पर फेंक स्वयं कोसों हट जाते थे। यदि उन्होंने किसी जहाज को अपनी गोद में रख भी छोड़ा तो लपकती हुई कोई सैकड़ों मन की चट्टान धधकते हुए पहाड़ के मुख से आकर, जहाज ही पर सब यात्रियों का गरमागरम अग्नि-सत्कार कर देती थी। मेरे श्री अंगों तक भी गरमी पहुँचने लगी। अन्ततः बाल गोपाल जी के समान करुणा से आर्त्त होकर विसुवीय आग को मैं पी गया। आग पीने की विद्या मैंने बड़े परिश्रम से सान्दीपिनी के एक शिष्य से

सीखी थी। भाग पीकर सर्वस्वदा नानी को कुछ समाधि-मूर्च्छा में डालकर कई सौ बरस तक मैं रोम वालों के दुर्व्यसन और अनाचारों को देखता रहा।

अब कलि के बाद वाले द्वापर का अंत हो रहा था। त्रेता का आरंभ हो चला था। भिक्षुरूप धारण कर जिन असत्यासुर की संतानों ने बड़ा भारी अनुद्योग फैलाया था और जिनके महात्म्य से अशोक के वंश का नाश हुआ और जिनकी कृपा से पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि बड़े-बड़े पराक्रमी आर्यवीरों से भी डूबती हुई भारतभूमि की रक्षा न हो सकी और आखिर प्राचीन भारत काल के मुँह में धँस ही गया, उन्हीं महाशयों के दुर्मन्त्र से यवन और रोम आदि देशों में भी खूब दुर्व्यसन, अनाचार और असत्य फैला। झूठे बाराती शास्त्रार्थ, झूठी कल्पना, थिएटर, कुश्ती, बाललीला, व्यभिचार-लीला, आदि बीभत्स दृश्यों से, और उनमें देश के धन के दुर्व्यय से, अगस्त्य के चार-पाँच सौ वर्ष के बाद और चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य के मरने के कुछ दिन पीछे, भारत से लेकर रोम तक, पृथ्वी के प्राचीन गोलार्द्ध की कुछ ऐसी दशा हो गई, जिसको देखने के लिए मेरी समाधिदृष्टि, दिव्यदृष्टि, अधोदृष्टि, कोई भी पर्याप्त नहीं थी। मेरे इष्टदेव जी के कैलासवास के समय जैसा अन्धकार मेरी दोनों आत्माओं और दोनों शरीरों पर नहीं छाया था वैसा इस समय छा गया। इस प्रकार मैं डबल समाधि में पड़े-पड़े आधुनिक वेदान्तियों जैसे शून्य ध्यान का अनुभव कर ही रहा था कि दंभरूपी मंदराचल के द्वारा सर्वात्म समुद्र एकाएक ऐसे जोर से हिलोरा गया और इतने काल तक उसका मंथन हुआ कि वन्यविसर्प नामक कालकूट सर्वात्म से निकल ही तो पड़ा। अब इस कालकूट को पिए कौन? रावण ने कैलास के साथ शिवजी को ऐसा कुदाया था कि उनकी तो नसें ढीली हो गई थीं। मैं अभी अचिरभक्षित-विपुवीय भाग को पचा रहा था और समुद्र-मंथन के दृश्य देखने का कौतुक भी मुझे हो रहा था, इसलिए मैंने भी छोड़ दिया।

यक्षार्त्ति नदी के आसपास से हूण, तर्तर, कर्मुक, आदि बीभत्स वन्य कुछ तो भारत का आचमन करने निकले और कुछ दानव (Danube) नद के समीप आ पहुँचे। अब तो दानव नद के चारों ओर के राक्षस गोथ, गौर आदि के होश भी ठंडे हो गये। बैलगाड़ियों पर अपना बरतन-बिस्तर लेकर ये लोग रोम में पहुँचे। अब बेचारे रोम के सम्राट् ऐसी दशा में पड़े जैसी दशा में विश्वामित्र और देवताओं के बीच में पड़कर हरिश्चन्द्र के बाबूजी पड़े थे, अथवा मैं उस समय पड़ा था जब मेरी एक ओर की मूँछ रावण के हाथों पर शिवजी के बड़ के साथ उलझ रही थी और दूसरी ओर की मूँछ गन्धमादन पर हनुमान् जी की दुम से लिपट रही थी। सम्राट् न तो ऐसे प्रबल ही थे कि इन्हें अपनी भूमि में न आने दें और न ऐसे मूर्ख ही थे कि ऐसे समय भयानक पड़ोसियों को अपने घर में घुसने देने के बाद आनेवाली विपत्तियों को न समझें। रोम में घुसने के थोड़े ही दिनों के अनन्तर गोथ लोग बिगड़े और अपने नायक अलर्क को ढाल पर रखकर, 'राम नाम सत्य' करते

हुए रोम नगर पर चढ़े। इस सवारी की तुलना किससे करूँ? भूत और वर्तमान में तो कोई उपमा मिलती नहीं। भविष्य की ओर देखता हूँ तो शास्त्रियों के साथ वेद भगवान् की सवारी की यात्रा के समय जो हुल्लड़ मचता है उसी से कुछ-कुछ अलर्क-यात्रा के हुल्लड़ की तुलना की जा सकती है। अलर्क के अनुगामियों ने रोम को लूट लिया, और जो दशा मेरी अंधाग्नि से लखनदेव शर्मा के पड़ोसी दुसाध की झोपड़ी की आगे होनेवाली है, उसी में उसे डाल दिया। इसके बाद कई बार कितने दिनों तक यही दशा रोम की रही। गौर, भांडल, मूलक आदि से कई बार जब रोम जलाया जा चुका तब शर्मण्य उदयाकर ने पश्चिम रोम का राज्य अपने हाथ में किया और अगस्तिन नामक बच्चे को, जो उस समय गद्दी पर था, पेन्शन देकर साम्राज्य-बंधन से हटाया। अगस्तिन के बाद रोम साम्राज्य का पच्छिमी हिस्सा, जिसकी राजधानी कंसतन्तुपुरी थी, बहुत दिनों तक स्वतंत्र रहा। पर यहाँ भी रोम की तरह ख्याति स्थायिनी न रही। अपनी भविष्य-यात्रा में मैं इसके अंतिम दिनों का पवित्र वृत्तांत कहूँगा।

ग्यारहवाँ अध्याय*

मैं अपनी दिव्य-दृष्टि से दशकुमारचरित के नायक राजवाहन से भी विलक्षण चौदहों भुवन और तीनों काल की यात्रा कर रहा था। नीलनद पर अजपुत्रों की और उत्पथा तट पर असुरों की कुछ वार्त्ता आपको सुना ही चुका हूँ। जी तो चाहता है कि और भी कथा विस्तार से सुनाऊँ पर ऐसा करूँ तो महाभारत बन जाय। खैर कुछ मुख्तसर सुनिये। मेरी समाधिस्थ आत्मा ने अजपुत्रों का और असुरों का पिण्ड छोड़ा। वहाँ से कुछ उत्तर की ओर जाकर मैंने मेदक और पारसीकों की तूती बोलती पाई। मेदक वीर कायक्षार ने असुरों की निहूवपुरी का विध्वंस किया। मेदकवीर कायक्षार का बेटा आस्तीक हुआ। इसका नाम था कारूवीर। इसी के नाम कारू का खजाना आज तक मशहूर है। कारूवीर ने पहले तो अपने ननिहाल पर हाथ साफ किया, फिर

---

*हाल में स्वामी जी (श्री मुद्गरानन्दजी महाराज) पृथ्वी से रुष्ट होकर फिर अपनी जन्मभूमि वरुणलोक में चले गये हैं। बीबी बसन्ती के ऊपर मद्रास में मुकद्दमा चलता हुआ सुनकर स्वामी जी एक दिन रुष्ट होकर चिल्लाये कि अब मैं इस अपवित्र पृथ्वी ग्रह पर नहीं रह सकता, जहाँ ऐसे महात्माओं पर अभियोग हों। बहुत कहने-सुनने से एक अपने ही सदृश महात्मा श्रीसुवर्णजिह्व को वे पृथ्वी के कल्याण के लिए रख गये। उन्हीं को अपने शेष जीवन आदि का नोट भी दे गये। सुवर्णजिह्वजी कुछ भद्दे-से हैं। उनसे नोट आदि का मिलना कठिन होता है। इसीसे इस चरितावली के अंशों के निकलने में विलम्ब हो जाता है।—लेखक।

लवंद्वीपेश्वर कृनाश्व को जीतकर इसने यवन देश को जीता। सिंधुनद के पश्चिम तट से लेकर मध्यसागर के पूर्वीय तट तक सब देशों को जीत कर इसने असुरों की भव्यतूनपुरी का नाश किया। यक्षाक्ति से रक्तसागर तक और सिंध से यवनसागर तक विस्तृत राज्य अपने पुत्र द्वितीय काम्येश को देकर कारूवीर मर गया। काम्येश बड़ा क्रूर था। अजपुत्रों का सत्यानाश कर, इसने आत्महत्या कर अपने जीवन की समाप्ति की। काम्येश का पुत्र दराय् हुआ। बीस प्रांतों के शासक इसके बीस क्षत्रप थे। इसके राज्य में डाक और सड़क का बंदोबस्त अच्छा था। वसंत में यह शूषा में रहता था, ग्रीष्म में अश्वपत्तन में और जाड़े में भव्यलून में।

जब सुमेरु प्रदेश में प्रालेयप्रलय हुआ था और आर्य वंशधर लोग वहाँ से चारों ओर चले थे तब भारतवाले और पारसी लोग सिंधुनद के दोनों ओर आ बसे। यवन और रोमक मध्यसागर के किनारे गये। शर्मण्य आदि तुरासागर तक पहुँचे। मध्यसागर के उत्तर तीर पर तीन प्रायद्वीप हैं। पहले का नाम है यवन, दूसरे का नाम है रोम, तीसर का नाम है सुफेन। यवन, जिन्हें लोग यूनानी भी कहते हैं, बड़े स्वातंत्र्यप्रिय थे। ये वीर, दार्शनिक, नीतिज्ञ और शिल्प-निपुण थे। बहुत प्राचीन समयों में यहाँ बड़े-बड़े वीर हरिकुल आदि कुश्ती में और लड़ाई में लगे रहते थे। ये वीर ऐसे थे कि आजकल के सैंडो और राममूर्त्ति आदि को तो इनके अँगूठे का भी बल नहीं होगा। जब पहले-पहल मुझे हरिकुल मल्ल का दर्शन हुआ तब उसकी गदा देखकर मुझे भीम की गदा और अपने मुद्गर का खयाल आया। कर्म-विपाक वाले तो कहते हैं कि जैसे युधिष्ठिर की बाँह का हीरा कोहनूर घूमते-घामते रणजीत सिंह के हाथ से निकल कर आजकल आंग्ल राजाओं के पास पहुँचा है, वैसे ही भीम की गदा हरिकुल के हाथ पड़ी थी, वही काल-क्रम से सोमनाथविलासी महामोद जी के हाथ लगी थी। कितने बेवकूफ तो यह समझते हैं कि वही गदा गजनी में गड़ती-गलती महर्षि मुद्गरानंद जी के मुद्गर के रूप में परिणत हुई है। यह गप्प वैसी ही है जैसी कि हाल में सोनपुर के मेले में मेरा टोप देखकर एक पादरी चिल्ला उठा था कि यह मेरा ही टोप तुमने ले लिया है।

जो कुछ हो हरिकुल आदि वीरों के समय में एक बड़ा अपूर्व उपद्रव हुआ था। दलाधिपप्रिय राजा का बेटा परेश था। इसने यवनराज मानलव की बहू सीता का हरण किया। फिर सीता को लाने के लिए ऐलेयों से और यवनों से बड़ी लड़ाई हुई, जिसकी कथा महाकवि सुमेर बाबा ने अपने अयलेय काव्य में दिखलाई है। कितने लोग तो कहते हैं कि रावणकृत सीताहरण की कथा, यानी समस्त रामायण, सुमेरु बाबा के काव्य ही का अनुकरण है। बहुतेरे समझते हैं कि बाबा सुमेरु का काव्य ही रामायण का अनुकरण है। क्या तथ्य है इसका ठीक पता मुझे दिव्यदृष्टि से भी नहीं लगता; हाँ इतना कह सकता हूँ कि मैंने प्रत्यक्ष रावण को भी देखा है जैसा कि मेरी मूँछों की कथा में आपलोग सुन चुके हैं और इलावाले भी मेरी आँख के सामने से गुजर चुके हैं। दोनों ही बातें सच्ची मालूम पड़ती हैं। हाल में इलास्थान खोदने से भी ऐसे ही

पता लगा है। आग्निनेश, गुशस्य, आदि बड़े-बड़े वीरों के मारे जाने पर एक बालाक यूडे ने, जिसका नाम उड्डीस था, उड्डीस तंत्र का विचित्र नमूना दिखाया। जैसे वत्सराज उदयन को विलिञ्ज हस्ती (कल का हाथी) से कौशाम्बीश्वर प्रद्योत ने बझाया था, वैसे ही किलिञ्जाश्व यानी सिपाहियों से भरे कल के घोड़े के प्रयोग से, उड्डीस ने, इस का किला दखल किया।

अब जगत् में यवनों का बहुत कुछ बन पड़ा। जंबूद्वीप के पश्चिम प्रांतों में, श्रीशल्य में, सुफेन में इनके उपनिवेश बने। सवंताब्द से पहले नवम शतक में यवनों के अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्रनगर राजा हुए। इन राज्यों में अर्थना और सुव्रता का बहुत नाम चल निकला। सुव्रता वाले बड़े वीर होते थे और अर्थना वाले शिल्प-कला आदि में तेज होते थे। सुव्रता वालों का जीवन थी गर्गजी के धर्मशास्त्र के अनुसार चलता था। कसरत, कवायद, लड़ाई आदि में ये बड़े कुशल हुए। सुव्रता वालों के उद्दह राज्य में हरिहर महादेव की तरह दो राजा साथ ही शासन करते थे। इनके स्त्री-पुरुष सभी वीर थे। स्त्रियाँ भगोड़े सिपाहियों का मुँह नहीं देखना चाहती थीं। इनके यहाँ शिल्प का प्रचार कम था। ये लोग बहुत कम बोलते थे। शूद्रों से इनका काम चलता था और दिल के बहुत कड़े होते थे। इधर अर्थनावालों का अंतिम राजा क्द्रु जब मर गया तब अर्थनापुरी स्वतन्त्र हो गई और वहाँ एक प्रजाराज्य का स्थापन हुआ। पुराने द्राह्यमुनि के लिखे हुए धर्मशास्त्र से असंतुष्ट होकर अर्थनावाले सूरस्मृति का अनुसरण करके अपना व्यवहार करने लगे। अर्थना राज्य बिना माथे का हो रहा था। यहाँ त्रिशास्त्र, शीस्तन आदि प्रबल पुरुषों ने प्रायः शासन अपने हाथ में रखा। इसी बीच मौके से दोनों पड़ोसियों में यानी यवनों में और पारसीकों में, टक्कर लगा। काख ने पारसीकों की जड़ बाँधी थी; काम्येश ने उसे बढ़ाया था; और, दराय् ने उसे मजबूत कर रखा था। अर्थनापुरी के फौजी जहाजों की सहायता से जंबूद्वीप के यवनों ने अपने शासक पारसीकों से झगड़ा ठाना और बड़ा उपद्रव किया। पारसीकों के शाह ने उपद्रव शांत कर क्रोध के मारे अर्थनावालों को नष्ट करने के लिए सेना के साथ, अपने दामाद मर्दनीय को भेजा। मर्दनीय जैसे ही मगद्रोणी में घुसा वैसे ही तूफान से उसकी नौकाएँ नष्ट हो गईं। वह बेचारा अपना-सा मुँह लिये जंबूद्वीप को लौटा। अब तो दराय् खीस-क्रोध से अभिभूत हो गया। उसने दाति नाम के सेनापति को फिर जहाजों के साथ यवनों के नाश के लिए भेजा। मारस्थूण की तराई में अर्थनापुरी से उत्तर यवनों और पारसीकों में घनघोर लड़ाई हुई। यवनों का सेनापति मल्यदि नामक वीर था। उसने रणक्षेत्र में थोड़ी सेना से एक लाख पारसीकों की खबर ली। इस तमाशे को देखकर भगवान् रामचन्द्र जी की खरदूषण आदि चौदह हजार राक्षसों से लड़ाई का खयाल मुझे हुआ। इसी बीच दराय् बेचारे कब्र में गये। उसका बेटा जराक्ष राजा हुआ। इसने पच्चीस लाख सेना लेकर यवनों पर चढ़ाई की। समुद्र में इसने एक पुल बना डाला जिससे मुझे कभी रामेश्वर के सेतु का और कभी वर्म्मरेदर

परवरसेन के वितस्ता नदी वाले सेतु का स्मरण आता था। सात दिन, सात रात में यह पच्चीस लाख की बीभत्स सेना इसी सेतु से यवनसागर को पार कर प्रलयकाल के ववंडर के समान यवनों पर आ पड़ी। धर्मद्वार नाम की द्रोणी में सुव्रता के राजा वीर लेयनीद्र ने इस तूफान का सामना किया। लेयनीद्र को और उसकी छोटी सेना को चूर-चूर करती हुई यह बड़ी सेना अर्थनापुरी में पहुँची। नगर वाले भाग गये थे। खाली नगर जलाकर सेना आगे बढ़ी। जमीन पर तो यवनों की कुछ न चली पर समुद्र के सारमेय मुख में यवनों के और पारसीकों के जहाजों में दारुण युद्ध हुआ। पारसीकों के जहाज की संख्या यवनों से चौगुनी थी पर यवनों ने पारसीकों की अच्छी तरह खबर ली। पारसीकों की पोत-सेना नष्ट हुई। जराक्ष महाराज भागकर घर पहुँचे। उनकी बची हुई सेना को धीरे-धीरे घेर कर यवनों ने कब्र में पहुँचाया।

इसके कुछ दिन बाद आधी शताब्दी तक विद्वान् परक्लेश अर्थनावालों का नेता रहा। इसके नेतृत्व में आसपास के समुद्र पर अर्थनापुरी का अधिकार रहा। विद्या और विभूति म अर्थनापुरी अद्वितीय हुई। नाट्य, प्रहसन, दर्शन आदि की वृद्धि हुई। अरिष्ट फण के तफरीह वाले प्रहसनों को देखकर मुझे शंखधर जी के लटकमेलक का तथा अपनी चरितावली का खयाल हो आता था। उत्तम देवमन्दिर, मूर्त्ति आदि भी परक्लेश के समय में बने।

इस महापुरुष के मरते ही *अर्थना और सुव्रता वालों में कलियुग का आविर्भाव* हुआ। घोरकलि में अर्थनावालों की पराजय हुई। इसी बीच सुक्रतु नाम का दार्शनिक अर्थनापुर में हुआ। अर्थनावाले भीतर से सड़ चले थे। विचारे सुक्रतु पर अनेक प्रकार के अभियोग लगा कर इन लोगों नें उन्हें जहर का प्याला पिलाया। सुक्रतु का चेला अलीकविध था। इसकी चंचलता से अर्थना की पराजय हुई और पुरी सुवतेश्वर लेशेन्द्र के हाथ लगी। इसी बीच यवनों के स्पर्धीयत् पुर में अपूर्व बुद्धिशाली अपमान्य महात्मा हुआ। इसने घमंडी सुव्रता वालों की खूब खबर ली। अब कलि महाराज की कृपा से सुव्रता और अर्थना दोनों का नाश हुआ। बन पड़ी मगद्रोणीश्वर फलक राजा की। इसने आकर के थोड़ी-बहुत लड़ाई-झगड़ा कर यवनों पर अपना अधिकार जमाया। फलप हिंदुस्तानी नंदों का समकालिक था। यह बड़ा वीर और चालाक भी था। पर बात तो यह है कि जब आपस में फूट होती है तब अड़ोस-पड़ोस वालों की खूब बन आती है। मैं तो उसी वक्त से शहाबुद्दीन के हाथ से होनेवाली दिल्ली-कन्नौज की दशा देख रहा था। अब फलप के पुत्र या प्लताके मुनि के मत से, सर्परूपी धुपिता इंद्र महाराज के पुत्र अलीकचंद्र, मगद्रोणी के राजा हुए। बीस वर्ष की उमर में इसे पिता का राज्य मिला। यह ऐसा वीर था कि यवन सेना लिये-दिये, रास्ते में पारसीको को साफ करते हुए, सिंध के किनारे पहुँचा। यहाँ से इसकी इच्छा थी पाटलिपुत्र जाने की, पर फलप के बच्चे अलीकचंद्र को भारत में एक अपूर्व लड़के से काम पड़ा। कुमार चंद्रगुप्त अलीकचंद्र के पास सिंध के किनारे आता-जाता था। इसने अलीकचंद्र के सेना-

वालों के कानों में ऐसा मंत्र दिया कि अब तो वे पूरब एक कदम बढ़ने को तैयार नहीं थे। बेचारे अलीकचंद्र पटना देखने -को तरसते ही रह गये। किस्मत में उसे पुरी का दर्शन बदा नहीं था। बलूचिस्तान होते हुए घर की ओर लौटे। भव्यलून में बेचारे को बुखार आया और वह मर गया। इनकी मृत्यु पर मुझे बड़ा अफसोस हुआ। इंद्र, वरुण आदि के नाते इनसे मेरा कुछ संबंध भी संभव था। अशौच में मूँछ मुड़वाने की इच्छा हुई पर मूँछ तो पहले ही निकल गई थी। नाऊ के पैसे बचे और मैं रोम की ओर बढ़ा।

बारहवाँ अध्याय

जैसे यवन लोग शिल्पकला में निपुण थे वैसे ही रोमक लोग वीरता में अद्वितीय हुए। इनकी उत्पत्ति भी कुछ अजीब वन्ध्या-पुत्र-सी है। लोग कहते हैं कि आर्या नामक एक कुमारी को मंगल ग्रह से जुड़वाँ लड़के पैदा हुए। एक का नाम राम था दूसरे का नाम रोमिल था। एक हुंडारिन ने इन दोनों का, दूध पिला कर, पालन किया, क्योंकि प्रायः कुमारियाँ अपने लड़के को फेंक आती हैं, उनका पालन नहीं करतीं, कुंती ने भी सूर्य (ग्रह) से उत्पन्न कर्ण को फेंक दिया था, उसका पालन नहीं किया था। इस अद्भुत घटना से बे-माँ के बेटे, बे-बाप के बेटे, बे-माँ-बाप के बेटे, वंध्या-पुत्र, कुमारी-पुत्र आदि की पवित्र कथाओं का मुझे स्मरण आता है। ऐसी कथाओं के सुनने से अमैथुनी सृष्टि आदि पर आस्तिकों का विश्वास अवश्य ही बढ़ेगा और डारबीण (Darwin) आदि नास्तिकों के विकासवाद आदि पर खूब धक्का पहुंचेगा।

राम को मार कर भ्रातृघाती रोमिल ने रोम शहर बसाया। रोम में कुलीन और अकुलीन दो प्रकार के मनुष्य थे। प्रायः राज्याधिकार कुलीन ही का होता था। पहले रोम में राजा लोग होते थे। छठे राजा सर्व ने पहले-पहल शतसमिति में कुलीन और कुलहीन दोनों को अधिकार दिया। पर सर्व के बाद घमंडी तर्कू नामक राजा हुआ और राज्य से निकाला गया। इस समय से रोम में प्रजाराज्य की रीति चली और राजा के नाम पर भी रोमक लोग द्वेष रखने लगे। मैं अपनी दिव्यदृष्टि से सब रहस्य देख रहा था। तर्कू के बेटे ने बिचारी सुंदरी लवक्रीता पर जो अत्याचार किया सो सब मुझे साफ दीख पड़ता था। प्रजा की ओर से दो शासक प्रतिवर्ष नियत होते थे। पर रोमकों का नया प्रजातंत्र भीतर-भीतर तो कुलीन और कुलहीन के झगड़े में गरम हो रहा था और बाहर से शत्रुओं ने आक्रमण किया। गौर नाम के उत्तरीय जंगली रोम में पहुँचे। गौरेश वरेण्य ने शहर का फिर जीर्णोद्धार किया। इनकी कृतिशक्ति बड़ी प्रचंड थी पर कुलीन और अकुलीनों का झगड़ा चलता ही रहा। रिपेण्य आदि महात्माओं के प्रयत्न से कुलहीनों का भी अधिकार कुलीनों के बराबर हुआ और महोद्योगी

रोमक लोगों का शासन श्रीशैल से लेकर अल्पशैल तक समस्त प्रायद्वीप पर स्थित हुआ। संग्राम, दूतस्वीकार और मुद्रानिर्माण के अतिरिक्त और कोई अधिकार रोमक लोगों ने जीती हुई जाति के हाथ से नहीं छीना। इस तरह से रोमक लोग बढ़ते ही चले जा रहे थे। नारद आदि देवर्षि, जो बिना झगड़े के प्रसन्न नहीं रहते, बहुत उदास हो रहे थे। भगवान् की कृपा कुछ ऐसी हुई कि एक बड़ा झगड़ा खड़ा हो चला। मैंने तो श्रीशिला की ऐंड़ी के ऊपर आसमान में अपना स्थान नियत किया। मैं वहाँ से करध्वजवालों और रोमवालों का भयानक कांड देखने लगा। करध्वज पर फणीशों का उपनिवेश था। कितने लोग कहते हैं कि फणीश बिचारे वैदिकपाणि लोगों के बाप-दादे या भाई-भतीजे या बेटे-पोते थे। मध्यसागर के दक्खिन अफरीका भूमि पर रोम के आमने-सामने उन लोगों ने करध्वजपुर बसाया था। पके दो घड़े नजदीक रहते हैं तो व टकराते ही हैं। सौदागरी की प्रतिद्वंद्विता में करध्वज और रोम की टकराहट हुई। करध्वज वाले सुफेन की विजय कर चुके थे। महावीर हनुबल करध्वज वालों का नायक था। यह ऐसा बली था कि मैंने जब इसे बचपन में देखा था तभी से यह मुझे हिंदुस्तानी हनुमान् जी का अवतार मालूम पड़ता था। इसने बचपन में ही अपने बाप की आज्ञा से रोमकों से शाश्वत शत्रुता की शपथ ली थी। सुफेन से हनुबल के उत्तर-पूर्व पर्वत लाँघा। फिर दक्खिन की राह लेकर अल्प पर्वत को लाँघ कर रोमकों पर आ पड़ा। जैसे सिंह हिरणों में विचरे वैसे ही पंद्रह वर्ष तक हनुबल रोम वालों को खाता हुआ उन्हीं के देश में रहा। आठ रोमक सैनिक अकेले हनुबल से हैरान थे। मैंने तो ऐसी वीरता कभी नहीं देखी थी। रोमक लोग निराश हो रहे थे, पर उनके वीर सेनानायक श्रीप्रिय ने देखा कि घर में बैठे-बैठे काम नहीं चलेगा। वह सुफेन जीत कर समुद्र पार कर हनुबल के खास घर में घुसा। अब तो करध्वज वाले बहुत घबराये। मेरे ऊपर भगवान् नारद जी खड़े थे, वे ताली बजाने लगे। नारद जी के साथ ही पर्वत जी मेरे माथे से जरा हटकर खड़े थे, नहीं तो मुझ पर बड़ी विपत्ति आ पड़ती। मकरध्वज वालों ने ऊब कर हनुबल को घर बुलाया। यमक क्षेत्र में हनुबल और श्रीप्रिय दोनों भिड़े। घोर युद्ध के बाद करध्वज वाले हार गये। जिस क्षण रोमक लोगों ने करध्वज वालों को हराया उस दिन समस्त जगत् काँप उठा।

अब रोमक वालों का प्रतिद्वंद्वी कोई नहीं रहा। सुफेन, यवन, अगद्रोणी, करध्वज आदि की लगाम पकड़े हुए रोमवालों ने अपनी वीरता और नीति से मध्यसागर के दोनों ओर बड़ा भारी साम्राज्य फैलाया जिससे मुझे चंद्रगुप्त और अशोक के साम्राज्य का स्मरण आता था। भारतवर्ष के अतिरिक्त ऐसा बड़ा और मजबूत साम्राज्य और कहीं देखने में नहीं आया। रोम वालों ने अपने साम्राज्य में बड़ी-बड़ी सड़कें बनवाई, नहरें खुदवाई, बड़े-बड़े मंदिर बनवाए, साथ ही साथ स्वगत की बीमारी बढ़ी। जैसे मल्लाह मदली बसाकर सुनते हैं, वैसे ही धनी लोगों ने दुर्बलों को पकड़ना आरंभ किया। गाह नामक दो सहोदर वीर थे। इन लोगों ने दरिद्रों का उद्धार चाहा था पर

धनिकों ने इन्हें मार खाया। होते-हवाते शुल्व धनिकों का नायक हुआ और मर्य दरिद्रों का। इन दोनों में घोर कलि चला। शुल्व के अनुयायियों ने पहले तो मर्य को रोम से निकाल दिया और प्रजातंत्र को अपने हाथ में किया पर इसी बीच पूरब से मित्रदत्त नामक राजा यवन आदिकों को साथ लिये उठ रहा था। शुल्व को वहाँ जाना पड़ा। शल्व की गैरहाजिरी में मर्य रोम में घुसा और हजारों शत्रुओं को मार कर स्वयं भी खत्म हुआ। यह बखेड़ा सुनकर शुल्व रोम को दौड़ा आया। मर्य के अनुयायियो को पशुओं के सदृश कत्ल कर कुछ दिनों तक शुल्व ने प्रजातंत्र चलाया।

शल्व और मर्य की क्रूरता देखकर मे ँराम का नाकों दम आ गया। पर क्या करूँ, तीनों काल, चौदहों भुवन की यात्रा के लिए वंध्यापुत्र जी की शपथ कर चुका था। दृढ़ता के साथ देखना भी पड़ा और आज सब बातों का नोट भी लिखना पड़ा है। कश्मीर का अंतिम इतिहास लिखते समय कल्हण कवि की लेखनी काँप गई। हाल में स्मिथ साहब भी इस इतिहास को छूने में घबराते थे, यद्यपि उनके देश के गिवन साहब को कश्मीर की अतिगावस्था पर बड़ी-बडी जिल्दें भर देने पर घबराहट नहीं हुई थी। लेखनी वाले घबरायें तो घबरायें, मुद्गर वाले घबरायें तो काम कैसे चलेगा!

शुल्व के भूमिष्ठ होने पर रोम में *पंपीय, श्रीस और केसरी तीन शिकारी हुए।* पंपीय वीर था पर सूधा था, श्रीस विचारा गाँठ का पूरा और मति का हीन था, केसरी वीर विद्वान् और नीतिज्ञ था। अँगरेजी कालिदास ने तो उसे पृथिवी का पुरुषोत्तम समझा है। रोम में, सुफेन में तथा और जगह उपद्रवों को शांत कर पंपीय ने बड़ा यश कमाया। मध्यसागर में पोत दस्युओं को नष्ट किया, फिर उठते हुए मित्रदत्त को दुरुस्त किया, असुर फणीश और जारूषो की भी हजामत बनाई। रोम में आने पर इसका अद्भुत दिव्य जयोत्सव हुआ, जिसके सामने जैनियो की हाथीयात्रा आदि बडे-बड़े उत्सव तो फीके-से मालूम पड़ते हैं। पम्पीय कुलीनों का नायक था। उसकी अनुपस्थिति में श्रीकर पंडित रोम में शासक था। पपीय, श्रीकर, आदि का शत्रु केसरी वीर साधारण लोगों के पक्ष में था। उचित भी ऐसा ही था क्योंकि वह मर्य का भतीजा था। पंपीय खानदान के कारण, श्रीस धन के कारण और केसरी गुणों के कारण रोम तंत्र में स्वतंत्र हो चले थे। बरस रोज तक केसरी रोम का शासक रहा, इसके बाद रोम की सेना लेकर अल्प पर्वत पार होकर उसने गोड़, शर्मण्य, श्वेतद्वीप आदि जातियों को बस में किया, यहाँ तक कि आठ वर्ष में इसने अपने बल और नीति के जादू से तीन सौ वन्य जातियों को बस में कर लिया। केसरी उत्तर की ओर था, तबतक श्रीस पूरब का सूबेदार था, और पंपीय सुफेन में सूबेदार था। *श्रीस विचारे का पारसिक लोग जलपान कर गये।* अब तो केसरी और पंपीय दो प्रतिद्वन्द्वी बच गये। केसरी अपनी बराबरी में किसी को देख नहीं सकता था। इसलिए दोनों प्रत्यार्थियो में बड़ा विरोध पड़ा। जब पंपीय शासकसमिति का अध्यक्ष हुआ तो उसने केसरी को देश की सेना छोड़ देने की आज्ञा दी। सेना के साथ केसरी रोम की सीमा पर आया। रूपशोण नदी को सेना के साथ पार करना

रोम के शत्रुता रखने का चिह्न समझा जाता था। बहुत सोच-विचार के बाद सेना लिये-दिये रूबशोण के पार पहुँचा। पंपीय विचारा तो डर के मारे यवन देश को भाग गया। साठ दिन में केसरी अकेला रोम का नायक हो गया। बल से लोगों की लक्ष्मी, नीति से लोग का हृदय अपने हाथ में रखता हुआ केसरी पंपीय की ओर बढ़ा। फलशल्या के संग्राम में पंपीय हार गया। वह यवन देश से अजपुत्र की ओर भागा। केसरी ने पीछा नहीं छोड़ा।

अजपुत्रों की रानी उस समय श्री पद्मा थी और राजा श्री पद्मा का भाई था। अजपुत्रों ने केसरी के भय से पंपीय को मार डाला। केसरी और श्री पद्मा के बीच बहुत बड़ा प्रेम बढ़ा। श्री पद्मा के पक्ष में होकर केसरी ने उसके भाई का प्राण लिया। उत्तर की ओर मित्रदत्त के बेटे को केसरी ने रास्ता धराया। इसी बीच कटु और श्रीप्रिय को नायक बनाकर पंपीय के अनुगामियों की सेना मध्यसागर के दक्षिण तीर पर खड़ी थी। केसरी ने आकर इस सेना को भी चूर किया। कटु और श्रीप्रिय विचारों ने तो नैराश्य के मारे आत्महत्या की शरण ली।

इनके मरते ही रोमक लोगों का प्रजा-राज्य समाप्त हुआ और रोम पत्तन में केसरी वीर के विजय-प्रवेश के साथ सम्राट् समय का आरंभ हुआ। सैकड़ों युद्ध में दस लाख से अधिक शत्रुओं को मार कर केसरी ने रोम साम्राज्य आरंभ किया। कृषि वाणिज्य आदि का इसने खूब विस्तार किया, पंचांग-शोधन किया और नदी आदि का संस्कार किया। इसकी श्री और नीति सबके उपकार के लिए रहती थी। कवित्व और वक्तृत्व इसकी सरस्वती-लता के फल थे। किसी ने उसे राज्याभिषेक न दिया। सेना-नायक का ही पद उसे सर्वदा रहा तथापि उसका नाम सम्राट् शब्द का पर्याय हो गया। शर्मण्य राजा आज में केसरी के पद से अपने सम्राट् पद की सूचना देते हैं। जो काम एक सहस्र वर्ष में और लोग नहीं कर सकते वही काम केसरी वीर ने दो वर्ष में कर दिखाया। पर भूतुद आदि कई लोग इसके गौरव से बड़ी ईर्ष्या रखते थे। एक दिन इन कृतघ्न लोगों ने शासन-सभा में केसरी वीर पर छुरे चलाये। पहले तो केसरी ने इनके शस्त्रों से अपने को बचाया पर अपने प्रिय मित्र भूतुद के हाथ में छुरी चमकती हुई देखकर इस कृतघ्न संसार में शरीर-रक्षा अनुचित समझ शांतिपूर्वक प्राण-त्याग किया।

तेरहवाँ अध्याय

केसरी के मरने के बाद उसका भानजा अष्टमय, जिसकी कपट-नीति अति गंभीर थी, साम्राज्य की चेष्टा करने लगा। अतनंत आदि की सहायता से यह धीवर आदि अनेक मनुष्यों को मारकर रोमनायक हुआ। बड़ी फौज इसके हाथ लगी। इसी फौज से इसने यवनों के उत्तर भूतुद और काष्य से लड़ी हुई प्रजाराज्य की सेना को नष्ट

किया। काव्य और भूतुष्क बिचारे आत्महत्या से मरे और सारे साम्राज्य छलियों का आमिष हुआ। अष्टभय और अंतर्नय, जैसे गृध्र-शृगाल एकांत में मुर्दे पर टूटते हैं वैसे रोम साम्राज्य पर पड़े। इन्होंने राज्य को आधा-आधा बाँट लिया। अष्टभय की राजधानी रोमकपुरी हुई। मूर्ख अंतर्नय केसरी वीर की उच्छिष्ट श्री पद्मा के प्रेम से मोहित होकर और अपने कुल और चरित्र को भूलकर विपत्ति में पड़ा। यवन-सागर में श्रीपद्मा और अंतर्नय दोनों अष्टभय से भिड़े, पर युद्ध से भाग कर अंत में दोनों ने आत्महत्या कर ली और चिरकाल के लिए अजपुत्र रोम साम्राज्य का अंश हुआ। अष्टभय अगस्त सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह ऐसा चालाक था कि रोम वालों के द्वेष का निमित्त राजपद इसने कभी नहीं चाहा, पर धीरे-धीरे, राजा के सब अधिकार अपने में इकट्ठे कर लिये। उत्पथा के तीर से तुंग सागर तक और धर्मण्य सागर से सहारा मरुस्थल तक एकातपत्र साम्राज्य अगस्त का हुआ।

अगस्त के राज्य में एक बड़ा भारी अत्याचार हुआ। एक मजहबी ईसू ख्रिस्त नामक निकला था। इस अपूर्व व्यक्ति को कई अपराधों में लोगों नें लकड़ी पर कांटों से वेध कर मार डाला। लोग लिखते हैं कि कब्र में जाने पर फिर ख्रिस्त निकले और कई दिनों तक पृथ्वी पर रहकर स्वर्ग चले गये। ऐसी पवित्र बातों को सुनकर आजकल कई नास्तिकों में हलचल मच जाती है। मैं तो ऐसी बातों को सुनकर, चाहता तो अपनी दिव्यदृष्टि से ठीक देख ले सकता था, तथापि पवित्र बातों में दृष्टि लगाना अनुचित समझकर केवल किस्सों से ही ऐसी बातों में विश्वास कर लेता हूँ।

अगस्त के बाद रोम में व्यभिचार और कलि आदि के व्यसन चले। स्त्री-निमित्तक या सिपाहियों के झगड़ों में शासकों के प्राण आसानी से चले जाते थे। प्रजाओं में रोदन पड़ा रहता था। कभी-कभी प्रजाओं के भाग्य से तृजल आदि एक आध अच्छे राजा हुए। अंत को रोम नगरी को विपत्ति-सागर में पड़ी हुई देखकर सम्राट् कंसतंतु ने पूरब में सुंदर कंसतंतुपुरी बनाई। इस पुरी का सौंदर्य देखते ही बनता है। आज भी इसके सौंदर्य से मोहित होकर तुर्क लोगों में और योरोप वालों में झगड़ा चला ही जाता है। सम्राट् कंसतंतु ईसाई हो गये। इन्हीं के समय में ख्रिस्त मत राजधर्म हुआ। अंत में देवदास नामक राजा हुआ। देवदास के वंश वालों ने रोम साम्राज्य के दो टुकड़े किये। पूरब की राजधानी कंसतंतुपुरी हुई और पश्चिम की रोमपुरी हुई। पर व्यसन तो व्यसन ही है। इसके पंजे में पड़कर कोई बच नहीं सकता। पठान, मोगल, हिंदू, क्रिस्तान, अरब, फारसी, तुर्क, कोई भी इसके पंजे में पड़ने पर चिरकाल तक स्वातंत्र्य नहीं भोग सका। अगस्त राज्य से प्रायः चार सौ वर्ष बीतते-बीतते धर्मण्य वन्यों का घोर विसर्प हुआ। दानव नद के प्रांत के भयानक जंगलों में गौथ नामक भीषण राक्षस रहते थे पर इनके भी बाबा, इनसे भी घोरतर हूण, तर्तर, कुर्मुक, आदि उनसे पूरब रहते थे। इन्हीं हूण आदि के उपद्रव से भागकर गौथ लोग रोम सम्राट् की शरण में गये, पर कृतघ्न गौथ राक्षस, सम्राट् वलांश को मारकर अनाथ रोम राज्य में विचरने

लगे। अपने नायक अलर्क को इन लोगों ने ढाल पर चढ़ा लिया। अलर्क की विकराल मूर्ति ऊपर उठती हुई देखकर मैं भी भय के मारे कुछ और ऊपर जाकर खड़ा हुआ। इन लोगों ने रोम नगर को लूट लिया और जला दिया। गौथ, मंडल, गौड़ आदि वन्यों ने रोम साम्राज्य के मुर्दे का एक-एक अंग नोच खाया। इसी बीच स्थिर नामक हूण नायक दस लाख वन्यों के साथ दुनिया की विजय के लिए हूणगृह से निकला। इसने रहणी नदी पार कर गौड़ पर आक्रमण किया पर गौड़ आदि वन्यों से संरक्षित रोमवालों ने इसे हराया। अल्प पर्वत को लाँघ रोम नगर को लूटकर यह हूण गृह को लौट गया और वहीं रक्ताशय फूटने से मर गया। स्थिर के जाते ही मंडलेश्वर गण श्री करध्वजपुर से आकर रोम में पहुँचे। अब तो मंडल और मूलक आदि नाव में भर-भर कर रोम नगर से स्त्रियाँ और धन निकाल ले गये। इस प्रकार अगस्त राज्य से पाँच सौ वर्ष जाते-जाते रोम साम्राज्य का नाममात्र रह गया। एक बिचारा मिट्टी का पुतला रोमिल अगस्तिल नाम का बच्चा सिंहासन पर बैठा था। अंतिम बाजीराव के सदृश यह कुछ पैसे लेकर खुशी से सिंहासन छोड़ सकता था। बस अब क्या था! इसे पेंशन देकर शर्मण्य उदयाकर रोमक राजा हुआ।

चौदहवाँ अध्याय

रोम साम्राज्य के सिर पर इस प्रकार बिचारे ईसा के मारने का पाप नाच रहा था। रोम साम्राज्य ही क्या सारे संसार में बड़ा भारी विपत्ति-विप्लव मच रहा था। प्राचीन सभ्यता नष्ट हो रही थी। बड़ा भारी वन्य विसर्प-समुद्र जगत् में उमड़ा था। चंद्रगुप्त मौर्य के बाद भारत में अमित्रघात, अशोक आदि मौर्य राजा हुए। मायावाद के प्रचार से, अर्थात् जगत् कुछ नहीं है इस गप्प के विस्तार से तथा मनुष्य और पशु दोनों बराबर हैं इत्यादि कुकल्पनाओं से, भारत अशोक के बाद भिक्षुमय हो रहा था। राजकाज आदि में किसी का जी नहीं लगता था। पाषण्डमय जीवन सब जगह दीख पड़ता था। धर्म के आवरण में घोर तमोनिद्रा छा रही थी। जब-तब एक-आध शास्वतधर्मी राजा-महाराजा हो जाते थे। तब प्राचीन आर्यों का सौभाग्य भारत में लौट आता था। पर व्यक्तियों से कबतक काम चले। पाषण्डियों ने जाति का हृदय सड़ा दिया था। अब एक-दो व्यक्तियों के होने से उन्हीं के समय तक उनका गौरव रहता था। उनके मरते ही सब व्यवस्था गड़बड़ हो जाती थी। अशोक के वंश में अंतिम राजा बौद्ध बृहद्रथ हुआ। उसके सेनापति पुष्यमित्र ने सेना दिखाने के बहाने इसे सैनिकों में ले जाकर मार डाला। पुष्यमित्र शुंग ने फिर से भारत में अश्वमेध का उज्जीवन किया। कितने लोग अनुमान करते हैं कि पुष्यमित्र के ही समय में भाष्यकार पतञ्जलि हुए थे। मुझे अभी दिव्य दृष्टि से भी इस बात का पता नहीं लगा है।

पुष्यमित्र शुंग का प्रताप मैं केवल दूर से ही देख रहा था । इसने बड़ा काम किया। आंध्रों की सहायता लेकर कलिंग से आते हुए क्षारवेल को और मौका पाकर पश्चिम से राजपुताने की ओर तथा कोसल की ओर बढ़ते हुए बौद्ध यवन मिलिन्द को, इसने खूब दुरुस्त किया । पुष्यमित्र का बेटा अग्निमित्र हुआ । इसे थियेटर का बहुत शौक था। भाई कालिदास जी ने सरस्वती की कृपा से इनके नाच-तमाशे का अच्छा बयान मालविकाग्निमित्र में दिया है । अग्निमित्र के बाद शुंग लोग पूरे बकरे हो चले थे। मैंने जब देखा कि अंतिम शुंग बर्कर देवमूर्ति को दीवान बहादुर वासुदेव शर्मा के इशारे पर एक कहारिन ने घूसा मारा तब मुझे एक आँख में रुलाई आई और दूसरी आँख में विकास हुआ।

शुंग वंश के लड़के हिंदू थे, उनपर करुणा होती थी, पर साथ-साथ उनके आलस्य ऊधम और नाच-गान पर घृणा और हँसी भी आती थी। इनका तमाशा देखकर लखनऊ और मटिया-बुर्ज के आसपास की आगे होने वाली बातों का खयाल आया करता था ।

वासुदेव जी महाराज कण्ववंश के ब्राह्मण थे। कण्व जी के और दुष्यंत के नाते इनसे मेरा उस समय का कुछ संबंध भी हो सकता था। जब मेरा शरीर हेमकूट पर था, इस वंश की भलाई के लिए मैं बहुत दुआ करता था, पर अब दुआ का जमाना नहीं था। दुआ के भरोसे काम होता तो आज तुर्क लोगों की ऐसी दशा कभी हो सकती थी ? एकाध पुश्त में वासुदेव बाबा का वंश खतम हुआ । दक्खिन से लोग प्राच्यों के समय से खोई हुई स्वतंत्रता का बदला लेने के लिए मगध पर चढ़ आये। बिचारे गरीब ब्राह्मण लोग राज्य के कारण मारे गये। कण्व सुशर्मा की जान लेकर शिप्रक, जिसे लोग शूद्रक भी अनुमान करते हैं, भारत में सफल हुए।

कुछ दिन दक्खिनी आन्ध्रों का भी राज्य चला। राजा शालिवाहन या सातवाहन जिसे लोग दुलार से हाल भी कहते हैं बड़ा विद्वान् और प्रतापी हुआ। जैसे पुराने मालव वर्ष को लोग आज विक्रम वर्ष समझते हैं वैसे ही शक वर्ष को लोग शालिवाहन वर्ष समझते हैं । क्योंकि प्रायः आंध्रों के ही समय यवन और शकों की भारत के पश्चिम बड़ी चलती रही। काठियावाड़ की ओर रुद्रदामा आदि क्षत्रप या क्षत्रप बड़े मजबूत हुए। इधर पेशावर से लेकर पटना तक पश्चिमोत्तर भाग शकवीर कनिष्क के डर से काँपता था। रुद्रदामा और कनिष्क दोनों शक वंश के थे। धीरे-धीरे यवन, पल्लव, शक आदिकों ने आंध्रों की शक्ति भी खा डाली ।

भारत में प्रायः अराजकता हो रही थी पर शकों से तीसरी शताब्दी में मगध में गुप्तवंश के प्रतापी राजा हुए। ये अच्छे धार्मिक थे । इस वंश के चंद्र राजा ने तिरहुत वाले लिच्छवियों की कन्या कुमारदेवी से शादी कर मगध की ओर तिरहुत में धीरे-धीरे पाँव बढ़ाना शुरू किया । चंद्र का बेटा समुद्रगुप्त हुआ । इसने तो दुनिया छान डाली। जैसे मौर्य और शुंग आदि के समय में भारत का प्रताप रोम आदि तक

सुन पड़ता था वैसे ही समुद्रगुप्त के समय में भी भारतीय प्रताप कंसतंतु के राज्य तक पहुँचा। समस्त भारत तो समुद्रगुप्त ने जीता ही था, अश्वमेध यज्ञ भी इसने किया। इसके सिक्कों पर मेध्याश्व की मूर्त्ति वेदी के सामने आजतक विराजती है। समुद्रगुप्त का बेटा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य हुआ जिसके नामपर बड़े-बड़े अलिफलैला लिखे जा चुके हैं। चंद्रगुप्त के बाद कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त तक किसी प्रकार भारत की इज्जत बचती जा रही थी। अंत में वन्य-विसर्प ऐसी अवस्था पर पहुँच गया था कि इज्जत का बचाना मुश्किल था। इधर हूणों के भय के मारे गुप्तवंशीय थर्रा रहे थे। उधर हूण कर्मुक, कर्त्तर आदि पश्चिम में उपद्रव करते ही जा रहे थे। पश्चिम रोम को तो जंगलियों ने खा ही लिया था। पूरब रोम में, कंसतंतुपुरी की ओर, सम्राट् दुष्टनय तक इज्जत-पानी बचता गया। दुष्टनय ने कायदे-कानून का संग्रह कराया। देवदत्ता नाम की वेश्या से इन्होंने शादी की थी। दोनों के पुण्य-प्रताप से कुछ दिनों तक पूर्वी राज्य चला। अंततः जैसे गौथों ने पश्चिम रोम को खाया था वैसे ही लंबर्धियों ने पूर्वी रोम को खाया। लबर्धी लोग बड़े क्रूर थे। दुष्टनय के सेनानायक पौरर्धावनरसीय की वीरता से पूर्वी रोम राज्य का जो प्रताप कुछ दिनों तक चमक चला था वह दीपशिखा की अंतिम प्रभा के सदृश बुझ गया। भारत में भी बालादित्य यशोधर्मा आदि की वीरता से कुछ दिनोंतक मिहिरकुल आदि हूण रुके थे पर अंततः भारत से रोम तक सभी देशों की सभ्यता वन्य-विसर्प में नष्ट हुई।

पंद्रहवाँ अध्याय

सब से प्राचीन सभ्यता के नाश का अफसोस, बेचारे ईसा के मरने का अफसोस और सबसे बढ़कर अपनी मूँछों के नाश का अफसोस यह देखकर कुछ कम होने लगा कि नई जातियाँ, नये मजहब संसार में उठे। केवल एक बात का शोक बना रहा कि सब जगह नई जातियाँ और नये मजहब पर भारत में, अर्थात् मेरी समाधि-भूमि में, अपूर्व बंध्यात्व आया। बन्ध्यात्व क्या विधवात्व कहिये। स्कन्दगुप्त के बाद भारतमाता विधवा न हो गई होती तो जातीयता और धर्म सब का आविर्भाव हुआ होता। मैं तीनों काल देख रहा था। अजीब-अजीब खयाल मन में हो रहे थे। अब आगे होने वाले श्री दयानन्द जी, राजाराममोहन राय आदि बड़े-बड़े यशस्वी लोगों का खयाल होता तो कुछ ढाढ़स होता। इसी सोच में पड़ा-पड़ा मैं आसमान में घूम रहा था कि एक अपूर्व व्यक्ति की कुछ अजब सूरत मुझको देख पड़ी। इस व्यक्ति की मूँछ बड़ी-बड़ी थी। इसके मारे चारों ओर लोगों का बड़ा हल्ला था। लोग इसे मिर्जा मुछन्दर शाह कहते थे। लोग यह भी कहते थे कि यह गोरखनाथ (गोरख) जी के गुरु और भर्तरी (भर्तृहरि) जी के दादागुरु हैं। मैंने इसका विशेष अनुसंधान नहीं किया। मुझे तो यही पटना

नारमल स्कूल के हेड पंडित, जीवित कवि, हिंदी कविता के मुच्छन्दर संप्रदाय के संस्थापक, महात्मा, बिहारीलाल चौबे जी की कविता याद आने लगी। यह कविता कैसी अच्छी है, देखिये—

देखो यह मुच्छन्दर भैया।
लेग्रो इनकी लोग बलैया॥
तेल मूँछ में सदा लगाते।
कभी न मूँछ बराबर पाते॥

हिंदी के रसिक लोग क्षमा करेंगे यदि समाधि के कारण कविता के उद्धार में उलट-पलट हो गया हो। हाय शोक! ऐसी कविता के लिए मेरा अधिकार होता तो मैं पंडित जी को वह उपाधि दिये बिना न रहता जो अयोध्या के शोचनीय महाराज बहादुर को मिली थी और हाल में हमारे तरुण पडित हरिनारायण जी को मिली है। महामहोपाध्याय की उपाधि क्या, हरप्रसाद शास्त्री जी की सी० आई० ई० की उपाधि भी लेकर मैं चौबे जी को दे देता। खैर, उपाधियों की कथा में कौन उलझे? मैंने तो एक उपाधि त्रैलोक्य-दिवाकर की ऐसे महात्माओं के लिए रखी है। देखें त्रैलोक्य-दिवाकर की उपाधि और तमगा कैसे मिलता है। मैं मुच्छन्दर शाह जी का दर्शन कर रहा था कि आगे होने वाली इनकी कथाओं का स्मरण होने लगा। हाल में मेरे मित्र देवीलाल जी ने इनकी एक पवित्र कथा कही है जिससे रोमांच हो आता है। ये वही मुच्छंदर शाह जी हैं जो एक बार गोरखनाथ जी और एक बार कबीर दास जी से लड़ गये थे। तीनों में बाजी लगी थी कि कौन बड़ा सिद्ध है। पहले कबीर जी अंतर्हित हुए। उन्होंने फिर आकर पूछा कि मैं क्या हो गया था। चट और दोनों सिद्धों ने कहा कि तुम मेढक हो गये थे। तब मुच्छन्दर जी अंतर्हित हुए। फिर आकर जब उन्होंने पूछा कि मैं क्या हो गया था तब शेष दोनों सिद्धों ने कहा कि तुम झींगुर हो गये थे। जब गोरखनाथ जी अंतर्हित होकर आये तब तो किसी को पता नहीं लगा कि वे क्या हो गये थे। उन्होंने जब स्वयं कहा कि मैं वह हो गया था जो सर्वमय है जो 'हममें तुममें खड्ग खंभ में' है, जिसे लोग हिमाचल की खोह में 'सोऽहं ब्रह्म' कहते हैं, जिसे पंजाबी लोग 'तुसी ब्रह्म असी ब्रह्म' कहते हैं, जिसे अद्वैत ब्रह्म सिद्धकार ने वाह गुरु का गुरुपद वाच्य कहा है, जिसकी अकथ कहानी 'सुनहु तात यह अकथ कहानी, समुझत बनै न जात बखानी' इत्यादि वाक्यों से गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने कही है, तब तो सब सिद्धों को बड़ा विस्मय हुआ। जब मुझसे बातचीत हो रही थी तब यहाँ बाबू देवीलाल जी की कही हुई कथा मुच्छंदर शाह जी ने मुझसे कही। अकथ कहानियों को सुनकर आप लोग तो जानते ही हैं कि मेरी क्या दशा हो जाती है। ऐसी बातों से मुझे अपने गुरु बध्यापुत्र जी की कथा स्मरण आ जाती है। आजकल के नास्तिक बच्चे ऐसी बातों को सुनकर अजीब दिल्लगी उड़ाते हैं, बच्चों की दशा ही ऐसी है। एक प्राचीन राजा की कचहरी में एक महात्मा आये थे। सब दरबारियों ने

कहा कि आज बाबाजी योगबल से लब्ध ऐसा सूक्ष्म कपड़ा पहनकर आये कि कोई नहीं कह सकता कि यह कपड़ा पहने हैं। तबतक एक सूधा भोला बच्चा चिल्ला उठा था, 'अरे बाबाजी तो बिल्कुल नंगे है कपड़े की तारीफ क्या करते हो?' वही हाल आज भी है। जब अकथ, अगम्य बातें महात्मा परमहंस लोग या उनके शिष्य लोग कहते हैं तब नास्तिक लोग उसे शून्य कथा कहकर हँसने लगते हैं।

खर, यह तो प्रकरणवश मैंने मुच्छंदर शाह जी की कथा कही है। अब इनकी कथाओं से भी अद्भुत कथा आ रही है। रोम के नष्ट होने पर आंगल, शर्मण्य, स्फारांग, तुरुष्क आदि जातियों की वृद्धि हुई। हूण, शक-तर्त्तर, गौथ, मूलक, भंडाल, लंबर्घी आदि जिन वन्य राक्षसों ने भारत, रोम आदि को खा लिया था उन्हीं के मिलाव-जुलाव से पश्चिम क ठंडे मुल्कों में अनेक प्रबल जातियाँ उत्पन्न हुई। इधर एक बड़ा गजहब अरब म निकला। महात्मा मुहम्मद ने एक सेश्वरद्वैत मत ख्रिस्त के ऐसा चलाया। य बड़े नीतिज्ञ भी थे। ईसा ख्रिस्त तो कह गये थे कि एक गाल पर कोई चपत मारे तो दूसरा गाल भी दे देना पर मुहम्मद जी ने तलवार हाथ में लेकर बड़ी वीरता के साथ अपना मत चलाया। इनके अनुगामियों ने भारत से लेकर सुफेन तक बड़ा भारी साम्राज्य जमाया। सुफन के आगे ये लोग स्फारांगों के मुल्क में भी बढ़ना चाहते थे पर वीर करल ने इन्हें संग्राम में ऐसा धक्का दिया कि धीरे-धीरे विचारों को पश्चिमी मुल्कों से खसकना पड़ा। इसी करल का पोता महाकरल नामक बड़ा प्रचंड राजा हुआ। शर्मण्य, शक, हूण आदि को जीतकर सुफेन में मुहम्मदियों को भी इसने खाया और लंबर्घियों को जीतकर उनका पुराना लोहे का मुकुट इसने छीन लिया। रोम नगर से स्वयं आकर पोप साहब ने इसके माथे पर मुकुट रखा। इस समय तृतीय लेय नाम के पोप थे। इनसे महाकरल को प्रशस्त केसरी सम्राट् की पदवी मिली। महाकरल अक्षर लिखना और थोड़ा व्याकरण और न्याय जानता था। वह आकार से ही वीर मालूम पड़ता था। हूण आदि से इसे प्रीति नहीं थी। हिरन का ताजा कबाब इसे बहुत पसंद था। बड़े-बड़े राजाओं से इसकी मैत्री थी। व्याघ्र, तटेश, धरुण आदि राज्यों से भी इसकी परम मैत्री थी। धरुण राज की कथा सहस्ररजनी में प्रसिद्ध है। पर प्राचीन साम्राज्यों की दशा तो अपूर्व होती ही थी।

महाकरल के कुछ पहले भारत में बाणभट्ट के रक्षक स्थाण्वीश्वर के सम्राट् हर्षवर्धन की कुछ दिन चलती थी। उनके मरने पर उनके साम्राज्य का पता नहीं रहा। चीनियों ने दीवान अर्जुन को मारकर उत्तर भारत को तहस-नहस कर दिया। वैसे ही इधर महाकरल क साम्राज्य की भी दशा हुई। उसक मरते ही साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया।

तब प्रचंड भूमिपाल लोग इधर-उधर छोटे-छोटे किलों में रहत थ। जमीन में बँधे हुए गुलाम या गुलाम क सदृश इधर इनकी गुलामी करत थ। ये जमींदार प्रजा-रक्षक कहाने पर भी प्रायः प्रजाभक्षक होत थे। पारतंत्र्य-पावक में जलती हुई प्रजा

प्रह्लाद के सदृश राम-राम कर रही थी। पृथ्वी से मनुष्यता उठ चली थी जन-समाज मोह-गर्त्त में पड़ा था। भूदेव यति-वेषधारी पुरोहित लोगों के जी जी में आता था वही करते थे। बढ़ई के बेटे यति हुद्बंध ने अपनी बुद्धि से पोप का पद लिया। यह बड़ा बली हुआ। आज्ञालंघन के अपराध में दार्मण्य सम्राट् सुनर को इसने यहाँ तक तंग किया कि प्रजा को राजाज्ञापालन की शपथ से मुक्त कर दिया। जहाँ-तहाँ देश में विप्लव होने लगा। सुनर बिचारा एक वस्त्र पहिने बिना जूते के तीन दिन तक पोप की ड्योढ़ी पर खड़ा रहा। तब उसके अपराध की क्षमा हुई। आजकल कुछ-कुछ ऐसा ही प्रभाव वल्लभाचार्य जी के बेटे-पोतों का पाया गया है। कुछ काल के बाद अनुशांत नामक पोप हुआ, जिसके डर के मारे अँगरेजी राजा मियाँ जान भी कर देते थे। पर इसी बीच एक बड़ा भारी तमाशा हुआ। तमाशा कहें या मूर्खता कहें। एक अजीब ढंग का आदमी, जिसकी शक्ल कुछ आधुनिक बेगमपुर के सिद्ध कूड़ाशाह से मिलती थी और जिसे लोग पितृसाधु के नाम से पुकारते थे, पोप की कचहरी में पहुँचा। प्रायः इसी के समय में काबुली राजा महमूद सोमनाथ जी पर गदाप्रहार कर रहे थे। अब मैं पितृ साधु का तमाशा देखूँ या सोमनाथ जी की ओर चलूँ, कुछ सूझता नहीं था। अंत में मैं दिव्यदृष्टि से सोमनाथ जी की ओर का हाल-चाल देखकर पितृसाधु के साथ पोप की कचहरी तक पहुँचा। बहुत कुछ गुफ्तगू के बाद पितृ-साधु जी की अरजी मंजूर हुई। जाएशाराम में जो ईसा की कब्र थी, जहाँ से मेरे सामने ईसा निकलकर स्वर्ग को चले गये थ, उसे मुहम्मदियों के अधिकार में ले लेने के लिए पितृसाधु चाहता था कि संसार में एक घोर युद्ध हो। कब्र का मामला ही ऐसा है। आज भी जिंदों के रहने के लिए जगह नहीं मिलती और मुर्दों के लिए करोड़ों बीघे जमीन पृथ्वी पर दी जा रही हैं। पोप की कचहरी में निश्चय हुआ कि चाहे जितने मुसलमान-क्रिस्तान कटें कब्र के लिए घोर युद्ध हो। इन युद्धों को स्वस्तिक युद्ध कहते हैं। जो कुछ हो मुझे तो मतान्ध लोग बहुत पसंद आते हैं। कहावत है कि अंधे को घर पहुँचना था। किसी भलेमानुष ने उसे एक नये बछेड़े की दुम पकड़ा दी और कह दिया यही पकड़े घर पहुँच जाओ। बेचारा अंधा काँटे, कुश, गड्ढे, नाले में लुढ़कता दुम पकड़े चला गया। इसे बड़े पंडित लोग अंधगोलांगूलन्याय कहते हैं। यही दशा पोप के अनुगामियों की हुई। आठ तुमुल स्वस्तिक युद्ध हुए। पताका आदि पर चंद्रमा और स्वस्तिक का चिह्न लिये हुए लाखों क्रिस्तान-मुसलमान मोक्ष के लिए नित्य प्राण देते थे। भूख-प्यास से मरते-मरते पच्छिम से किस्तान लोग जाएशाराम पर आ रहे थे। क्यों लड़ रहे थे, इसका कुछ ठीक पता नहीं। जिस कब्र के लिए लड रहे थे उसमें तो कोई था नहीं। वह तो मरने से सातवें ही रोज़ कब्र से निकल कर मेरे सामने स्वर्ग चला गया था, फिर युद्ध काहे के लिए? पर किसको कौन समझावे? जब पोप का हुक्म था कि ऐसे युद्ध से मोक्ष होगा तब और कौन क्या कह सकता था? इधर सब राजा मोहान्ध होकर मजहबी लड़ाई लड रहे थे।

ऐसे अवसर पर कवचधारी वीर डाकुओं की बन पड़ी। ये वीर डाकू खोजने के बहाने घोड़े पर चढ़े हुए जहाँ-तहाँ घूमते थे। किसी की स्त्री और किसी का धन इनसे बचने नहीं पाता था। इन्हीं वीरों में से एक की कथा सुफेन के व्यास शान्ति जी (Carvantas) ने अपने उपन्यास में दी है। यदि पाठक लोग धीरज रखें तो मैं सर्वान्त जी के उपन्यास से एक कथा सुनाऊँ। फिर एक कथा मेरे माननीय महंत रामदास जी ने कही थी, उसे भी सुनाऊँ। सर्वान्ति जी ने तो यह कथा लिखी है कि एक गमगीन चेहरे का गौरव रखने वाला दीन कुत्सित (Don Quixote) नामक बड़ा भारी घुड़सवार वीर था। राक्षसों की खोज में एक रोज यह निकला। बैद्य के टट्टू के सदृश इसके पास एक टट्टू था जिसके घुटने परस्पर खटखटा रहे थे। एक टूटा-सा कवच यह कहीं से उठा लाया था। उसमें जहाँ-तहाँ कागज की दफ्ती का टुकड़ा जोड़ कर मरम्मत कर ली थी। एक नौकर के साथ घूमते-घूमते एक दिन इसने देखा कि एक नदी पर पनचक्की चल रही है। बस फिर क्या था, इसने चिल्ला कर नौकर से कहा कि यही चक्रासुर है। मुसाफिरों को यह बड़ा तंग करता होगा। उसके नौकर का नाम था सचपंज (Sancho Panza)। सचपंज विचारा बड़े ही पाशपंज में पड़ा। मालिक को कितना भी उसने समझाया कि यह पनचक्की है, कोई असुर नहीं है, पर दीन-कुत्सित वीर ने उसकी एक न सुनी, टट्टू लिये-दिये चक्की पर धड़ाम से जा गिरा। भीतर विचारे चक्की वालों की तो अपूर्व दशा हुई। उनकी दशा का क्या वर्णन करूँ। एक बार हमलोग एक बारात से आ रहे थे। एक मेरा मित्र मेरे आगे हाथी पर चला जा रहा था। इसी समय हाथी बिगड़ा। बगल में भूसा का खोप या भुसवल था। मेरे मित्र उसी भुसवल पर कूदे। भुसवल के भीतर गँवई की एक युवती और एक युवा कुछ धर्मानुष्ठान कर रहे थे। मेरे मित्र जो भुसवल पर कूदे तो भुसवल का छप्पर टूट गया और वे धड़ाम से लड़कों की देह पर गिरे। उन दोनों बेचारों ने समझा कि साक्षात् हनुमान जी हमलोगों को दण्ड देने के लिए कूदे हैं और दोनों वहाँ से भागे। जैसी दशा इन बेचारों की हुई थी वही दशा पनचक्की चलाने वालों की हुई। भगवान् के यहाँ से कैसा वज्र उस पनचक्की पर गिरा, उन्हें नहीं मालूम हुआ। थोड़ी देर तक तो चक्कीवाला घबराया-सा रहा, फिर बाहर निकल कर उसने दीन-कुत्सित और उसके टट्टू को चक्की में फँसे हुये पाया। मारे क्रोध के उसने चक्की बिगाड़ने वालों की बुरी तरह मरम्मत की। इस तमाशे से मुझे जो आनन्द हुआ उसे आप समझ ही सकते हैं। ऐसी-ऐसी दीन-कुत्सित की अपूर्व कथाएँ सर्वान्ति जी ने लिखी हैं। इन्हीं सर्वान्ति जी ने पश्चिम में अश्वारोही वीरों का सर्वान्त किया। इन्हीं की करतूतों के मारे आजकल कोई अश्वारोही वीर नहीं होता है।

एक नमूना तो मैंने आपको पश्चिमी कथा का दिया। अब महन्त जी की कथा का आनन्द लीजिये। एक बनिया थे, जिनका नाम था गरीबदास जी। इनकी स्त्री बड़ी बुद्धिमती थी। प्रातःकाल ये रोज टहलने जाते थे। लौटने तक घर पर भोजन आदि तैयार रहता था, पर जब ये बाहर से लौटते थे इनकी स्त्री इनका हाल पूछती थी तब ये अजीब-अजीब कहानियाँ कहा करते थे। उन दिनों हथियार बाँधना मना नहीं था। गरीबदास जी

तलवार बाँधे टहलने निकलते थे। लौटने पर अपनी स्त्री से कहा करते थे कि आज मैंने मदारबक्श खाँ को मारा, आज पीपल सिंह को मारा। ऐसी बातें सुन कर बेचारी स्त्री घबराती थी कि इतना खून करके मेरे पति की क्या दशा होगी। अन्ततः एक दिन गरीबदास जी के बाहर निकलने पर पुरुष वेष धारण कर बुद्धिमती स्त्री भी घोड़े पर सवार होकर निकली। अलग से गरीबदास जी की हालत देखती जाती थी। गरीबदास जी एक बाग में पहुँचे। वहाँ घोड़े से उतर कर एक मदार का दरख्त पकड़ कर बोले 'क्यों मदारबक्श! आज देख तेरा सर उतार लेता हूँ!' यह कहकर उन्होंने दरख्त पर तलवार चलाई। गरीबदास जी फिर आगे बढ़े और पीपल की एक शाखा झुका कर बोले 'क्यों पीपल सिंह! आज तेरा गला मैं काटता हूँ!' स्त्री यह सब तमाशा देख रही थी। जैसे ही गरीबदास जी ने पीपल पर तलवार चलानी चाही वैसे ही बुद्धिमती सामने घोड़े पर खड़ी हो गई और बोली—'क्यों बे कमबख्त! मैं तेरे ही खोज में कई रोज से था! तू ही मेरा बगीचा रोज बिगाड़ता है, आज मैं तेरा सर लेता हूँ'। यह कहकर उसने अपनी तलवार खींची। अब तो बेचारे बनियाराम की तलवार हाथ से गिर गई। डर के मारे काँपने लगे और बोले—'हुजूर मैं नहीं जानता था कि यह हुजूर का बाग है। अब माफ कीजिये, फिर गुलाम ऐसा नहीं करेगा, कदमबोसी में हरदम हाजिर रहेगा। यह कहकर बेचारे गरीबदास जी रोने लगे। तब स्त्री ने कहा कि 'अच्छा अपनी तलवार मुझे दे दे और मेरे साथ चल'। साईस की तरह अपना घोड़े लिये पैदल चलते-चलते बेचारे गरीबदास जी के होश-हवास गुम थे। हुक्म मान कर चले। स्त्री ने कुछ दूर जाकर तालाब पर गरीबदास जी से कहा—ले, मैं अपनी धोती बदलता हूँ, तू तालाब में इसे छाँट ले। उसने अपनी धोती बदल कर दी। गरीबदास जी ने उसे छाँट दिया और भीगी धोती कंधे पर लिये उनके पीछे-पीछे चले। घर के समीप आने पर स्त्री ने इससे धोती माँग ली और कोड़े से माथे में खोद कर कहा कि अपने घर चला जा। घूम कर दूसरे रास्ते से आप भी इनसे पहले घर पहुँची। पुरुष के कपड़े उतार कर स्त्री बन कर रसोई परोसने चली गई। जब यह कुछ मुँह बनाये खाने के लिए पीढ़े पर बैठे तब उसने रोज की तरह इनका हाल-चाल पूछा। तब इन्होंने कहा—क्या कहूँ आज कई बहादुरों के मारने पर मुझे एक छोकड़ा मिला था। उसके मूँछ-दाढ़ी कुछ नहीं थी। अपने को बाग का मालिक बतलाता था। मुझसे वह झगड़ने लगा। मैंने उसे दो-चार कोड़े लगा कर बाग से निकाल दिया। लड़का समझ कर जान छोड़ दी। गरीबदास जी ऐसी-ऐसी शेखी हांक रहे थे कि स्त्री ने अपनी गीली धोती चौके से लाकर इनके सामने रखी और पूछा—तालाब में यह धोती किसने छाँटी थी?' अब तो सेठ जी सब बात भाँप गये। फिर कभी पीपल सिंह और मदारबक्श की बात उसके सामने नहीं निकालते थे। ऐसा ही हाल योरोप के मध्य-काल में घुड़सवार वीरों का था। इनमें असली वीरता कुछ नहीं थी। केवल लूट-पाट के लिए, दीन-दुखियों को, अनाथ असहायों को सताने के लिए, ये घूमते थे।

सोलहवाँ अध्याय

मैं इसी प्रकार आकाश में अपनी त्रिकाल-यात्रा के लिए घूम रहा था और अनेक तमाशे देख रहा था। पुरानी सभ्यता का नाश कर जो नई जातियाँ निकलीं उनमें एक-एक कर के सब का तमाशा मैं कायव्यूह से देखता चला। इन जातियों की उन्नति का वर्णन यदि किया जाय तो दस-पाँच महाभारत बन जायँ। भाष्यकार भाई शेष जी यदि फिर किसी के तप से पाताल से ऊपर आ जाते तभी इन जातियों के इतिहास का वर्णन कर सकते। नरमण्डी से जाकर वलियम ने जो आंग्ल भूमि की विजय की, इधर महामद के मनुयायियों ने जो सिन्ध के किनारे से सुफेन देश तक अपना राज्य जमाया, उधर महाकरल के राज्य के टुकड़े हो जाने पर प्रर्मण्य, फरांसीसी आदि जो स्वतंत्र हुए, ईसा की कब्र के लिए जो ईसाई और मुसलमान स्वस्तिक युद्धों में करोड़ों की संख्या में कट गये, दा वीर लोग जो घोड़ों पर चढ़कर चक्रासुर आदि बड़े-बड़े असुरों को मारते गये, धर्मण्यों में सभ्यता के केन्द्रस्वरूप जो महानगर उत्पन्न हुये, क्रमवल (Cromwell) ने जो महाकरल की हत्या की, चौदहवें प्रवेश के समय में फरांसीसियों के जो रुपये फूँके गये, कुलुम्ब (Columbus) आदि ने जो अमेरिका का पता पाया था, वहाँ जाकर बसे हुये अँगरेज आदि ने जो पूर्वी बंधन तोड़ कर नया प्रजाराज्य स्थापित किया, इधर वस्व (Vasco-de-Gama) महाशय ने भारत का रास्ता खोलकर जो इस पवित्र देश में यूरोप का रोजगार और शासन जमने का अवसर दिया, जगदेववीर नयपाल्य (Nepolcon) ने जो बीस वर्ष तक समूचे यूरोप को कँपाते हुये अपूर्व प्रचण्डता दिखाई—इन बातों का वर्णन मुझसे कैसे हो सकता है!

हाल में इधर देखता हूँ तो और भी अपूर्व घटनायें दीख पड़ती हैं। जापान वालों ने प्राचीन रूस को धक्का देकर भगा दिया है, चीन वालों ने टीक कटवा कर प्रजाराज्य स्थापित कर लिया है, मुसलमानों का बुरा हाल है, मिस्र खत्म हो चुका, पारस के उत्तरी और दक्खिनी टुकड़े दोनों दो ओर लुढ़क रहे हैं, कंसतन्तुपुरी में सुभिया के पुराने गिरजा पर जो कई सौ वर्ष हुये तुर्कों ने अधिकार जमाया था सो डगमगा रहा है।

भूत, भविष्य, वर्त्तमान की ऐसी गड़बड़ी देखकर मैंने अपनी त्रिकाल-यात्री आत्मा को तो हेमकूट वाली आत्मा में मिला दिया। हेमकूट वाली आत्मा चिरकाल तक समाधि में पड़ी रही। अपनी बाल्यावस्था के दृष्ट बन्ध्यापुत्र जी के विरह में मैं तप रहा था। भावी महात्मा विवाकटानन्द सरस्वती आदि सज्जनों के ध्यान से अपने को कृतार्थ करता जा रहा था। कई हजार वर्ष तक खपुष्प के काँटों पर सोते-सोते अराम्रजाल समाधिनिद्रा में रहते हुये, बिना खाये-पिये मुझे जीवन बिताना पड़ा। अन्ततः त्रेता युग में जो हत्यारे रावण के कारण राम के सीता-वियोग के सदृश मुझे गूँसों का वियोग हुआ था उस वियोग के ताप से मेरे माथे से धुआँ निकलने लगा। इसे देख कर हेमकूट निरवधि [illegible] में [illegible] बृहस्पति सदन जी के पास जाकर उनकी धर्मपत्नी [illegible] में [illegible] की [illegible] पड़ी देख भी कि परलोकवासी [illegible] प्रमाद-प्रफुल्लित हिए हुए [illegible] थी

स्वामी मुद्गरानन्द जी आश्रम से हटा नहीं दिये जायेंगे तो राजनीति में दखल देने वाले व्याख्याताओं के व्याख्यान से जितना हर्ज होता है उससे बढ़ कर विश्वविद्यालय का हर्ज हो जायेगा। इस अर्जी पर बहुत कुछ विचार करने के बाद श्रीमान् कुलपति जी ने अपने भयानक समाधि-बल से मुझे ज्यों का त्यों उठा कर हेमकूट से त्रिवेणी तट पर फेंक दिया।

यहाँ भी मेरी समाधि लगी रही। दैवात् एक दिन आज से प्रायः बारह-तेरह वर्ष पहिले, कुम्भ के मेले के समय वन्ध्यापुत्र के वाहन प्रसिद्ध पाँख वाले श्याम-श्रुति दरियाई घोड़े की हिनहिनाहट-सी आकाश में सुन पड़ी। मेरी समाधि-निद्रा भंग हुई, तो मैं देखता क्या हूँ कि आकाश में घोड़ा आदि कुछ भी नहीं है, केवल मुरादाबाद, बरेली, हरिद्वार आदि से आये हुये सनातनी, आर्यसमाजी आदि धार्मिक व्याख्याता लोग व्याख्यान दे रहे हैं। समाधि के बाद ऐसे व्याख्यानों में क्या जी लगे। मुझे तो मेले में नागा लोगों के ब्रह्ममय शरीरों के अतिरिक्त और कुछ देखने के लायक वस्तु नहीं मालूम पड़ती थी। इनके दर्शन से मायावाद का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा। इन लोगों ने वस्त्र तक को माया समझ लिया था। मुझे भी इनके दर्शन से अपना शरीर और जगत् कुछ नहीं सूझता था। थोड़ी देर में ऐसा हो गया कि मैं तो सब को सूझता था पर मुझे 'तुर्को ब्रह्म अन्ना ब्रह्म' ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझने लगा। प्रिय पाठक! समाधि टूटने के बाद को यह अवस्था है, फिर समाधि का आनन्द कैसा हुआ होगा सो क्या कहा जा सकता है! ऋषियों ने कहा है —

> समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
> निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
> न तद्गिरा वर्णयितुं हि शक्यते,
> स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

सत्रहवाँ अध्याय

मेरी समाधि-निद्रा के भंग का राघव-कृत पिनाक-भंग-वृत्तान्त-सा अद्भुत वृत्तान्त ब्रह्माण्ड में फैल गया। क्यों न फैले, मेरा आसन टूटते ही पृथ्वी काँप उठी, शेष के फण दब गये।

> भरि भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले।
> चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥
> सुर असुर मुनिकर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।
> कोदंड भंजेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं॥

—इत्यादि तुलसीदास जी की कविता का प्रसन्न अनुभव लोगों को हो चला। मेरे ब्रह्ममय उपदेशों को सुनने के लिए बहुत-से लोग हिन्दू, मुसलमान, किस्तान, स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्ध, युवा सभी आ जुटे। कितने ही सनातन में थे, कितने ही सर्वनाश

में थे, कितने मद्य के प्रभाव में थे, कितने ही होश-हवास में भी थे। मेरा अद्भुत श्यामवर्ण, बिना जूते के चरणारविन्द और मोटिया की दुलाई और चमकते हुए सींक के खासे अँगरेजी टोप इत्यादि आवरणों से युक्त मनोमोहिनी मूर्त्ति देखकर सभी मुग्ध हो जाते थे। थाल का थाल दिव्य हलुआ, पूरी, पावरोटी, लड्डुआ, कचौड़ी ॐकार के साथ इश्तहार देने वाले लोगों की बनाई हुई पवित्र शराब, पवित्र साबुन, घासपार्टी वाले के सागपात और मांसपार्टी वाले के कबाब, कोफ्ता आदि, देशी-विदेशी, विलायती, रंग-बिरंगे कपड़े, भूषण आदि सभी चीजें मेरे सामने रखी गईं। सबलोग अपनी भेंट के स्वीकार के लिए जयराज श्रीजी भगवान् आदि शब्दों से मेरी दुहाई देने लगे और सभी मेरे पवित्र शरीर को एक बार छूने के लिए हल्ला करने लगे। एक बनारसी रईस चिल्लाते थे कि 'भयया, हम महाराज का चरणारविन्दु अभी छुवबे औ माँग लगयबे। नाही तो हमरी नोकरी-चाकरी जैहे तो जैहे। हमें बगैर यह चरण के चैन नाहीं है।' इतना कहकर रईस फूट-फूट कर रोने लगे और जैसे रथ-यात्रा के दिन गौरी-शंकर के कुएँ के पास रथ के सामने बूढ़े पंडित जी लोटते थे वैसे ही जमीन पर लोटने लगे। एक सारन का अहीर नंगे बदन खड़ा था, वो बड़े जोर से चिल्ला उठा, 'हटीं सभनी जी तनी, हमरो के महराजजी के चरनार-विन्दवा टोयें दीं'। इतना कहकर वह अपनी लाठी घुसेड़ता हुआ आगे बढ़ा। सब लोग हँसने लगे, इतने में एक मिर्जापुरी गुण्डा आबेरवाँ का दुपट्टा ओढ़े हुये, सुनहरी मूठ का चिकना मोटा डण्डा चमचमाते हुए बोल उठा, 'अरे इ मा गुलगड़प्पा करत होअ हो, हमरो के गुरु का दर्शन होए दः'। एक दुबला बंगाली विद्यार्थी चिल्ला रहा था, "कैनो, ग्रत गण्डगोल कैनो। आमा के परमहंसेर दर्शन हबेना'। टोप लगाये एक काला यूरेशियन चिल्लाता फिरता था—'ह्वाइ वी वुड सी हिज हॉलीनेस एट एनी कास्ट। ही इज वन आफ अस।' इस पर साहब-साहब करते बहुत-से स्त्री-पुरुष हट गये। एक मारवाड़िन सेठानी रंगीन लहँगा पहने, गोद में बच्चा, हाथ में मोहनभोग का थाल लिये चिल्ला रही थी। इधर एक मरहट्ठे जेंटिलमैन अपनी स्त्री को साथ लिये खड़े थे और कुछ कह रहे थे। एक बीभत्स मोटी मेम एक काले लड़के के साथ खड़ी थी और लड़के से कुछ अपतार की बातें कर रही थी। इतना हल्ला-गुल्ला हो रहा था कि मुझ जैसे वरुण लोक के आदमी का इतने हल्ले में इस अपरिचित-प्राय पृथ्वी की भाषाओं का समझ [illegible] मुश्किल था। इस प्रकार हल्ला हो रहा था, तब तक मेरे गर्भिष्ण उदर में एक अपूर्व विचार उत्पन्न हुआ और मैंने समीप बैठी हुई एक भाजनगढ़ की भक्तिन के थाल में से कई ठेकुये निकाल कर खा लिया। खाते-खाते अकाडैत 'अत ऊर्ध्वं व्रजामि व्रजागात्' की धारा में श्री दु.लभञ्जन आदि आधुनिक और भैरवाचार्य आदि प्राचीन ऋषियों का गुणकीर्त्तन करते हुये, पक्षापक्षान्तर के नाते वाल्मीकि, मम्मट और भवभूति के अवतार महाकवि राजशेखर को देते हुए—

'रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्म दारा,
मज्जं मंसं पिज्जये खज्जये च।
भक्खा भोज्यं चम्म खण्डं च सेज्जा,
कौलो धम्मो कस्स णो होई रम्मो।।'

इस महा ब्राह्मणीय सूत्र को पढ़ते हुये जल के बदले एक पूरी बोतल किसी दूसरी ओर बैठे हुए एक विलायत-यात्रा के परम विरोधी कल्यपाल जाति के भगत जन के हाथ से छीन कर मैंने गड़-गड़ अपने पवित्र गलरन्ध्र में खाली कर दी। इस प्रकार अकस्मात् भगत-भगतिनों पर कृपा करने के कारण लोग अत्यन्त हर्षित हुए और जय-जय ध्वनि से आकाश गूँज उठा। इतने में संध्या हुई। मेरी आँखों पर इधर वारुणी-राग चढ़ा, उधर भगवान सूर्य भी वारुणी-राग से लाल हुए। घनान्धकार आकाश में और मोहान्धकार जनचित्तों में छा गया। नदी-तट पर चकवा-चकई का विरह आ उमड़ा। रात्रि की वृद्धि के साथ ही साथ वन्ध्यापुत्र चरितावली की वृद्धि जगत् में होने लगी।

अट्ठारहवाँ अध्याय

हमको अधिक भोजन के कारण कुछ असुविधा-सी मालूम पड़ने लगी। एक भगत की ओढ़ाई हुई दुलाई नीचे रख कर हम खड़े हो गये। ब्रह्मनिशा के साथ वारुणी निशा की मिलावट होने के कारण मुझे यह नहीं ख्याल था कि चिरकालिक समाधि में अपना होश ठिकाने न था। अब तो दुलाई और अन्धकार दो ही लज्जा देवी की शरण थे। मैंने एक अकाण्ड ताण्डव आरम्भ किया। बस क्या था, सभी भगत-भगतिन नाचने लगे। तबतक कोलाहल हुआ कि प्रसिद्ध पतिव्रता गोबरिका देवी भगवान् के दर्शन को आ रही हैं। सब लोग अन्धेरे में ही उठ खड़े हुये। धक्कम-धुक्की करती हुई गोबरिका देवी पहुँची। मेरे श्रीचरणों के समीप आकर उन्होंने थाल आदि रखे। पूजा, अर्चा, आत्म-निवेदन, तन, मन, धन समर्पण आदि के बाद उन्होंने मेरी आरती उतारनी चाही, पर दियासलाई न थी। सती लोग चाहें तो शरीर से आग निकाल सकती हैं पर तपोव्यय के भय से पतिव्रता ने ऐसा न कर आसपास के लोगों से दियासलाई माँगी, जिस पर, पन्द्रह-बीस लाख रुपये खर्च से बने हुये जातीय स्कूल के एक छोटे दुग्धमुख बालक ने पाकेट से निकाल फुर्र से अपनी चुरुट भी जला ली और पतिव्रता को भी जलती ही दियासलाई दे दी। दियासलाई के प्रकाश से जरा-सी मेरी अद्भुत झलक लोगों को मिली थी, पर पतिव्रता के आरती उतारने के समय तो स्पष्ट ही ऐसा दर्शन हुआ कि कितने ही नये मतवाले इस दृश्य पर कुछ चकचकाये-से थे। पतिव्रतायें मुँह नीचा करने लगीं, तबतक विद्याधकूप श्रीखलनदेव शर्मा जी ने बड़े उच्चस्वर से चीत्कार किया और बोले

हे प्रियवर व प्रियवरा ! क्या कुम्भ के नागा लोगों का धार्मिक दृश्य आपलोग भूल गये ? क्या गया, काशीक्षेत्र, हरिद्वार आदि के बड़े-बड़े आनन्दान्त स्वामियों का आपको स्मरण नहीं है। आर्य सन्तानों की आज भी वही तप में श्रद्धा है, काँटों पर सोने वाले नंगे शरीर से शीत-आतप आदि में रहने वाले तपस्वियों को देख कर क्या हँसना और क्या मुँह नीचा करना। धिक्कार है आपलोगों को ! शोक, महाशोक, यदि आपलोग ऐसा करें। सब कोई बोलो 'श्री महाराज की जय'। सभी स्त्री-पुरुष मुँह ऊपर कर रोमाञ्चित हो गद्गद् स्वर से बोले 'श्री बाबा जी की जय'। छोटे बच्चे चिल्ला उठे 'सिली बाबा की जय'। आरती हुई, बाबा का प्रदक्षिण हुआ। कितने दर्शकों के पास सरते देशी हर्मोनियम, झाल, खँजड़ी आदि बाजे थे, सो बजने लगे। आरती में लोग कपूर आदि देते जाते थे। समीप ही हलवाई-मण्डी थी। वहाँ से दौड़-दौड़ कर लोग कपूर आदि लाते और फेंकते थे कि कहीं आरती बुझ जाने से फिर श्री जी अदृश्य न हो जायँ। कपूर आदि के लिए श्री लखनदेव शर्मा जी ने कहा कि चन्दा होना चाहिए जिससे आज रात भर जागरण हो। सबने चन्दा दिया। पर मगह के आसपास के एक रायबहादुर या राजाबहादुर थे, उन्होंने कहा—'मैं तो एक धेला चन्दा नहीं दूँगा। मैं खूब जानता हूँ कि स्वामी जी या पतिव्रता जी चाहेंगी तो आग कभी नहीं बुझेगी। अरे नास्तिको ! क्या तुमने नहीं सुना है कि पतिव्रतायें अपने शरीर से आग निकाल कर चिता पर पति के साथ अब भी भारत में भस्म होती हैं। और भी, नहीं सुना है कि ऋषि लोग अपने मुँह से आग निकाल कर अपनी खिचड़ी अलग पकाते थे। और, यह भी खयाल रखो कि आरती जलती भी रहे और स्वामी जी चाहें तो क्या प्राणायाम से फिर अदृश्य नहीं हो जायेंगे ?' इस पर पंजाब के एक रहस्यवादी ने कहा—'अजी ! इस समय गुरु साहब अदृश्य भी हो जायँ तो भगत जन पर कृपा कर साक्षात् निरंकार उनका रूप धारण कर जबतक हमलोग यहाँ हैं तब तक नाचते रहेंगे। फिर स्वामी जी आ जायेंगे तो हमलोग चले जायेंगे।' इस बात पर सखी भाव वाले लोग बहुत प्रसन्न हुये और अपने इष्टदेव के रूप में रामजी के आने का वृत्तांत कहने लगे। इन बातों पर लखनदेव शर्मा जी ने कहा, 'मैं तो हेतुवादी हूँ, मैं खुदा और वेद के सिवा और कुछ नहीं समझता, यह सब पौराणिक बातें मैं नहीं जानता। यह क्या हवाई किला बाँध रहे हो ? एक लात दूँगा किला टूट जायेगा ! अजी रायसाहब, पाकिट में पैसा हो तो चन्दा दो नहीं तो यहाँ से घर जाओ। हमलोग घी और कपूर का वैदिक होम करें और तुम दर्शन का मजा लूटो।' ऐसा कह कर उसने राय साहब को जो गरदनियाँ दी कि वह एक खाँ साहब की नाली में जा पड़े और वहाँ से किसी प्रकार भक्ति-बल से उठ कर कमर पकड़े हुये श्री राधे, श्री वल्लभ कहते हुये फिर जाकर उन्होंने दो पैसा चन्दा कँहरकर दिया, और अपने दीवान से बोले कि दो पैसे धर्म खाते में लिख देना। मैं तो इन तमाशों को देखता हुआ उमंग में नाचता जाता था और अँगरेजी, फारसी, हिन्दी संस्कृत, आदि में गीत गाता जाता था, एक-आध नमूने खयाल हैं, जिन्हें आपको सुनाता हूँ—

जन्मप्रभृत्यशुद्धानां निष्फलोदयकर्मणाम् ।
प्रणमान्नक्षितीशानां पादुकाभिः खचारिणाम् ॥
शैशवे विषयैच्छूनां यौवने क्लीबतायुषाम् ।
वार्द्धके परिणतूणां शौचागारे तनुत्यजाम् ॥
खलानामव्ययं वक्ष्ये महावाग्विभवोपि सन् ।
तद्दोषः कर्णमागत्य गौरवाय प्रणोदितः ॥

We are Neptunians all,
We are Oh, seven and small,
Six are under Railway lines,
I am in the black coal mines.
'Tis the latest fashion in dress
Straw-hat on the stark nakedness.
The Jogins East and ladies West,
In me you see all that's best.

भजन करु भाई भजन करु भाई ।
छारि मगरूरि भजन करु भाई ॥
यहि भजनिया से मेवा-मलाई ।
मरद-मेहरारू के सबकर भलाई ॥
श्याम वेद से ऋचा सुनाऊँ ।
पौराणों से गाऊँ ॥
तीन चरण सब कोई लगावें ।
मैं एक और लगाऊँ ॥

ऐसी ही कितनी ही भाषाओं में कितने गीत मैंने गाये। सब का मुझे आज ठीक स्मरण नहीं है। समाधि-क्रियाओं से विस्मरण-शक्ति कुछ बढ़ गई है। अन्ततः गाते-गाते मुझे कुछ उदर-शूल-सा मालूम पड़ा। अब तो सचमुच अदृश्य होने की इच्छा होने लगी। मैं वहाँ से त्रिवेणी-तट की ओर चला। पीछे-पीछे मृदंग आदि बजाते हुये भगत-भगतिन चले। अन्त में एक दुसाधिन की झोपड़ी के पास में ऐसा अदृश्य हुआ और भगत-भगतिन सब मेरे विरह में ऐसे विह्वल हुये कि मैं झाड़ी की आड़ से देखते ही देखते पतिव्रता गोबरिका देवी के हाथ से आरती की थाली छूट गई और पहिया-सी लुढ़कते-लुढ़कते झोपड़ी की फूस की दीवार से जा मिली और झोपड़ी अकस्मात् जलने लगी। सब भगत-भगतिन इस भयानक दृश्य को देख भाग चले। गोबरिका देवी अपनी आरती की थाली खोज रही थीं, इतने में ही पुलिस के पहरे वाले चिल्लाते हुये आ पहुँचे। उनका शब्द सुनते ही थाली का मोह छोड़कर वे वहाँ से भाग पड़ीं।

इस भ्रष्ट युग में समाधि लेंगे तो सतयुग में उठेंगे। हाकिम लोग तो बारह लाख वर्ष मुकद्दमा मुलतवी रखें। समाधि के वक्त मुकद्दमा करना खिलाफ मजहब व खिलाफ शाही है। थानेदार बोले—'हुजूर ने इसे कुछ खिलाया और इसने कहीं पाखाना किया तो सारे दफ्तर में अभी आग लग जायगी।' साहब ने एक की न सुनी। भीड़ हटवा कर खुद पानी का छींटा देकर मुझे होश में लाकर रोटी खिलाई व शराब पिलाई। सो मैं पाँच-सात गिलास ढाल गया। सरकारी वकील भगत हलुवासिमा M. A. L. L. B. से साहब ने राय लेकर मेरी कमजोरी देखकर एकदम छोड़ देना चाहा और कहने लगे कि ऐसे खफीफ जुर्म के लिए एक पगले के कहने पर दूसरे पगले को क्या सतावें। तब तक दो बारिस्टर, एक हिन्दू और एक मुसलमान, कुछ आपस में बातचीत कर उठे और बोले—'Your honour! मुकदमा असल में सेशन का है। हाईकोर्ट में (Reference) जाने पर इस कोर्ट की बड़ी शिकायत होगी। हुजूर सोच-विचार कर काम करें। इस कोर्ट को ऐसे मुजरिम को छोड़ने का कोई हक नहीं है। पिगल कोट के मुताबिक यह होमीसाइड और आरसन का कसूर है। हुजूर एक बात और भी है। हुजूर हाकिम हैं। हुजूर को मजहबी बातों में दखल देने का कोई हक नहीं है। मुजरिम के जुर्म को नामुमकिन समझने में सभी मजहबों पर धब्बा लगता है, खास कर हिन्दू मजहब पर इसका बहुत बड़ा असर होगा। हुजूर इस जुर्म को नामुमकिन समझना पाँचवें वेद महाभारत के खिलाफ जायेगा और पुराणों के खिलाफ जायेगा।' साहब बहुत ताज्जुब में आकर बोले—'क्या आज समूची कचहरी म पागलपन छा गया है। आपलोग क्या बोलता है, हम कुछ नहीं समझता। हम एसी बातों से टाइम खराब करना नहीं माँगता। सरकारी वकील! और कोई मुकद्दमा है?' 'Your honour एक भी नहीं' बारिस्टर लोग—'हुजूर कोई मुकदमा नहीं है, वक्त फ़जूल ही है। हमारी दो बातें हुजूर सुन लें।'

'अच्छा कहो!'

'हुजूर हिन्दू हैं। महाभारत वगैरह अपनी मजहबी किताबें हुजूर ने देखी होंगी?'

हाकिम—'हम अट्ठारह वर्ष की उम्र में विलायत गया। संस्कृत नहीं पढ़ा लेकिन दत्त और विफिथ वगरह का तर्जमा पढा हैं। मगर महाभारत व इस मुकद्दमे से क्या तअल्लुक है समझ में नहीं आता है।' इसी बीच मुझ पर बोतल का असर हुआ। मैं नाचने और गाने लगा—

> निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा—
> स्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
> नमिच्यतिच्छत्रितपापमण्डलः
> स राशिरासीत् तमसां मलोज्ज्वलः॥

> I am a Neptunian and come to see poor earth,
> How she is hypnotised in gay occult myth,
> Clairvoyance, and planchets and telepathy,
> Why telegraphy, why allopathy, why homeopathy.

सब लोग हँसने लगे । हाकिम भी हँस पड़े । बारिस्टर भी हँस पड़े । बारिस्टर लोगों ने किसी प्रकार खाँसी के द्वारा हँसी दबा कर फिर हाकिम से कहा, 'हुजूर न्यायशास्त्र में चार सबूत कहे गये है । शब्द, अनुमान, उपमान और प्रत्यक्ष । स्वामी जी के जुर्म के बारे में हुजूर के सामने चारों सबूत पेश किये जाते हैं—

(१) महाभारत के शब्दों में साफ लिखा है कि उत्तंक ऋषि ने घोड़े की दुम फूँकी थी तो पाताल में आग लग चली थी। हयवान घोड़े के बदन से आग निकली। महामहर्षि मजहबी श्री १०८ स्वामी जी के बदन से आग निकलना क्या मुश्किल है ?

(२) अनुमान से भी वही बात निकलती है । कितने ही मुल्कों में बड़े-बड़े लोग भी शौच के बाद कागज से शुद्धि कर लेते हैं मगर हिन्दू लोग लोटा भर पानी लिये जाते हैं। अगर हिन्दुओं को आग लगने की शंका न होती तो वे भी आसानी से कागज लिये जा सकते थे, खास करके बी० एन० डब्ल्यू रेलवे की गाड़ियों में जहाँ कि अकरार पानी नहीं रहता है। इससे अनुमान होता है कि हिन्दुओं को नित्य क्रिया के समय जरूर आग लगने की शंका रहती है ।

(३) इस बात के लिए उपमान प्रमाण भी है । हाल में प्रसिद्ध घुड़दौड़वाले महाराजा मँझौली और एकतादर्शन के प्रणेता महाशय खण्डेलवाल भी पायु-प्रक्षालनालय में जलकर मर गये हैं।

(४) अगर हुजूर को इन तीनों सबूतों से यकीन न हो तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया जा सकता है । अगर यहाँ स्वामी जी को जुलाब दिया जाय तो हुजूर देख ले सकते हैं कि अभी हिन्दुस्तान के लोगों के बदन से आग निकल सकती है।

इतने में ही मुझे फिर कुछ उदरशूल-सा मालूम पड़ने लगा और मैं अपनी जठर लुम्बिका पर हाथ फेरता हुआ नाचने लगा। अब तो लँगड़ सिंह के हर्ष का पारावार न रहा। वे चिल्ला उठे कि अगर भगवत्कृपा से इस वक्त श्री जी को दस्त आ जाय तो हाकिम लोगों को यकीन हो जायगा कि महात्माओं में कितनी ताकत है। इस पर हाकिम की ओर से हुक्म हुआ, 'हम दफ्तर में गड़बड़ नहीं माँगता । चपरासी ! लँगड़ सिंह को और स्वामी जी को यहाँ से बाहर ले जाओ' । लँगड़ सिंह मेरे साथ कचहरी से बाहर हुए और सलाह हुई कि जब हाकिम बाइसिकल पर कचहरी से बँगले जाते रहेंगे तब सड़क के नीचे किसी खरपात के समूह के पास में प्रातः-क्रिया करता रहूँगा । खरपात में मेरी प्रातः-क्रिया से आग लगती हुई देखकर खुद ही हाकिम को अपनी भूलों पर पछतावा होगा।

'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', काशी (१६१२–१३ ई०)

काना-वर्करीयम्

(खण्डकाव्यम्)

प्रथम : सर्गः

ब्रह्मचारी बोले—

मैं काना ब्रह्मचारी हूँ राम राम हरे हरे।
कौन हो आप स्वामी जी घास खाते हरे हरे ॥१॥

श्री स्वामी वर्करानन्द जी बोले—

वर्करानन्द हूँ भैया नमस्ते भगवत्सदा।
सफेद बर्करी मेरी पोटा सुभग पंशदा ॥२॥
मुद्गरानन्द का दादा हूँ भेकानन्द का पिता
कहिये जी रहे कैसे परा विज्ञानतापिता ? ॥३॥

ह्मचारी जी बोले—

विज्ञान की कथा कैसी श्रीकृष्णः शरणं मम।
हिन्दुस्थान शिरोरत्नं भाई जी चरणं मम ॥४॥
शरीर यह विमान है यही कुलाभिमान है।
जरा दबाय नाक को चलो महेन्द्र नाक को ॥५॥
विज्ञान है अधूरा ही धूरा में मिलाय दे।
अज्ञान की कथा पूरी पूरी-लड्डू खिलाय दे ॥६॥
नासिका है यही चिम्नी नेती-धोती कराय के।
खूब ठीक रखो इसको मुताबिक योगराय के ॥७॥
ऐसी चिम्नी विलाती क्या श्रीप्रयाग-प्रदर्शनी।
पुराने योगियों की थी चिम्नी जो योगदर्शनी ॥८॥
मुछंदर शाह जी जो था श्री श्री गोरख का गुरु।
रहस्य इस चिम्नी का उसने देखा शुरू-शुरू ॥९॥
रेल-तार-विमानादि मानादि सब छोड़ के।
लेंगे हिन्दू हमारे क्या मारे क्या कुलगर्व के ॥१०॥
उड़ना तीर्थ सिखाऊँगा खाऊँगा हलवा-पुरी।
इस देश को मलाऊँगा खाऊँगा धन खूब जी ॥११॥
सारा जगत् हमारा ही रहा और रहा करे।
सोहमस्मि, शएयाहं मेषाह माता राता करे ॥१२॥

श्री वर्करानन्द जी बोले—

जब तक न कुछ दिखा सको हमको भी कुछ सिखा सको।
तब तक बात क्या कहो देखेंगे हम बना सको ॥१३॥
अब कुछ दिखाइये श्रीजी भोंगी दाढ़ी हिलाय के।
आया शरण में तेरी छेरी से अकुलाय के ॥१४॥

ब्रह्मचारी जी बोले—

छेरी से अकुलाते क्यों लाते क्यों दुःख पेट में।
उड़कर अभी दिखाता हूँ इसी संक्षिप्त भेंट में ॥१५॥
ऐसी काना ब्रह्मचारी महात्मा की बातें सुन वर्करानन्द जी ने।
पीले दाँत खोलकर मस्तक हिलाया जात-जाते शर्कराकन्द पीने ॥

इति श्री कानाब्रह्मचारीये खण्डकाव्ये चिम्मी बहारः प्रथमः।

(पाटलिपुत्र; वर्ष १, अंक१; ता० २७ जन १९१४ ई०)

द्वितीयः सर्गः

भंग के साथ गुलकन्द पी कर जरा
वर्करानन्द जी सिद्ध जी से मिले।
सिद्ध काना महात्मा उन्हें देख के
चिद्ध-सा हो गया चित्त में हर्ष से ॥१॥

वर्करानन्द जी बोले—

भो नमस्ते नमस्ते नमस्ते मुने
मस्त जो आपने पन्थ सस्ते चुने।
चिम्निका आपकी कीर्ति-विस्तारिका
है यही सिद्ध जी देश की तारिका ॥२॥
आप कैसे उड़ेंगे अजी सिद्ध जी
गिद्ध जी के नहीं पंख हैं आपके।
बाप के तुल्य बेटा सदा दीखता
हस्ति हिला नहीं कूकुरा सीखता ॥३॥

ब्रह्मचारी जी बोले—

बाप की क्या कथा मैं नहीं बाप से
मैं हुआ ईश से ईश में जी रहा।
मैं उड़ा था अभी सेठ जी के यहाँ.
ज्योतिषी भी कई थे यहाँ देखते ॥४॥

मैं उड़ गा अभी आपके देखते
देखते वर्करानन्द जी क्या कहूँ।
बात ऐसी बना कर गये सिद्ध जी
कोठरी में जहाँ झोलिका एक थी ॥५॥

ब्रह्मचारी जी बोले—

योगपट्टादि मेरे इसी में पड़
झोलिका एक जो है यहाँ पर टंगी।
यष्टिका योग की एक कोने पड़ी
और कुछ तो नहीं देख लोजी अभी ॥६॥

वर्करानन्द जी बोले—

झोलिका, यष्टिका के सिवा कुछ नहीं
कोठरी में कहीं दीखता सिद्ध जी।
नाक चिम्नी दबा कर अजी मस्त जी
कोठरी में उड़ो होय जै धर्म की ॥७॥

ब्रह्मचारी जी बोले—

शब्द आता नहीं, पौन आती नहीं
इस तरह की गुफामें उड़े थे ऋषी।
कोठरी बन्द कर मैं अभी उड़ चला
आप देखें किसी रन्ध्र से भक्त जी ॥८॥

❀ ❀ ❀

कोठरी बन्द करते अँधेरा हुआ
वर्करानन्द जी द्वार से जा लगे॥
सोचते थे खड़े रन्ध्र से अर्थ क्या
हो सके देह का या कहीं द्वार का ॥६॥

जब किसी रन्ध्र से देह के कुछ नहीं
सूझता कोठरी में तदा नेत्र को।
द्वार के रन्ध्र में साट कर चुप खड़े
वर्करानन्द जी सिद्ध को देखते ॥१०॥

देखते-देखते कोठरी में उठा
सिद्ध काना महात्मा पिटारा यथा।
सोचते वर्करानन्द जी जय हुआ
धत्र काला महानास्तिकों का भला ॥११॥

कभी गिरता कभी पड़ता कभी ऊपर खिसकता था
महात्मा ब्रह्मचारी जी न उसके पैर थे भू में ॥१२॥

लड़े चुपके किवाड़ी म रहे बकरा महात्मा जी

इसी में जा लगे श्री जी घरन में कोठ ी जी की ।।१३।।

पांच फुट क ब्रह्मचारी भूमि से फुट ग्यारहाँ

पर कोठरी की थी धरन कैसे लगे श्री जी वहाँ।

ऐसे प्रपंचे में पड़े श्री वर्करानन्द खड़े

श्री मुद्गरानन्दर्षि इनके पीछ इसमें आ पड़े ।।१४।।

इति श्री कानावर्करीये खण्डकाव्ये कोठरीकेलिर्नाम द्वितीयः सर्गः।

धर्म और शिक्षा

इस बात में प्रायः किसी को विवाद नहीं होगा कि सत्य बोलना, क्रोध न करना इत्यादि आचार की बातें बड़े गौरव की है और असत्य आदि अनाचारों से बड़ी हानि है। खाना-पीना कपड़ा-लत्ता आदि चाहे कैसा भी उन्नत हो, जबतक मन शुद्ध न हो सब कुछ व्यर्थ है। अब प्रश्न यह उठता है कि मन में अशुद्धियाँ क्यों आती हैं, आचार का भ्रंश क्यों होता है? थोड़े ही विचार से उत्तर भी निकल आता है। अज्ञान और दारिद्र्य साक्षात् या परम्परया मन को बिगाड़ते हैं। जिसको आग का ठीक ज्ञान नहीं है वह आग छू कर जलता है, या जिसके पास लालटेन का पैसा नहीं है वह चिराग बालकर काम चलाता है और लालटेन वाले से अधिक आग लगने के धोखे में पड़ा रहता है।

यही हाल धर्म का है। जिसे धर्म का ज्ञान नहीं है और यह समझता है कि हम चाहे कितना भी अधर्म करें एक बार किसी नाम के जपने से ही शुद्धि हो जायगी उस आदमी को अधर्म करते क्या लगता है? जो धर्म का तत्त्व कुछ समझता भी है और सात रोज का भूखा है वह दूसरों की हानि करने से नहीं बाज आता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि अपने आपको तथा अपने पड़ोसियों को ज्ञान देने का यत्न करे। चावल के लिए दो-चार भाषाओं के शब्द जान लेना ही ज्ञान नहीं है। चावल कैसे बनता है और चावल में क्या-क्या सत्त्व हैं, इस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। ऐसे ज्ञान को लोग धर्म का मुख्य अंग मानते हैं।

देखिए कि दस धर्मों में बुद्धिमानी और विद्या को भी मनु ने धर्म कहा है। विशेष करके कारणता का ज्ञान किए बिना मनुष्य अनेक अनर्थों में पड़ा रहता है—रोग छूटने के लिए स्तोत्र पढ़ने लगता है और मुकदमा जीतने के लिए इबादत करने लगता है। चिरैता-चिरैता जपने से कभी बुखार नहीं छूटता, न केवल शब्द से जिह्वा थकाने के अतिरिक्त कोई विशेष फल होता है। शब्द के अनुसार समझकर कार्य करने से फल होता है।

बात यह बहुत स्पष्ट है, पर इधर बहुतेरों का खयाल अभी नहीं आया है; अभी किस कारण से क्या कार्य होता है इसका ज्ञान जनता में न है और न जनता में इसके प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा है। न्याय की छोटी पुस्तिकाओं में तथा योरपीय लॉजिक में एवं बौद्ध-जैन आदि के ग्रंथों में कार्य-कारण भाव पर बहुत कुछ विचार किया गया है। न्यायवालों ने कहा है कि गधा बँधे रहने पर भी घट बनता है, जहाँ गधा नहीं रहता वहाँ भी घट बनता है और कितने ही स्थानों में गधा रहने पर भी घट नहीं बनता। इसलिए नैयायिक लोग गधे को घटोत्पत्ति का कारण नहीं कहते। इस उदाहरण

का बहुत प्रचार तो नहीं पाया जाता पर बहुत-से अँगरेजी-संस्कृत आदि के विद्वान् इस बात को जानते हैं। तथापि बड़े-बड़े पंडितों और वकील-बैरिस्टरों को यात्रा पर काना तेली देखने से घबराते हुए हमने पाया है। क्या इन लोगों ने अपने लॉजिक का प्राइमर या मुक्तावली बेचारे तेली पर कभी लगाई है? कभी सोचा है कि शकुन नहीं माननेवाले भी कितने ही लोग अच्छी दशा में हैं? और कितने शकुन माननेवाले भी बुरी दशा में हैं? ऐसी हालत में शकुन क्यों माना जाय और क्यों हमलोग इस झंझट में पड़ रहें?

यदि इतनी बात भी समझ में न आई तो वादान्त न्याय या फिलासफी के एम्० ए० होने का क्या फल हुआ? धार्मिक उन्नति सभी उन्नतियों का मूल है। भ्रमयुक्त मन से धार्मिक उन्नति कभी नहीं हो सकती। भ्रम हटाने के लिए हमारे पूर्वजों ने अनेक उपाय किये पर मौलिक भ्रम को, जिसे हम कार्यकारण भाव का भ्रम कहते हैं, हटाने का यत्न ऋषियों की तरफ से बहुत कुछ होने पर भी दो-चार समझदार भी इस बात का जनता में प्रचार नहीं कर रहे हैं। इसलिए जनता बेचारी को यदि कोई तावीज दे दे और कहे कि इसके पहनने से पानी में नहीं डूबोगे तो ऐसी बात की मूर्खता उसे नहीं सूझती। परीक्षा का प्रकार तो यों है—या तो हमें यह देख लेना चाहिए कि तावीज क्या कोई तूमा है कि आदमी को उतराये रखेगा? या पहनने से प्रतीत न हो तो तैरना न जाननेवाले और तरने का साधन तूमा आदि न रखते हुए दो मनुष्यों को बारी-बारी बेतावीज के और फिर तावीज के साथ पानी में डालना चाहिए। अगर तावीज के साथ दोनों में से कोई न डूबे और बेतावीज दोनों ही डूबने लगें तभी समझना चाहिए कि तावीज में कुछ प्रताप है। पंजाब मेल प्रातःकाल बाँकीपुर आती है। कितने ही वर्षों से देखा जा रहा है कि इसके आगमन के साथ प्रायः सभी प्रातःक्रिया में लग जाते हैं। क्या इससे यह समझा जाय कि पंजाब मेल का बाँकीपुर में आना दस्तावर है?

हमें कार्यकारण-भाव से बहिर्भूत बाह्य आडम्बरों को छोड़कर सच्ची धर्मभक्ति से उन्नति की अभिलाषा रखनी चाहिए। ऐसी धर्मभक्ति कठिन है। किसी की कृपा पर निर्भर नहीं है; अपने उद्योग भर अवलम्बित है। तथापि उन्नति का एकमात्र यही उपाय है।

पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन

प्रायः सभ्यता की तीन अवस्थाएँ हुई हैं—प्राचीन, मध्यम और नवीन। इसी के अनुसार दर्शन की भी तीन दशायें हैं। भगवान् कपिल ने प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा है। सत्व—ज्ञानात्मक; रजः—कार्यात्मक और तमः—मोहात्मक; ये तीन गुण है। प्रकृति का ही परिणाम बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका है। मनुष्य हजार यत्न करे, बुद्धि के अनुसार ही कार्य-कल्पना आदि उसकी होगी। इसीलिए आदि मुनि कपिल से लेकर कान्त, हेगल आदि आधुनिक दार्शनिकों तक सभी की कल्पनायें त्रिगुणात्मक हुई हैं। तीन गुण सदा वर्तमान हैं तथापि प्रधानता किसी एक ही की एक काल में होती है।

प्राचीन सभ्यता और प्राचीन दर्शन सत्त्वप्रधान है। मध्यम सभ्यता और मध्यम दर्शन तमः प्रधान है। आधुनिक सभ्यता और आधुनिक दर्शन रजः प्रधान है। अति प्राचीन वैदिक समयों से लेकर जगदेकवीर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय तक या अन्ततः श्री हर्षवर्द्धनदेव के समय तक प्राचीन सभ्यता का समय है। भगवान् कृष्ण और बुद्धदेव इस समय के नेता है। दोनों ही सत्त्वप्रधान दार्शनिक थे। ज्ञानप्रचार के लिए इनका जीवन था। क्रिया—सुख-दुःख आदि इनके ज्ञानोद्देश्यक थे। पूर्व में भारतवर्ष एक पुश्त और पश्चिम में मिस्र, असुर, पारस, यवन, रोम चार-पांच पुश्त इस विस्तृत समय में बीते; परन्तु-प्रधानता इस समय ज्ञानप्रधान भारत की ही रही—यहाँ तक कि इस समय के रजोगुण का नायक अलीकचन्द्र या उसका दायाद शल्यक भी भारत पर आधिपत्य नहीं कर सका। चिरकालिक सत्त्व-विकास का अब ह्रास हो चला और हठात् हूण, गोथ आदि वन्य जातियों ने भारतीय और रोमक सभ्यता को खा लिया। तब से तमः प्रधान मध्यम समय चला। प्रायः पन्द्रहवी शताब्दी में इस मध्यम समय का नाश होने लगा और रजः प्रधान नवीन युग का आविर्भाव हुआ। इस नवीन युग में विज्ञान का प्राधान्य है, कार्य खूब हो रहा है; पर कान्त आदि कुछ दार्शनिकों के होते भी ज्ञान-माहात्म्य और निःस्वार्थता का ह्रास होता जा रहा है। सात्त्विक सभ्यता उपकारमयी होती है, तामस सभ्यता मोहमयी होती है और राजस सभ्यता दुःखमयी होती है। जब तक जिस देश में सत्त्व का आधिपत्य रहेगा, तबतक उस देश में दुःख और मोह की बाधा नहीं होती।

ज्ञानप्रधान प्राचीन सभ्यता में प्रायः जितनी दार्शनिक कल्पनायें हो सकती हैं सभी का अविर्भाव हुआ। छः आस्तिक और छः नास्तिक दर्शन इसी समय हुए। आज देशान्तरों में अनेक दार्शनिकों का जन्म होने पर भी कोई अद्भुत नवीन दार्शनिक कल्पना नहीं निकली। आज भी दर्शन, व्याकरण और साहित्य में भारत सबसे बढ़ा हुआ है। गणित और वैद्यक में इसे उच्च स्थान मिला है; केवल यन्त्रादि विज्ञान में ही वैदेशिक लोग इससे बढ़े हैं। अभी भी सत्त्व भीतर ही भीतर भारत में पूर्वजों से इतना संचित है कि थोड़े ही जागरण में न जाने किस दिन एकाएक ज्ञान-विज्ञान बाहर उमड़ पड़ेगा और

संसार को चकित करेगा। चार्वाक, चार प्रकार के बौद्ध अर्थात् माध्यमिक, योगाचार सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक और जैन—इनके दर्शन नास्तिक दर्शन समझे जाते हैं। न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त ये छः प्रधान आस्तिक दर्शन हैं। जो वस्तु है, उसको स्वीकार न करनेवाले नास्तिक हैं। जो वस्तु है, उसको स्वीकार करनेवाले आस्तिक हैं। ब्रह्म सद्वस्तु है। वेदान्त ने इस सद्वस्तु को सर्वांश से स्वीकार किया और आस्तिक दर्शनों ने इसके एक-एक अंश से अपना काम चलाया, पर ब्रह्मसत्ता का निषेध नहीं किया। इसलिए ये आस्तिक कहे गये। जिन लोगों ने ब्रह्मसत्ता एकदम न समझी, वे नास्तिक कहे गये। वैदेशिक दर्शनों में भी प्रायः ब्रह्मपरिचय केवल एकाध ही महात्मा को हुआ; इसलिए वे भी चार्वाक-बौद्ध-जैन आदि कल्पनाओं में ही घूमते रह गये। यह बात बारह दर्शनों का संक्षिप्त तत्त्व जानने ही से स्पष्ट होगी; इसलिए यहाँ इन दर्शनों के रहस्य संक्षेप से प्रकाशित किये जाते हैं।

चार्वाक लोगों ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। राजा को इन लोगों ने परमेश्वर कहा है। स्त्री-सुख आदि को स्वर्ग और काँटा आदि लगने से दुःख को नरक कहा है। इन लोगों ने समझा था कि अनुमान से परलोक-आत्मा आदि की सिद्धि होगी। जब अनुमान ही नहीं तो लोग इन वस्तुओं को कैसे सिद्ध कर सकेंगे ! इन लोगों ने वेदों को भण्डधूर्त और राक्षसों का बनाया बतलाया है, क्योंकि यज्ञों में पशुहिंसा तथा अनेक अश्लील विधियों आदि का उल्लेख है। इनके मत से पृथ्वी, जल, तेज और वायु चार तत्त्व हैं। इन्हीं के योग से आत्मा या चेतना की उत्पत्ति होती है। इसीलिए चार्वाक देहात्मक ही कहे जाते हैं। इन लोगों ने समझा था कि संसार में इन्हीं का मत अधिक है; इसलिए ये अपने को लोकमत भी कहते हैं। कितने ही दार्शनिक जल से, कितने ही अग्नि से, कितने ही वायु से और सभी वस्तुओं की उत्पत्ति मानते हैं। ये यवन दार्शनिक थलीज, अनक्षिमन्द्र, अनक्षिमणि आदि प्रायः चार्वाक-तुल्य हैं।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाकों ने यह नहीं समझा कि यदि अनुमान नहीं मानेंगे, तो जिस स्वर्ग आदि वस्तुजात का खण्डन करना है, उसका खण्डन ही कैसे हो सकेगा; कोई कैसी ही असंगत प्रतिज्ञा कर कह बैठेगा कि मैंने इस बात को देखा है। अनुमानवादी तो एक वृक्ष और एक अग्निकण का स्वभाव देख कर अनुमान कर सकता है, कि किसी काल में किसी देश में आग से वृक्ष सेंका नहीं हो सकता। पर चार्वाक ने तो सब आग और सब वृक्ष नहीं देखा है, फिर वह ऐसी बातों का कैसे खण्डन कर सकता; और जब चार्वाक अनुमान नहीं मानता है तो आग में हाथ क्यों नहीं जलता? एक बार हाथ जलने पर भी फिर वैसा ही होगा, यह तो चार्वाक के अनुसार अनुमान किया नहीं जा सकता; ऐसी अवस्था में उसे बारंबार आग में हाथ डाल कर प्रत्यक्ष अग्निस्पर्श का फल देखते रहना चाहिए; कदाचित् ठण्डा करनेवाली आग, नाक से हाथी निकालनेवाले मनुष्य और पीठ से भर्सर पकड़नेवाले महात्मा कहीं मिल ही जायें। चार्वाक को सदा सत्तू बाँधकर ऐसी चीजों की खोज में घूमना चाहिए या कम से कम चुपचाप घर बैठ रहना चाहिए,

कदाचित् चुप बैठने ही से धन आदि मिल जाये । उद्योग से धन होता है, इत्यादि व्याप्तिग्रह तो उसे हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त यह भी चार्वाकों से पूछा जाता है, कि उनके अनुसार यदि अनुमान प्रमाण ही नहीं, तो उन्हें यह व्याप्ति कैसे विदित हुई कि अनुमान प्रमाण नहीं। जैसे सब आग और सब धुआँ न देखने से वे कहते हैं, कि धुएँ से अग्नि का अनुमान ठीक नहीं, वैसे ही सब लोगों के सब अनुमानों का ज्ञान तो चार्वाकों को है नहीं; फिर वे कैसे कह सकते है कि अनुमान प्रमाण नहीं। इसी प्रकार चार्वाकों की और भी बातें हमारे दार्शनिकों को पसन्द न आईं। जबकि राजा से रंक तक सभी धर्म के अधीन हैं, धर्म से स्थिति और अधर्म से सब का नाश नृग-नहुष-वेन आदि के समय ही से देखा जा रहा है, तब किसी पुरुष को परमेश्वर कैसे कहा जा सकता है ? स्त्री-सुख आदि ही यदि स्वर्ग होता और कण्टकवेध आदिकृत दुःख ही यदि नरक होता, तो सब सुख छोड़ अनेक दुःखों को झेल सर्वोपकार में लोग कैसे लगते। अपने समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान के आकर वेद में दोष लगा कर छोड़ देना वैसा है, मानों मूत्रपुरीष आदि का सम्बन्ध देखकर गुरु, पिता, माता आदि का त्याग करना है। हिंसा के लिए वेद की निन्दा नहीं की जा सकती; क्योंकि परोपकारमय यज्ञ के लिए वैदिक हिंसा है। जैसे मनुष्य मात्र की रक्षा के लिए चोर, हत्यारे आदि को पीड़ा दी जाती है, वैसे ही याज्ञिकों ने पशुवध केवल जगद्रक्षार्थ चलाया है, न कि व्यक्तिविशेष के स्वार्थ के लिए। पृथक्स्थित दो वस्तुओं के बीच प्रत्यक्ष प्रकाशमय आकाश को न मानना तो स्वमत-विरुद्ध था। प्रत्यक्ष भी ज्ञानस्वरूप है। प्रत्यक्ष को ही सबका मूल बताकर फिर भी ज्ञानस्वरूप आत्मा को अचेतनों के योग से उत्पन्न बताना भी व्याहत है। ज्ञान के अधीन सब बातें हैं। ज्ञानरहित स्वतंत्र अचेतन वस्तुओं की तो सत्ता भी नहीं सिद्ध हो सकती; इसलिए अचेतनों के योग से आत्मा की उत्पत्ति की सिद्धि के लिए यत्न सर्वथा व्यर्थ हुआ। लोक में तो सदा के लिए वैदिक धर्म का प्राधान्य और विजय हुआ है; इसलिए चार्वाकों का अपने को लोकायत्त कहना भी निर्मूल अभिमानमात्र था।

बाह्यवस्तुमूलक ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञानाधीन बाह्यवस्तुसत्ता है। वस्तुतः विषय और विषयी अर्थात् परमात्मा मानो जाननेवाला और जानी जाती हुई चीज दोनों ही चिद्रूपिणी विद्युत् के दो भेद हैं। जैसे विद्युद्दण्ड को जहाँ से तोड़िये, विधिनिषेधात्मक दो भेद निकल आते हैं, उसी प्रकार ज्ञान की सूक्ष्म से सूक्ष्म मात्रा लीजिये, विषय और विषयी दोनों उसमें वर्त्तमान हैं। इस दार्शनिक रहस्य को हमारे यहाँ वृद्ध बादरायण आदि आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही समझ चुके थे। पश्चिम के लोगों में केवल हाल में इसका कुछ पता लगा है। सुक्रतु, प्रतनु, अरिस्टोतर आदि यवन दार्शनिकों को जरा-सी इस ब्रह्म की मन्द झलक मिली थी, कि पश्चिम में प्रायः दो हजार वर्ष के लिये ब्रह्मास्त-सा हो गया। हमारे यहाँ भगवान् कृष्ण को पूर्ण ब्रह्मज्ञान था; जिससे वे स्वयं ब्रह्मस्वरूप कहे जाते हैं। बौद्धों ने प्रत्यक्ष, अनुमान दो प्रमाण माने तथा ज्ञानाधीन सब माना। पर इस ज्ञान को विज्ञान, विशेषज्ञान या क्षणिक ज्ञान समझा।

बौद्धों ने विज्ञान में सब बाह्यवस्तु रखना चाहा; पर काल भागकर बौद्धविज्ञान से बाहर निकल खड़ा हुआ, जैसे आधुनिक समयों में कान्त के विज्ञान से स्वलक्षणसत्ता बाहर निकल खड़ी हुई है। कालस्वलक्षण आदि कोई भी वस्तु ज्ञान से स्वतंत्र नहीं; इसलिए ज्ञानस्वरूप ब्रह्म दिक्कालानवच्छिन्न क्या सर्वात्मक है, इस बात का पूर्ण परिचय पहले-पहल भगवान् कृष्ण और उनके बाद भगवान् बादरायण तदनन्तर और पारमार्थिकों को देश-विदेश में हुआ है। एक तो बिना प्रमाण ही विज्ञान को कालावच्छिन्न समझना तथा शब्दप्रमाण को स्थान देना बौद्धों का मुख्य दोष था, जिससे भारतीयों ने चिरकाल के लिए बौद्धधर्म को स्थान नहीं दिया। शंकर भगवान् ने समझाया है कि वस्तुतंत्र बातों का अर्थात् 'क्या है, क्या नहीं', 'क्या था, क्या नहीं था', 'क्या होगा, क्या नहीं होगा' इन विषयों का समझाना अनुमानाधीन है; इसीलिए ब्रह्म-विद्या को आचार्य ने अनुभवावसान कहा है। उपनिषदों में भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीन उपाय कहकर अनुभवस्वरूप निदिध्यासन ही में पर्यवसान कहा है। पर पुरुषतन्त्रविषय यानी क़ानूनी विषयों में अर्थात् दूसरों के भय से या दूसरों की प्रीति के लिए क्या करना चाहिए, इस विषय में शब्दप्रमाण है। बौद्धलोग भी मातरिपितरि शुश्रूषा का आदर करते हैं। ऐसी अवस्था में आज्ञात्मक शब्द का प्रमाण न मानना बड़ा दोष था। पर ज्ञान-दृष्टिता अपूर्ण होने पर भी बौद्धों का यह मुख्य गुण था कि अप्रामाणिक, कारुणिक सृष्टिकर्त्ता आदि की कल्पना इन्होंने नहीं की थी। इसलिए भगवान् सिद्धार्थ गौतमबुद्ध शाक्य मुनि को भारतीयों ने श्रीकृष्णचन्द्र जी के अवतार माना। गुणग्रहण इसीको कहते हैं। भगवान् बुद्ध को अवतार कहते हुए भी सुखदुःखमोहस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृतिवादी कपिल का स्मरण रखते हुए भारतीयों ने जगत् को केवल दुःखमय समझना और समाजरक्षा का खयाल कर अत्यन्त अहिंसा आदि में पड़ना अपना कृत्य नहीं माना और अन्ततः बौद्धलोग भी भारतीयों से भी अधिक हिंसाप्रिय चीन आदि देशों में जा मिले। ब्रह्मस्वरूपिणी प्रकृति की उत्तम से उत्तम मनुष्य-वस्तु की रक्षा के लिए जो उचित हो वही सदा भारतीयों के लिए स्वीकृत रहा।

प्राचीन समयों में जैनधर्म भी जगद्व्यवहारविरुद्ध होने के ही कारण भारतीयों को अत्यन्त दुर्बल जान पड़ा और जैनों का प्रमाणविरुद्ध आलोकाकाश सर्वसंशयवाद आदि भी हमें स्वीकृत नहीं हुआ। पर हाल में कुछ लोगों ने केवल बाहरी खानपान आदि की सभ्यता देखकर जैनों को अपने में मिला लिया है तथापि ये बौद्धों से अब भी अलग हैं। परमेश्वर परब्रह्म सर्वात्मा को न मानकर चौबीस या और अधिक मनुष्यों को सर्वज्ञ मान लेना जैनों का बड़ा भारी दोष भारत के दार्शनिकों ने समझा। जो कुछ ज्ञान था या है या हो सकता है, सो विराट् ब्रह्म का है, जो शक्तियाँ हैं सो उसकी हैं, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है, जैसा कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस उपनिषद्वाक्य ने कहा है। ब्रह्मातिरिक्त न तो कोई वस्तु है न उसकी कोई शक्ति। जो जीव जिनबुद्ध से लेकर चींटी तक उत्पन्न और विलीन होते हैं सो एक-एक इस ब्रह्ममहा-समुद्र के बुद्बुद हैं। जैसे अवकाशगगनव्यापिनी विद्युत् या तत्सदृश ताप का जहाँ-तहाँ

कदाचित् चुप बैठने ही से धन आदि मिल जाये । उद्योग से धन होता है, इत्यादि व्याप्तिग्रह तो उसे हो ही नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह भी चार्वाकों से पूछा जाता है, कि उनके अनुसार यदि अनुमान प्रमाण ही नहीं, तो उन्हें यह व्याप्ति कैसे विदित हुई कि अनुमान प्रमाण नहीं । जैसे सब आग और सब धुआँ न देखने से वे कहते हैं, कि धुएँ से अग्नि का अनुमान ठीक नहीं, वैसे ही सब लोगों के सब अनुमानों का ज्ञान तो चार्वाकों को है नहीं; फिर वे कैसे कह सकते हैं कि अनुमान प्रमाण नहीं । इसी प्रकार चार्वाकों की और भी बातें हमारे दार्शनिकों को पसन्द न आईं । जबकि राजा से रंक तक सभी धर्म के अधीन हैं, धर्म से स्थिति और अधर्म से सब का नाश नृग-नहुष-वेन आदि के समय ही से देखा जा रहा है, तब किसी पुरुष को परमेश्वर कैसे कहा जा सकता है ? स्त्री-सुख आदि ही यदि स्वर्ग होता और कण्टकवेध आदिकृत दुःख ही यदि नरक होता, तो सब सुख छोड़ अनेक दुःखों को झेल सर्वोपकार में लोग कैसे लगते । अपने समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान के आकर वेद में दोष लगा कर छोड़ देना यथा है, मानों मूत्रपुरीष आदि का सम्बन्ध देखकर गुरु, पिता, माता आदि का त्याग करना है । हिंसा के लिए वेद की निन्दा नहीं की जा सकती; क्योंकि परोपकारमय यज्ञ के लिए वैदिक हिंसा है । जैसे मनुष्य मात्र की रक्षा के लिए चोर, हत्यारे आदि को पीड़ा दी जाती है, वैसे ही याज्ञिकों ने पशुवध केवल जगद्रक्षार्थ चलाया है, न कि व्यक्तिविशेष के स्वार्थ के लिए । पृथक्स्थित दो वस्तुओं के बीच प्रत्यक्ष प्रकाशमय आकाश को न मानना तो स्वमत-विरुद्ध था । प्रत्यक्ष भी ज्ञानस्वरूप है । प्रत्यक्ष को ही सबका मूल बताकर फिर भी ज्ञानस्वरूप आत्मा को अचेतनों के योग से उत्पन्न बताना भी व्याहत है । ज्ञान के अधीन सब बातें हैं । ज्ञानरहित स्वतंत्र अचेतन वस्तुओं की तो सत्ता भी नहीं सिद्ध हो सकती; इसलिए अचेतनों के योग से आत्मा की उत्पत्ति की सिद्धि के लिए यत्न सर्वथा व्यर्थ हुआ । लोक में तो सदा के लिए वैदिक धर्म का प्राधान्य और विजय हुआ है; इसलिए चार्वाकों का अपने को लोकायत्त कहना भी निर्मूल अभिमानमात्र था ।

बाह्यवस्तुमूलक ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञानाधीन बाह्यवस्तुसत्ता है । वस्तुतः विषय और विषयी अर्थात् परमात्मा यानी जाननेवाला और जानी जाती हुई चीज दोनों ही चिद्रूपिणी विद्युत् के दो भेद हैं । जैसे विद्युद्दण्ड को जहाँ से तोड़िये, विधिनिषेधात्मक दो भेद निकल आते हैं, उसी प्रकार ज्ञान को सूक्ष्म से सूक्ष्म मात्रा लीजिये, विषय और विषयी दोनों उसमें वर्त्तमान हैं । इस दार्शनिक रहस्य को हमारे यहाँ वृद्ध बादरायण आदि आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही समझ चुके थे । पश्चिम के लोगों में केवल हाल में इसका कुछ पता लगा है । सुकृत्, प्लतन्, अरिस्टोतल आदि यवन दार्शनिकों को जरा-सी इस ब्रह्म की मन्द झलक मिली थी, कि पश्चिम में प्रायः दो हजार वर्ष के लिये पद्मासन-सा हो गया । हमारे यहाँ भगवान् कृष्ण को पूर्ण ब्रह्मज्ञान था; जिससे वे स्वयं ब्रह्मस्वरूप कहे जाते हैं । बौद्धों ने प्रत्यक्ष, अनुमान दो प्रमाण माने तथा ज्ञानाधीन सब माना । पर इस ज्ञान को विज्ञान, विशेषज्ञान या क्षणिक ज्ञान समझा ।

में जमिनि का नाम है और जैमिनीय मीमांसासूत्रों में बादरायण का। इससे जान पड़ता है कि दोनों प्रायः एक समय के थे। जैमिनि ने कर्मपरक वेदवाक्यों के अर्थ समझने के नियम निकाले थे। बादरायण को तथा सभी दार्शनिकों को, वाक्यार्थबोध के नियम अभिमत ही थे। मीमांसकों से केवल इतनी बात पटा लेनी थी, कि यज्ञादि क्रिया में जैसे शब्दातिरिक्त और कोई साधन नहीं, वैसी बात ब्रह्मज्ञान में नहीं। ब्रह्मविद्या में अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान का प्राधान्य है।

श्रवणमात्र शब्द से होता है। जो बात सुनी गई, उसका अनुमान से मनन करना चाहिए और आनुभविक युक्तियों से मनन करने के बाद यदि श्रुत वस्तु सम्भावित हो, तो उसका निदिध्यासन अर्थात् प्रत्यक्षानुभव कर लेना चाहिए पर्वत में अग्नि है, यह सुनकर विश्वास कर लेना उचित नहीं, अनुमान करना चाहिए। अर्थात् धूम आदि हेतु के द्वारा समझना चाहिए कि यहाँ अग्नि सम्भव है या नहीं और फिर सम्भव हो तो प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए। कर्मकाण्ड में यह बात नहीं। वस्तु पुरुषाधीन नहीं; पर क्रिया पुरुषाधीन है। करनेवाला करे तो क्रिया उत्पन्न हो, क्रिया से स्वर्ग होगा या नहीं, इसका अनुभव नहीं। यही बड़ा भेद मीमांसा और वेदान्त के विषयों में है। इन भेदों को सामने रखते हुए बादरायण ने और वादियों की परीक्षा आरंभ की। उन समयों में सांख्यवाले बड़े प्रचंड थे। इन्हें युक्तियों का बड़ा बल था और आदि महर्षि कपिल की स्मृति पर बड़ा भरोसा था। अचेतन प्रकृति से चेतन जीव की उत्पत्ति तो प्रमाण-विरुद्ध दिखला कर प्रकृति पुरुष ो अत्यन्त विविक्त वस्तु मानने का आग्रह सांख्यवालों से हटाने की चेष्टा की गई एवं अन्य स्मृतियों से विरोध दिखा कर स्मृति-विरोध-दोष का परिहार किया गया। योग से भी चित्त-संस्कार केवल माना गया, योग दर्शन की ईश्वर-कल्पना आदि सांख्यनिबर्हण ही में गतार्थ हुई। वस्तुतः प्रकृति और पुरुष विविक्त हैं। इनमें परस्पर अभेद या सम्बंध अविद्याकृत है। यह सांख्य योगवालों की उक्ति अब हटाई गई। बड़े प्रपंच से इस सिद्धान्त की स्थापना की गई कि एक सद्वस्तु है, इसे चाहे प्रकृति कहें या पुरुष। सब इसी में विकसित होते हैं, इसी में रहते हैं और इसी में लीन होते हैं। जगत् और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष, जीव और शरीर इत्यादि भेद-कल्पना ही अविद्या है। बात एकदम उलट गई। कपिल पतञ्जलि आदि ने द्वैत ही ठीक कहा था, अद्वैत को अविवेक कहा था। अब द्वैत ही अविद्या में फेंका गया। अद्वैत ठीक ठहराया गया। चित्तस्वरूप परमात्मा में चेतनाचेतन सब जगत् का आविर्भाव-तिरोभाव सिद्धान्तित हुआ। बौद्ध आदि वैनाशिक और वैशेषिक आदि अर्द्ध-वैनाशिक सभी निरस्त हुए। परम आस्तिक्य की विजय हुई।

दार्शनिक कान्त ने दिखाया है कि जो कुछ विचार हो सो देश-काल और कार्य-कारण-भाव के अनुकूल होता है। का -कारणभाव में दो विकल्प हो सकते हैं—सद्वाद, असद्वाद। बौद्धों प्रायः असद्वाद को स्वीकार किया। अभाव से भाव की उत्पत्ति बताई। या तो कारण को असत्-स्वरूप माना या कारण को कुछ मानते हुए भी उसके ध्वंस से कार्य की उत्पत्ति बताई; जैसे बीज के ध्वंस से अंकुर होता है। तार्किकों ने नये कार्य का आरंभ बताया:

इनके मत से कारण और कार्य सर्वथा भिन्न हैं। कारण-कलाप से एक नवीन कार्य की उत्पत्ति होती है। इस मत को आरम्भवाद कहते हैं। सांख्ययोग वालों ने समझा कि जैसे दूध ही दही के रूप में परिणत होता है, वैसे सभी कारण स्वयं कार्यरूप में परिणत होते हैं; इस मत को परिणामवाद कहते हैं। पर ये सब बाहरी बातें हैं। मूल रहस्य से जब तक इनका सम्बन्ध न दिखाया जाय, इनका कुछ भी मूल्य नहीं। मौलिक बात तो यह है कि ज्ञान स्वप्रमितिक है। इसका न तो निषेध हो सकता है और न इसमें संशय ही हो सकता है। निषेध या संशय ज्ञानस्वरूप हैं; इसलिए सबका खंडन हो जाय, पर ज्ञानसत्ता या चित्तसत्ता का खंडन नहीं हो सकता। देश-काल, कार्य-कारण-भाव सभी ज्ञान के भीतर ही हैं, इसीलिए फिक्त नामक पाश्चात्य दार्शनिक ने स्थिर किया है कि आत्मा अपने ही स्वरूप में अर्थात् चित्तसत्ता में स्व-पर-भेद और वस्तुओं का परस्पर भेद किया करता है। इस बात को फिक्त से ढाई-तीन हजार वर्ष पहले ही हमारे दार्शनिक समझते थे। वेदान्त ने नामरूप का भेद रहते हुए भी वस्तुतः कार्यकारण का अभेद माना और चिद्वस्तु को दिक्काल-कार्यकारण भावादि का अविषय माना। हेगल आदि अत्यन्त आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक भी इस वेदान्त-सिद्धान्त के कायल हैं। इसे अद्वैतवाद कहते हैं।

काल पाकर ब्रह्मसूत्र की अनेक व्याख्यायें हुईं। तामस मध्यम समय भारत में (और देशों के सदृश) आ रहा था। ज्ञान का विकास कम होता चला। मूल ग्रन्थों का निर्माण रुक गया। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र लेकर अनेक सम्प्रदाय चले। शंकराचार्य ने मायावाद चलाया, जिसके अनुसार ब्रह्म प्रायः शून्य स्वरूप है और सब सांसारिक भेद भ्रमकृत है। शंकर के मुख्य प्रत्यर्थी दो हुए हैं—रामानुज स्वामी और वल्लभाचार्य। तीनों आचार्यों के तथा मध्वाचार्य आदि अन्य लोगों के भी भाष्य ब्रह्मसूत्र पर हैं। आज धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो शैव, शाक्त, वैष्णव और स्मार्त चार मुख्य विभाग आस्तिक भारतीयों के हैं। इनमें स्मार्तलोग प्रायः दार्शनिक विषयों में शंकरानुसारी हैं। वैष्णवों में रामानुजीय और वाल्लभों का अनुभाव देश में अधिक है। रामानुज स्वामी चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर मानते हैं; इसलिए इनका मत विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। वल्लभाचार्य के दर्शन में ब्रह्म शुद्ध माना जाता है; माया का स्वीकार नहीं है; संसार सत् है, मायिक नहीं।

आज फिर भी चिरकाल के बाद इतना अन्धकार रहते भी दार्शनिक आन्दोलन के कुछ लक्षण भारत में दीख पड़ते हैं। देशान्तरों में भी रजोगुण ने सर्वथा दार्शनिक तत्त्व को दबा नहीं लिया है। जबतब संसार में मतवादियों ने दार्शनिक विचारों को दबाने के लिए अनेक यत्न किये हैं। पाश्चात्यों में प्रायः अरिष्टोत्तर के बाद मजहबी लोगों की ही चेष्टा से दार्शनिक विचार दो सहस्र वर्ष तक रुके पड़े थे। भारत में भी हाल तक यही दशा थी। यहाँ वेद आदि का तथा देशान्तरों में बाइबिल आदि का नाम लेते हुए मजहबियों ने दार्शनिक स्वतंत्रता का विरोध किया है। पर आज देशान्तरों में तो खूब ही; पर भारत में थोड़ी स्वतंत्रता दार्शनिक विचारों में आ रही है।

०

प्रकृति के अनुसार बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका कही गई है। तीनों गुणों के उत्तम रूपज्ञान, कर्म और भक्ति के आकार में वर्त्तमान हैं। वस्तुओं को ठीक समझकर भक्तिपूर्वक कार्य करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इन तीनों में से किसी एक अंश को लेकर चलनेवाला दर्शन न तो वस्तुदृष्टि से सुसंगत कहा जा सकता है, न सांसारिक कार्यों के योग्य ही समझा जा सकता है। इसलिए आज ऐसे ही दर्शन की अपेक्षा है जिनमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का यथास्थान सन्निवेश हो। ज्ञान से दार्शनिक उन्नति होती जायगी। ज्ञान और कर्म के योग से वैज्ञानिक उन्नति होगी। भक्ति की रक्षा से संसार में उद्दंडता आदि की वृद्धि नहीं होने पायगी।

'पाटलिपुत्र' का विशेषांक, भाग २
माघकृष्ण ३० संवत १९७२।

खुली चिट्ठी[1]

प्रिय संपादक जी,

मैंने 'माधुरी' के विशेषांक में भूत-रहस्य और पुनर्जन्म पर लेख देखे। देश में 'सुधा' तथा अन्य पत्रों में भी ऐसे सुरोचक लेख निकल रहे हैं। अभी असली शिक्षा का अभाव है। यहाँ अशिक्षितों तथा शिक्षा-भारवाहियों पर भूत, कलि, दैव, पुनर्जन्म (पूर्व और पर-जन्म), अकारण या विरुद्ध कारणों से कार्योत्पत्ति आदि बातों का प्रभाव चिरकाल से जकड़ा है। 'ऐसे विश्वास अभी-अभी जागरित हो रहे हैं, पहले से लोग इन बातों को नहीं मानते थे'—ऐसा कहना असंगत है। असली शिक्षावाले इंगलैंड, जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस, जापान आदि देशों में पहले जैसे ही भ्रांत थे। अब ये हजार में एक से भी कम मनुष्यों में पाए जाते हैं। इंडिया (आधुनिक हिंदोस्तान या भारत) में जिसे अब पुराने नामों से पुकारना केवल नकल करना है)[2] कदाचित करोड़ में एक ही मनुष्य होगा, जिसे इन बातों में विश्वास नहीं, और लोगों में इनका प्रचार करने में संकोच है। ये भी दस-पाँच अब सर औलिवर आदि वैदेशिक तथा यहाँ के एम० ए० आदि उपाधिधारियों के दृष्टांत से, शीघ्र ही इन विश्वासों पर आ जायेंगे। इसी आशा से कितने ही लोग खयाली पुलाव खाया और कहा करते हैं—"मैं भी पहले[3] नास्तिक था। पर हिमालय और तिब्बत के महात्माओं से बातचीत कर तथा भूत, प्रेत, जादू आदि की करामात अपनी आँखों

---

१. इसे छापने, प्रकाशित करने तथा भाषांतर करने का सबको अधिकार है। पटना—आश्विन-शु० १५, १९८४

२. जैसे नेहेमिया (Nehemia) नीलकंठ शास्त्री को नीलकंठ शास्त्री कहना केवल विडंबना है। उन्हें तो रेवरेंड नेहेमिया ही कहना ठीक है। नीलकंठजी एक बापूदेव जी के समय के विद्वान् थे।

३. अमर ने लिखा है—'मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता' इसलिए अंधविश्वासी ही असली नास्तिक हैं। तथापि आजकल आस्तिकता और अंधविश्वास पर्याय-से हो रहे हैं। इसलिए नास्तिक पदवी उत्तम है। सोने को कोई गोबर कहे तो सोना छोड़कर गोबर नहीं लाना चाहिए। वैसे ही अंधविश्वास के अभाव को कोई नास्तिकता कहे, तो अंधविश्वास सिर पर ढोने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मुग्ध लोग जिसे आस्तिकता कहते हैं, वह बचने की चीज है और जिसे नास्तिकता कहते हैं, वह प्रायः श्लाघ्य है। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

से देखकर आस्तिक हो गया"।[४] असल में ये बेचारे सदा से ऐसे भ्रमों के भक्त हैं। और भक्ति ही की, न कि परीक्षा की दृष्टि से इन बातों को देखकर इनके जाल में फँस जाते हैं। इसीलिये बी० ए०, एम्० ए० बी० एल्० आदि लोग हलफ लेकर ऐसी बातें लिखते हैं, और हम-सरीखे नास्तिकों को दबाने के लिए आई० सी० एस्०, जज, बारिस्टर, डॉक्टर, राजे-महराजे, जमीदार आदि की भी गवाही खींच-खाँच कर अपनी बातों पर लिख दिया करते हैं। इजहार के समय कुछ गड़बड़ न हो, इसलिए साथ-ही-साथ वे यह भी सूचना पहले ही दे देते हैं कि गवाहों में से कई लोग घटना देखने से पहले ही खिसक गये, और अन्य कितने ही घटना देखकर भी उसकी सचाई पर विश्वास नहीं करते। उदाहरण के लिए, *वकील साहब बाबू कैकयीनंदनजी का (माधुरी के विशेषांक में)* बयान देखिए। आपके जातिस्मर पुत्र के अपने पूर्व-पिता पंडाजी के यहाँ पहुँचते-ही-पहुँचते श्रीमान् और श्रीमती मेहता लौट गए। और, पंडाजी ने तो अपने पुनर्जात पुत्र की एक बात न मानी। आशा तो इस करामातवालों को हुई होगी कि बालक को देखते ही पंडाजी उठकर आंसू बहाते हुए इसे गले लगावेंगे, और अपनी लाखों की संपत्ति इसे लिख देंगे। पर करामातियों को हाथ मलकर रह जाना पड़ा।[५]

बड़े-बड़े गवाहों के नाम की धारा जब निकाली जाती है, तब बच्चों का दिल धड़क जाता है। खासकर उन्हीं के बाप-दादों के नाम उनमें हों, तो वे और भी काँप उठते हैं। वस्तुतः ऐसी बातों के लिए सफाई के गवाहों की कभी कमी नहीं रही। मैंने तो ऋग्संहिता में जो पति-वशीकरण आदि के औषध आदि लिखे हैं, या छांदोग्य में जो पतंजलि की पुत्री पर दध्यभच के प्रेत की सवारी लिखी हैं, तथा महाभारत आदि में जो सुद्युम्न का

---

४. एक स्थानीय वकील (जिनकी उम्र उन्हीं के मुख से पचास बरस की जान पड़ी) मुझसे यही अपनी आस्तिकता का कारण बताते थे। एक सज्जन अपने व्यामोह में कहने लगे कि वकील साहब पचहत्तर बरस के हैं, पर देखिये, कैसी सिद्धि इनको है। अभी हाल में इनके बाल काले हो गए हैं। ऐसे ही व्यामोहों से यह देश गिरा जा रहा है।

५. काशी के कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि यह सारा फसाद यहीं के एक वकील साहब का था। सिखा-पढ़ाकर लाया हुआ बच्चा भी न ठीक किसी को पहचान सका, न कुछ कह सका। यह कैसा व्याहत है कि बच्चों का तो दिमाग जन्म से तीन-चार बरस तक की इस जन्म की बातों का स्मरण नहीं रख सकता, पूर्व-जन्म की क्या यादगारी रख सकता है। कहते हैं, यह शक्ति थोड़े दिनों में नष्ट हो जाती है। यह छल इसलिए रक्खा गया है कि कोई बेवकूफ इसके पीछे पड़े और लड़के से फिर कुछ कल्पित पूर्व-जन्म की बात पूछे, तो उसके हिमायती कहेंगे कि अब यह कुछ नहीं कह सकता। जाँच से भागने की ये अच्छी तरकीबें हैं।

इला हो जाना, तथा शिखंडी का स्त्री से पुरुष हो जाना, या गीता आदि में कृष्णजी के पूर्व जन्म में विवस्वान् से अपने योगोपदेश आदि की बातें लिखी हैं, उन्हें भी विचार से देखा। इसके अतिरिक्त सांप्रतिक हाईकोर्ट के जज और राजे-महाराजे, बारिस्टर आदि से ऐसे विषयों पर मेरी खूब बातचीत हुई। एक स्थानीय बारिस्टर जज ने मुझसे कहा कि वैद्यनाथधाम में उनके सामने ही एक साधु ने पाँच सेर हलुवा बनाया, और उसमें से पाव-पाव भर पाँच सौ स्त्री-पुरुषों को बाँटा, तथा उसी धाम के एक संत ने एक अँगरेज जज की भावी उन्नति की ठीक तारीख बता दी।[६] एक बारिस्टर ने मुझसे कहा है कि एक दूसरे मरे हुए बारिस्टर का भूत आता था जिसके आवेश में उन्होंने उसकी एक अँगूठी का ठीक-ठीक पता बताया, जिसे और कोई नहीं जानता था। एक एम०ए० प्रिंसिपल साहब मुझ से कहा करते हैं कि उनकी स्त्री (जिसकी मृत्यु दस-बारह वर्ष पहले हो चुकी है) लोकांतर से उनके यहाँ पत्र भेजा करती है, जो पत्र एक अठारह वर्ष का सीधा लड़का लिखा करता है। प्रिंसिपल महाशय ने यह भी कहा कि जब इस लड़के पर आवेश आता है, तो कल कलकत्ते से आनेवाले यात्रियों की बातें भी वह कह देता है, और जिनके आने की बातें वह कहता है, वे आ भी जाते हैं। जब मैंने इनसे कहा कि जब वह आवेश में आवे, तो एक बड़ी पुस्तक में कहीं कागज लगाकर उससे पूछिये कि वह कागज किस पृष्ठ में है?[७] तो महाशय जी ने इस पर मुझसे कहा कि पंडितजी, प्रेतों में भक्ति कीजिये, उनकी परीक्षा नहीं की जाती। ऐसे ही एक स्थानीय सज्जन के यहाँ बँसुरिया बाबा आये थे, जो अपने अंगों से लड्डू, रसगुल्ले आदि निकालकर लोगों को खिलाया करते थे। मुझसे इन सज्जन ने कहला भेजा कि यह मेरे घर से लिखी हुई पुस्तक मँगा दे सकते हैं। जब मैंने इन सज्जन के बहुत आग्रह पर पत्र लिखा कि यदि मेरी टोपी मेरे सामने से थोड़ी ही दूर, बिना छुए, अपनी अलौकिक शक्ति से, यह खींच लें, तो मैं १०० से ५००० तक रुपए उन्हें दूँ, यदि यह या उनके पक्षवाले भी उनके यह कार्य न करने पर इतना ही द्रव्य देने का वादा करें। यह पत्र संध्या को मिलते ही

---

६. जब जज साहब ने मुझसे पूछा कि उस संत ने यह करामात कैसे की, मैंने तो यह सब अपनी आँखों से देखा है, तब मैंने उत्तर दिया—'मेरे मत से तो यह मजे का किस्सा है।' इस पर जज साहब बहुत बिगड़े, और काँपने लगे।

७. इस प्रश्न के उत्तर के लिए मैंने कितनी बार मित्रों को बाजी रखकर ललकारा और भारतमित्र आदि में सूचना दी। मेरे मित्रों ने भी कितनों को सूचना दी; पर 'कहता तो बहुत मिला करता मिला न कोय।' वंचक लोग कैसे आ डटें। अखाड़े में वे कभी न आवेंगे। आ जायें तो बाजी जीतकर पारमार्थिक लोग मालामाल हो जायें। वे बाजी लगाए बिना हमारे प्रश्न और परीक्षा-प्रकारों के सहारे Clairvoyance, Telepathy, Mistrymen, Astrologer, Magician आदि के पास कभी न जाइए।

प्रातःकाल महात्मा यहाँ से चले गये। मैंने उनके आदमियों से पहले ही यह बात कह रखी थी। यह ठीक भी है। जब भूत, पुनर्जन्म, मंत्र आदि से द्रव्य उत्पन्न करना या खींचना आदि की गप्पें चलें, तो परीक्षा के अखाड़े में नहीं उतरना चाहिए। क्रोध, गप्प, गाली आदि से या दुर्बल को मौन आदि से काम लेते रहना चाहिए। इसी से 'सिद्धसिवथकमूर्त्तीनां परीक्षाग्नेर्महद्भयम्' और 'क्रोध कथावलादवारादम्भस्य' तथा 'मौनसाधनाभावो रहस्यं वा' इत्यादि परमार्थ वार्तिकों में परमार्थ भाष्य तथा परमार्थसूत्रों में लिखा है?[८]

भूत आदि की बातों में सफाई की गवाही देते रहना ही ठीक है; क्योंकि इस देश में यह विश्वास अभी खूब है और यह जायगा भी बड़ी कठिनता से। काम, लोभ, मोह, इन तीन कारणों से मनुष्य अद्भुत घटनाओं की बातें किया करते हैं। 'देवास' आदि की तथा 'ब्रह्म' आदि की बातें निकालने से या 'प्लांचेट', 'मीडियम' आदि की प्रथा चलाने से लोगों की भीड़ लग जाती है। ऐसी भीड़ों में भस्म आदि या आशीर्वाद आदि से पुत्र, पति-वशीकरण आदि के लिए या अपने पुनर्जन्म की कथा कहते हुए बालकों को देखने के लिए, प्रायः स्त्रियाँ आती हैं, और उनका सहवास सुलभ होता है। बहुतेरे इन लोगों से धन भी कमाते हैं और कभी-कभी स्वयं भी ऐसे भ्रमों में पड़े रह जाते हैं।[९] ऐसे कारणों से इस देश में, तथा अन्यत्र, ऐसी बातों में बहकाकर या मीडियम बनाकर लोग तरुणियों के साथ रहने का स्वतंत्र अवसर पाते हैं। यहाँ यह अवसर पहले मूर्ख प्रेतवादियों को ही मिलता था। कहार, कुर्मी, जुलाहे, निपढ़ ब्राह्मण तथा भंगी आदि मेरे बाल्य में बहुधा अपने ऊपर भूत बुलाना, या देवता बुलाना, या दूसरों का भूत झाड़ना, या उनका मनोरथ कहना, तथा भभूत (विभूति) देना, या फल आदि अपने देह-रंध्रों से निकालना इत्यादि काम किया करते थे। पर पढ़े-लिखे पंडित, वकील आदि के घरों में ऐसे ओझा आदि नहीं जाने पाते थे। न उनकी स्त्रियाँ ही इधर-उधर जाने पाती थीं। इससे बेचारे स्त्री-पुरुषों के आनंद में बड़ी विघ्न-बाधायें पड़ती थीं। पर इधर कुछ वर्षों से हमारे उद्धार के लिए बराण्डी, चुरुट, चर्बी का घी, पत्थर या काठ का आटा, मेहतर के बधने के पानी में अलकोहल से बनी हुई दवा आदि के साथ थिओसफी, स्पिरिचुअलिज्म, आदि का भी प्रवाह पश्चिम से ऐसा आने लगा कि इनका बयान पढ़ कर

---

८. सुधा के गतांक में जिन लोगों के द्वारा फूल बरसाने का तमाशा और पियानो स्वयं बजने और उठने के तमाशे की मजेदार कहानी लिखी है, और जिसे बाल्य में गौड़जी ने तरुण डॉ० टीवो के साथ भक्तिपूर्वक देखा था, वे लोग उस समय से कुछ पहले यहाँ बाबू पूर्णेन्दुनारायण के सौध में आए थे, तब चैलेंज देते हुए मि० एस्० सी० घोष बेचारे इसी नीति के अनुसार निकाले गये थे।

९. हाल में छपरे से वी० डी० ऋषिजी के टेबुल हिलाकर चले आने पर एक बाबाजी तथा अन्य लोग टेबुल, प्लांचेट आदि पर प्रेत बुलाकर स्त्रियों की बड़ी भीड़ अपने चारों ओर जमाते थे।

अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग खूब ऐसी बातों में फँसे; क्योंकि जिन बेचारों को शब्दप्रमाणों के सहारे अत्यंत व्याहत बातों में विश्वास करने का अभ्यास है[१०], उनकी, अंगरेजी में जो कुछ लिखा हो, उसे कानून या विज्ञान, और संस्कृत में जो लिखा हो उसे दर्शन या धर्म समझने की प्रवृत्ति रहती है[११] हाल में केमिस्ट्री (रसायन-शास्त्र) के एम० ए० रामदास जी गौड़ हरसूब्रह्म की खूब पूजा करते-कराते हैं, और तीन अनाथ लड़के कहीं से उठा लाये हैं, जिन्हें वह अपने पूर्व-पुत्र बतलाते हैं। उनके एक साथी से पूछने पर उन लड़कों का मुझे ठीक पता लगा कि ये अनाथ बालक हैं, उनके अपने लड़के नहीं। इन्हें वह अपने पूर्व-जन्म के पुत्र बतलाते हैं। एक वैदिक विद्वान् भी एक माई की विधवा को रखकर कहा करते थे कि वह पूर्व-जन्म की उनकी पत्नी है, और उनके मरने पर सती हो गई थी।[१२] अब कहिये, यदि इसी प्रकार स्त्रियाँ अपना-अपना पति छोड़कर अपने बेटे-भतीजे[१३] आदि में पूर्व-जन्म के पति पहचान लिया करें, तो संसार की क्या अवस्था होगी। शासक लोग बुद्धिमान् हैं, नहीं तो कितने ही दूसरी स्त्रियों से इस प्रकार जोरू का नाता लगा लिया करते, या दूसरों के लड़कों को कपनाकर असली हकदारों का हक इन लड़कों को दे दिया करते और कानून, नीति तथा धर्म, सब चूल्हे में चला जाता।[१४]

---

१०. मेरे मित्र एक बूढ़े भट्टाचार्य बीबी बसंती के बड़े उपासक थे, और मेरे साथ उनके कॉलेज में नौकरी भी करते थे। यद्यपि मैं तो नास्तिक और पैसे का भक्त था, पर यह महाशय बेतरीदे गुलाम थे। Myer's Personality आदि में लिखी हुई प्रेत-वार्ता पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। प्रणवोच्चारण का बड़ा माहात्म्य मानते थे। मेरी एक नहीं सुनते थे। बीस बरस बाद मुझसे, बीबी के अनुचरण से लगे होने के कारण, यह स्वयं कहने लगे कि मनुष्य के प्रथम अवतार के प्रवाद से यह घबरा गए थे। इस पर मैंने इनको समझाया कि जो टोकरी यह पहले ही से ढो रहे थे, उसमें एक बासटी अपनी भी मेम साहब ने उछाल दी, तो यह क्यों घबरा उठे?

११. सुधा की गत किसी संख्या में जाति के दुष्परिणाम पर जो लेख है, उसमें भी लिखित सभी बातें न मानने की राय दी गई है।

१२. मुद्गरदूत-काव्य (संस्कृत शारदा में प्रकाशित) में उसके नायक मूलदेव जी ने कहा है—'आसं पूर्वं रजकभवने रासभः सापुवृत्तो मेधा प्रेष्ठा मम च विधवा रासभी मे सती सा।' (पूर्वमुद्गर)

१३. बाबू कंदर्पनारायणजी ने लिखा है कि एक लड़का अपने को अपना पुनर्जात पिता बतलाता है।

१४. सौभाग्य से गौड़जी को इस जन्म में भी अभी एक चिरंजीव हुआ है। मेरे पाँच सेर (माधुरी, विनोदांक) के पाँच मन हलवे वाले जज यू० पी० में होते, तो इस बालक का तीन-चतुर्थांश धन इसके पूर्व-जन्म के भाइयों को अवश्य दिलाते।

वस्तुतः किसी को कभी सच्ची रीति से भूत-प्रेत या पुनर्जन्म आदि व्याहृत बातोंपर विश्वास नहीं हुआ, और न हो सकता है। अधिकतर लोग काम या लोभ ही से ऐसे विश्वास फैलाने पर उद्यत होते हैं। केवल कभी-कभी कुछ लोगों की मोहवश इस ओर प्रवृत्ति हो जाती है। पर यह भ्रम ठहरता नहीं। होते ही इधर-उधर बिखर जाता है। ऐसा पुरुष या ऐसी स्त्री कौन है, जो स्थिरता से दूसरे को अपनी पुनर्जात पत्नी, पति आदि समझता या समझती रहे, पांच सेर हलवे को पांच मन बनवाने का यत्न किया करे, या राम-राम कहते हुए आग में घुसकर जले? ऐसी व्याहृत व अयुक्त बातें क्षण ही भर किसी के मन को मोहित कर सकती हैं, सदा के लिए नहीं। मनुष्य स्वभावतः ऐसी झूठी बातों से हटकर पारमार्थिक बातों की तरफ झुकता और 'स्व' तथा 'पर' कार्यों में लगता है। इसी से संसार चल रहा है। आश्चर्य यह है कि लोग दूसरों को ऐसा मर्ख समझ लेते हैं कि ऐसी गप्पें हांकने में हिचकने पर भी बड़े-बड़े गवाह नाम के बल पर उन्हें हांक ही देते हैं। यह नहीं समझते कि ऐसी बातें गवाही से नहीं मानी जातीं। ऐसी बातों का प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो ही नहीं सकता। फिर बरेली के वकील साहब तथा उनके समान विश्वास वाले या विश्वास प्रकाशित करने वाले इन बातों की वैज्ञानिक जांच करने के लिए क्यों दूसरों का आह्वान करते हैं? किसी के कहने पर जो परीक्षक-नामधारी नाक के सूराखों से छींककर[१५] उत्तर निकालने की शक्ति रखनेवाले बालक की परीक्षा करे, वह न तो दार्शनिक है, न वैज्ञानिक। ऐसे ही किसी बड़े-से-बड़े *आधुनिक या प्राचीन गल्पकार की बात मानकर जो आशीर्वाद से भक्तों को सर्वज्ञ* सर्वशक्तिमान् बनानेवाले स्वामी सुवर्णजिह्व की खोज में प्रत्यक्षैकवादी चार्वाक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को बड़ी बारीकी से देखने लगे[१६] कि न जाने किस की जीभ सोने की है,

---

१५. 'सुनि आचरज करै जनि कोई'! 'क्षुवतश्च मनोरिक्ष्वाकुर्घ्राणतो जज्ञे' ऐसा विष्णु-पुराण में लिखा है। यह पुराण-वाक्य, पचीस वर्ष हुए हर्यजिह्वपुरीय श्री १००८ मुद्गरानंद जी ने, मेरा नास्तिक्य हटाने के प्रयत्न में, मुझे दिखाया था। आपका विस्तृत चरित काशी ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। संक्षेप से इसकी सूचना मुद्गरदूत में भी मिलती है। आप दीन कुत्सित (Don Quixote) के बड़े भाई जान पड़ते हैं; क्योंकि अपनी उम्र ११८४६ बरस के लगभग बताते हैं। कितने ही इनकी गप्पों को सत्य भी मानते हैं। धन्य भोसलकी! (Medioeval India.)

१६. श्री १००८ मुद्गरानंदजी कहा करते हैं कि कितने ही स्त्री-पुरुषों की जीभ या और कई स्पृहणीय सुकुमार अंग सुनहरे होते हैं। ऐसे लोग बड़े सुभग होते हैं। उनके 'दरस, परस, मज्जन अरुपाना' आदि से स्वर्ग, स्वराज्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह भी कहते हैं कि भ्रष्ट युग का सामुद्रिक ही बदल गया है—श्यामा पद्मिनी के बदले में अब नामधारी राजा लोग श्वेत हस्तिनी का शिकार अच्छा समझते हैं; काली आंखों और बालों की अपेक्षा पीली आंखों और बालों में अधिक राजश्री बसती है। नहीं तो लोग सुवर्ण-जिह्व और सुवर्णवरांगी की खोज अवश्य किया करते। रेखांकित शब्दों के अनेक अर्थ भी श्रीजी बताते हैं।

नहीं है; इसलिए परीक्षक की हानि कभी संभव नहीं। ऐसी कुश्ती में बाजी रहे, तो पारमार्थिक को लाभ-ही-लाभ है।

नियम २—प्रश्न बदल देना चाहिए। परीक्षा देनेवाला जो कुछ कह या कर सकने का दावा करता हो, उसे उसमें कहीं सरल कोई बात कहने या करने का प्रस्ताव करना चाहिए। किंतु परिवर्त्तन बहुत सापेक्ष्य है। नहीं तो परीक्ष्य कुछ ऐसे छल सीखे रहता है कि परीक्षक धोखे में आ जाता है।[१८]

नियम ३—यह भी खयाल रखना चाहिए कि न्यायतः जितना अपेक्षित है, उससे अधिक या कम, कुछ भी परीक्ष्य को नहीं दिया जाय, नहीं तो परीक्ष्य अपनी जादू की ऐसी सोहनलाली[१९] सफाई दिखलावेगा कि परीक्षक की सब सावधानी व्यर्थ हो जायगी।

आगे के उदाहरणों में इन तीनों नियमों का उपयोग स्पष्ट हो जायगा। कोई कहे कि मैं ध्यान, मेस्मेरिज्म, प्रेत, कर्ण–पिशाची आदि के बल से भूत, भविष्य, वर्तमान, व्यवहित, अव्यवहित, सब बातें प्रत्यक्ष देखता और यहाँ से कलकत्ता, अमेरिका आदि की बातें बतला सकता हूँ, तो अपने सामने किसी पुस्तक में कहीं कागज रखकर उससे पूछना चाहिए कि यह कागज किस पृष्ठ में है, कहिए। वह कितना ही कहे कि पुस्तक दूसरी कोठरी में रखवा दीजिए इत्यादि, तो उसकी एक नहीं सुननी चाहिए। यदि कोई कहे कि मैं कुएँ में फेंकी हुई घड़ी यहाँ मँगवा सकता हूँ, तो, अपने सामने घड़ी, टोपी या और कोई वस्तु रखकर, उससे कहना चाहिए कि इसे थोड़ी ही दूर, बिना छुए-छाए, हटा दो, तो तुम्हें परीक्षोत्तीर्ण समझूँ, कुएँ से खींचने का कष्ट क्यों उठाते हो? जो बड़े-बड़े लाट आदि का प्रशंसा-पत्र दिखाता है कि वह बक्स में बैठकर, ऊपर से रस्सा बँधवाकर, ताला लगवाकर, मुहर ठीक कर, कोठरी में बंद होकर, बाहर जंजीर तथा दोहरा ताला लगा देने पर भी बक्स कोठरी से गायब हो जाता है, या टेबिल

१८. परीक्षक अपने-अपने विषय में समझ सकता है कि कौन किस परीक्षा का पाठ्य जानता है, परंतु झूठे सार्टिफिकेटवाला अगर पूछे कि यदि तुम्हारी दृष्टि में मैं योग्य हूँ, तो मैं घूस देकर या कॉपी बदलकर किस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, यह बताओ, तो परीक्षक को ऐसे दुष्ट के सामने से हट जाना चाहिए। उसके अनुष्ठित छल का जानना परीक्षक का काम नहीं है। अगर चोर कहे कि 'प्रेत लोटा ले गया होगा। अगर ऐसा नहीं, तो आप ही चोर का नाम बतलाओ।' अगर विधवा कहे कि जार का नाम कहिए, नहीं तो मेरा पुत्र देवज है, तो इसकी बात कौन मानेगा।

१९. सोहनलालजी बक्स में लड़का पारसल कर देते थे, जो बाहर डबल तालेवाली गाड़ी के भीतर ही अपने बक्स में से निकल कर चाँदी, सोने, जवाहिर आदि के छोटे पारसल लेकर बक्स में घुस जाता था और भीतर से बक्स की पिछाड़ी बंद कर लेता था।

पर सुलाकर यदि टेबिल हटा लिया जाय, तो भी वह नहीं गिरता, निरालंब आकाश में पड़ा ही रह जाता है, तो बिना बक्स आदि के, अपने सामने ही, हवा में गायब हो जाने को या जमीन छोड़कर ऊपर खड़े, बैठे या पड़े रहने को कहना चाहिए। जादू वाले रुपये-अशर्फी आदि, या साँप, फल आदि या अपने आस-पास के लोगों के अंगों से, या वस्त्रों से ऐसी सफाई से निकालते हैं कि[२०] देखनेवाले यही समझते हैं कि सब चीजें मंत्र या तंत्र शक्ति के द्वारा हवा से आ रही हैं। भोले-भाले लोग कहते हैं कि मंतर, तंतर भूत, प्रेत करन-पिसाची आदि की करतूत है। देशांतरों में १८ बरस की लड़की को मीडियम बनाकर उसके साथ एकांत में रहने का ब्याज खोजते हुए कुछ पुरुषों या तरुण बच्चों को अवतार आदि बनाकर अपने साथ रखने का यत्न करती हुई स्त्रियों के सिवा प्रायः सभी ऐसी अद्भुत बातों को गप्प या हाथ की सफाई समझते और स्वयं करते भी हैं।[२१] और उसमें कोई दिव्य शक्ति नहीं समझते। इसीलिए वहाँ देश की विशेष हानि नहीं होती। असत्य प्रेम और मृगतृष्णानुसरण में लोग नहीं पड़ते। पर इस देश में लोग बातों द्वारा अपूर्व असत्यों को फैलाना चाहते हैं, इसी से बातों के द्वारा ज्ञान, विज्ञान धर्म, नीति, न्याय, सभी के विकास में बड़ी बाधा पड़ रही है। ठीक ही है, बाधा तो पड़ेगी ही। भला अपने पूर्व-जन्म के पचास वर्ष के साथी पति को जो पहचानेगी, वह अपने नए सद्यः परिणीत अपरिचित पति के साथ कैसे रहेगी। और, एक से अधिक पूर्व-पतियों को पहचान ले, तो और गजब हो। जिसको पूर्व-जन्म के लड़के तक मिल

---

२०. पटने के चौलर मियाँ (बेचारे मर गए) बड़ी सफाई से रुपये, अशर्फी, कोंहड़े के बराबर सरदा आदि फल इसी प्रकार निकालते थे। रुपये अशर्फी तो कुर्ता मात्र में से मेरे सामने निकालते थे। पर लाट आदि के दरबार में मोटे पाजामे आदि पहन कर सरदा निकालते थे। मैंने उन्हें अंटसंट कपड़े हटाकर रुपये निकालने को कहा, तो नहीं राजी हुए। साँप निकालने वाले विछुए के भीतर दो साँप लगाए रहते हैं। वे कच्छ-बंधी दशरथी धोती से समय पर इन्हें झाड़ देते हैं। ऐसे ही छली लोग फासफोरस मुँह से निकालकर आग दिखलाते या ऐस्बेस्ट से आग रोकते हैं।

२१. मेम पाइपर ब्लावेस्टकी (Piper Blavaxtsky) आदि के छल कैसे खुले, इन बातों के लिए मास्केलीन की पुस्तकें या (Cyclopedias), देखिए। ताला-मुहर आदि लगे हुए बक्स से निकलने आदि के छल विलायत में रोज पकड़ जाते हैं। छल पकड़ जाने पर दूसरा छल बना लिया जाता है। हाल में एक गरीब लंदन-नगर में अपनी बहन का प्रेत दिखाता हुआ आप ही पकड़ा गया है। प्रकाश कम कर स्वयं स्त्री के सफेद गाउन पहने वह कमरे में दूर खड़ा था। तब तक किसी ने पाकेट-लैंप जलाया और इसे पकड़ा। वह बेचारा बेहोश गिर गया, और क्षमा माँगने लगा।

जाया करेंगे, वह अपना धन अपने असली दामादों को क्यों लेने देगा, इन्हीं को न देगा। जो भूत, भविष्य, वर्त्तमान यों ही जान जायगा, उसे पढ़-लिखकर 'ग्रहण कब लगेगा!' यह जानने की क्या जरूरत है। जिसके रोग किसी के शरीर की भस्म ही से या एक अस्पृश्यांग के रोम ही से, या ब्रह्माजी की दुआ ही से अच्छे हो जायँगे, उसे आयुर्वेद की क्या अपेक्षा है? जिसे घास-पात के जरिए सोना-चाँदी बना लेने की विद्या में विश्वास है, वह श्रम-जीवी क्यों होगा, या केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) क्यों पढ़ेगा, या पढ़कर भी उसका अनुसरण क्यों करेगा? जो प्राणायाम ही से उड़ सकता है, उसे व्योम-यान की क्या परवा? जो पवित्रातिपवित्र (His Supreme Holiness) श्री १००८ स्वामिवर मुद्गरानंदजी के नासाग्राह (Nasograph) से ही संवाद पा जाता है, उसे रदीय, दूरग्राह या दूरस्वन (Radio, Telegraph, Telephone) की क्या अपेक्षा है? जो काशी के काना ब्रह्मचारी [२२] के समान योग-यष्टि ही से (या प्राणायाम ही के व्याज से) तहखानों की गच से उड़ता हुआ अपने को दिखा सकता है, उसके अनुयायी रेल, व्योम-यान आदि में क्या श्रद्धा रख सकते हैं तथा संपूर्णानंदजी की ध्वनि-शक्ति-विभूति से जो

२२. यह काशी में रहते हैं, मेरे गुरु-भाई पं० हरिशंकर जी महाराज से पढ़ते थे, और उन्होंने उड़ना दिखाने की गुरुदक्षिणा करार की थी; पर इसकी पूर्त्ति से बेचारे गुरुजी वंचित ही रहे। मैं इनका नाम नहीं जानता, इससे इनके अंग-विकार का नाम देना पड़ता है, जिसका मुझे खेद है। बाबू ललन जी और मेरे प्रिय मित्र पं० अयोध्यानाथ जी को आपने तहखाने में उड़ना दिखाया था। आप पैर में काली पट्टी बाँधकर सफेद बुर्का ओढ़कर बंद तहखाने आदि में लाठी से बुर्का उठाते हैं; लोग समझते हैं बुर्का स्वयं आपको लिये हुए उठ रहा है। मेरे समझाने पर पंडितजी ने यह रहस्य समझा। लोग आपको उड़ते हुए किवाड़ से सूराखों ही से देखते हैं।

डिनामाइट का काम कर पहाड़ फोड़ने की २३ गप्प हाँकता है, उसके समान लोग नोवेल आदि की क्या पूजा कर सकते हैं? 'जैसा पूर्व जन्म का कर्म है, वैसा फल होगा' ऐसा माननेवाले को तो यह विश्वास है कि लड़के को अंधा, कोढ़ी, लंगड़ा, धनी, गरीब, पुण्यात्मा, पापी, जो कुछ होना है, सो होगा ही, तो ऐसे आदमी को चरकाद्युपदिष्ट गर्भरक्षा के प्रकार से या धर्मशास्त्र-नीतिशास्त्रादि-वर्णित आयुर्धनादि-पोषक सदाचार तथा सदुद्योग आदि से क्या प्रयोजन ?

'सुधा'—वर्ष १ खंड १; पौष, ३०५ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)—जनवरी, १९२८ ई०

---

२३. हाल में 'आज' पत्र में आपने सर ऑलिवर लॉज आदि की गवाही से सुधा में प्रकाशित मेरे पुराण-तत्त्व का बड़े आयोजन से खंडन करने की स्पृहणीय चेष्टा की है। लोग यह नहीं समझते कि जिन नास्तिकों को श्रौत स्मार्त शब्दों से प्रत्यक्षानुमान-विरुद्ध बातों पर श्रद्धा न हुई, वे पाश्चात्य पंचों के आगे प्रेत फोटो आदि की गप्पों पर क्या भक्ति कर सकते हैं। एक दिन ललकारे पर बाजी रखकर पहाड़ फोड़िए तो नास्तिकता का पहाड़ आप ही गिर पड़े। कथानकों से तो आपके चित्त के साथ नास्तिकों का भी चित्त विनोद-कल्लोलों में पड़ ही जाता है। एक योगी का नंद के मुर्दे में घुसकर अंतःपुर में रासलीला करना या श्री शंकर का आकाश-मार्ग से मंडन जी के घर जाना इत्यादि कथाएँ क्या हमलोगों को नहीं रुचती हैं। पर शाम को दादीजी या नानीजी से उड़नखटोले की कथा सुनना या रामदासजी गौड़ आदि की हास्य-जनक लेखावली में हरसू ब्रह्म, भूत-प्रेत आदि की या वी० डी० ऋषि की टेबुल हिलाने की बातें पढ़ना या ताजी शिरीष बाबू आदि थियोसोफिस्ट की शेखचिल्ली की कहानियाँ या और ताजे कृष्णमूर्त्ति के अवतार होने की खबरें पढ़ना या पुराने सहस्ररजनी आदि को बाँचना मनोरंजक अवश्य है पर कार्य तो दिन-रात रस्सी के खटोले और सिद्धि विभूत्यनभिज्ञों के क्षुद्र आविष्कार रेल-तार आदि ही से करना पड़ता है, नेउरा मैया की अदर्शी शोच करती हुई कानी गयी के लिए अपने घोड़े मत फेंको।

परमार्थ-सिद्धांत

विज्ञान् और दर्शन तथा तदनुयायी धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि सभी शास्त्र बतलाते हैं कि असली घटनायें अव्याहत होती हैं। या अव्याहत घटनाएँ न भी हुई हों, तो हो सकती हैं। प्रत्यक्ष या अनुमान से इनका वास्तव होना माना जाता है। केवल शब्द की गवाही हो, तो उनका होना माना जाता है। जैसे योग्य वयवाले स्त्री-पुरुष से संतान, गऊ आदि से दूध, चाँदी-सोने आदि से सिक्के, लोहा आदि अनेक द्रव्यों से रेल के तार, बेतार के खंभे से संवाद-प्रदान, विमान आदि हो रहे हैं। पर व्यवहृत बातें शब्द की गवाही से नहीं मानी जा सकतीं। चाहे वे शब्द ऋग्वेद से लेकर विर्मा सेरा के हों, या प्राचीन, आधुनिक, भूत, भविष्य, हिंदोस्तानी, योरोपीयन, अमेरिकन आदि किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् के हों। वर्ष-दो वर्ष के मनुष्यों से संतानोत्पत्ति, सौ-दो सौ हाथ का आदमी, अँगूठे भर के ऋषि, छींकने से हाथी निकलना, नाक दबाकर उड़ जाना, शब्दोच्चारण या ध्यान मात्र से किसी वस्तु को उत्पन्न करना या उसे बदलना, बिना पिता या बिना माता के संतान होना, बेहोशी में दीवार के पार की व्यवहित वस्तु देखना, हवा से रुपये निकालना, खाली बोतल से दूध निकालना, अपने पूर्व-जन्म की बातें कहना, इत्यादि बातें इसी तरह की हैं। सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) क्या, किसी महामहर्षि की भी गवाही से ऐसी बातें सही मानना किसी को उचित नहीं। "स्वामी जी ने मंत्र से गधे के सिर में दो बड़े सींग निकाले और तब से उन सींगों को बिना छुए-छाए अपने हाथ में मँगाकर उनसे मेरे ऊपर प्रहार किया, जिससे अभी मेरे शरीर से रक्त निकल रहा है। इस रक्त को देख लीजिए। मेरी बातों के साक्षी कई राजे-महाराजे, जज, वकील, बैरिस्टर, ऋषि, महर्षि हैं। उनके नाम बतलाता हूँ, उन्हें समन भेजिए"—ऐसा मामला यदि किसी हाकिम के पास कोई लावे, तो बरेली के पूर्व जन्मवादी बाबू केकयीनंदनजी[1], या योग-मंत्र आदि के बल से पहाड़ तोड़नेवाले संपूर्णानंदजी[2], से लेकर पाँच सेर हलवे में से पाँच सौ आदमियों को पाव-पाव भर खिलाने की बात माननेवाले हाईकोर्ट के जज[3] और अपने ऊपर मरे बैरिस्टरों का भूत बुलानेवाले

१. 'माधुरी' के अंतिम विशेषांक तथा 'लीडर' में आपकी बातें हैं।
२. अभी 'आज' में आपने ऐसी बातें लिखी हैं।
३. पटने के एक बैरिस्टर जज कहते हैं, इन्होंने इस घटना को अपनी आँखों से एक साधु को करते हुए देखा है।

बैरिष्टर साहब[1] या अपनी मरी हुई स्त्री की चिट्ठी मँगानेवाले प्रिंसिपल[2] तक कोई महाशय हाकिम की कुर्सी पर बैठकर ऐसे मामले को नहीं चला सकते, और न अपने मन ही में ऐसी बातों पर विश्वास कर सकते हैं। हाँ, ऊपर से भले ही ऐसी बातों का प्रचार किया करें। बिना गवाहों को समन दिए ही हरएक ऐसे मामले को डिसमिस कर देगा।

ऐसे गप्पों में किसी को विश्वास तो है नहीं यदि किसी को पक्का विश्वास होता, तो हमारे जैसे विज्ञान के पक्षपातियों में से ही किसी का चैलेंज स्वीकार कर वह पंचों के सामने प्रचुर द्रव्य की बाजी रखकर, अपनी करामात दिखलाने अवश्य आता। लोग कहते हैं—"इन लोगों को क्या गरज है, जो अपनी करामात दिखलावें ? जिसको गरज हो, उनकी भक्ति करे।" भला कहिए, व्याहतवादी अवैज्ञानिक की भक्ति कोई क्यों करे? जो कहता है— "ऐसे शब्द या ऐसी भावना से आदमी आग में नहीं जलता, और सब जगह की खबर जान जाता है, चाहे जहाँ से चीजें मँगा सकता है", वह तो अपनी बातों पर पक्का है नहीं ; वह कभी अपने मंत्रों को जपता हुआ आग में नहीं कूदता और सदा रेल, तार आदि से पार्सल खबर आदि मँगाया करता है; तब जो लोग अपनी बातों पर पक्के हैं, और सदा वैज्ञानिक रेल-तार आदि की ही भक्ति करते हैं, वे कैसे स्वयं ऐसे व्यक्तियों की भक्ति करेंगे. या भरसक दूसरों को ऐसे मार्ग में जाने देंगे ? लोहे आदि से एंजिन बनानेवाले इंजिनियर की भक्ति की जाती है, डिनामाइट से पहाड़ तोड़नेवाले की भक्ति की जाती है। पर मंत्र-ध्वनि से पहाड़ तोड़ने वाले की या ध्यान से काबुली मेवा आदि मँगानेवाले की भक्ति नहीं की जा सकती। इस समय का पति, पुत्र आदि अपना माना जा सकता है। पर पूर्व जन्म के पति पुत्र का नाता लगानेवाले के फेर में लोग[3] न पड़ेंगे और न दूसरा ही कोई सच्चे भाव से पड़ सकता है।

---

१. एक पटने के बैरिष्टर कहते हैं, उनके ऊपर एक मरे हुए बैरिष्टर का भूत सवार हुआ करता था, और अपनी खोई हुई अँगूठी आदि का पता बता देता था, जिसे कोई और नहीं जानता।

२. एक प्रिंसिपल महाशय कहते हैं, उनकी मरी हुई स्त्री एक अट्ठारह वर्ष के सीधे बालक पर आती है, और उस समय बालक भूत-भविष्य आदि की बातें बताता है। जब कहा जाता है कि किसी पुस्तक में एक कागज रखकर बालक से पूछिए, किस पृष्ठ में है, तो महाशय कहते हैं,'प्रेत की भक्ति करो, जाँच मत करो'।

३. हाल में (माधुरी का विशेषांक देखिए) बरेली के वकील बाबू केकयीनंदन जी अपने लड़के को काशी के एक पंडे के पास लाए थे। और, वह या उसके माँ-बाप कहते थे कि वह पूर्व-जन्म में पंडाजी का पुत्र था। पर पंडाजी ने उनकी एक न सुनी, और अपनी संपत्ति का दायाद उसे नहीं बनाया।

पर ऑलिवर लॉज[1] केमिस्ट्री के विद्वान् हैं। बैरिस्टर या जज कानून की खबर रखता है और लोग व्याकरण आदि के विद्वान् होते हैं। पर प्रेत अपने ऊपर या दूसरे पर बुलाने में तो जैसे लॉज महाशय या रामदास जी गौड़[2] वैसे ही भूँजा वाला पँचकौड़ी भगत[3] या चिलर मियाँ[4] या हरमू ब्रह्म या हरिराम के पडे। बल्कि ऐसी बातों में तो अपढ़ गँवार जैसी आसानी से ओझाई, जादू आदि की सफाई दिखलाते हैं, वैसी बी० डी० ऋषि और लॉज महाशय नहीं दिखला सकते। प्रेत आदि के विषय में जो गवाही चाहिए तो वेद, उपनिषद, तथा विदेश की धर्म-कथा-पुस्तक आदि से लेकर गोंड़, कोल-भील तक करोड़ों की गवाहियाँ मौजूद हैं और चिर-काल तक रहेंगी। ऐसी बातों में केमिस्ट्री, फिजिक्स, मैथामेटिक्स, कानून, दर्शन आदि के एम्० ए० डॉक्टर, आदि की गवाही में कोई विशेषता नहीं है। चोरी, घूस आदि में जैसा प्रामाण्य मिस्टर बेकन का या आज के किसी बड़े आदमी का, वैसा ही किसी जंगली का।

कितने ही लोग समझते हैं कि जैसे पहले लोगोंको रेल, तार, बेतार आदि का स्वप्न भी न था, पर ये बातें अब निकल आईं, वैसे ही प्रेत, पुनर्जन्म, विभूति, सिद्धि आदि भी निकल आवेंगी। इस मृगतृष्णा में कोई न पड़े। यह बात तो वैसी ही हुई, जैसे एक स्वामी जो कहते थे कि तुम लोग जैसे दरवाजे से निकल भागते हो, वैसे ही मैं घने ईंट-पत्थरों में विलीन होकर अदृश्य हो जाता हूँ। दरवाजे से निकल भागना अव्याहत है। पाषाण के परमाणुओं में स्वामी जी का विलय[5] व्याहत है। भला दोनों बातें एक समान कैसे मानी जायें? इसी प्रकार लोहे आदि द्रव्यों से ऐंजिन, विमान, तार, बेतार इत्यादि चलाना और बात है। ऐसी बातें नई-नई निकला करती हैं और निकलेंगी। यही विज्ञान के विकास और प्रकाश का गौरव है। पर शब्द या भावना से द्रव्य की उत्पत्ति,

---

१. लॉज महाशय एक १८ वर्ष की फ्रेंच कन्या पर आते हुए भूत की एकांत में परीक्षा किया करते हैं।

२. गौड़जी हरमू ब्रह्म द्वारा बहुतों का मनोरथ सिद्ध कराते हैं। और, कहीं से तीन लड़के लाए हैं, जिन्हें अपने पूर्व-जन्म के पुत्र बतलाते हैं।

३. पँचकौड़ी भगत छपरे के एक प्रसिद्ध देवा पधराने वाले थे। इन पर देव और प्रेत आया करते थे।

४. चिलर मियाँ पटने के एक नामी जादूगर थे। रुपये अशर्फी तथा सर्दा आदि फल हवा से हाजिर करते थे। असल में यह इन चीजों को कुर्ते वगैरह में छिपाये रखते थे।

५. एक ऐसी घटना पं० आदित्यरामजी के एक मित्र ने उनसे कही थी कि हिमालय में उनके देखते-देखते एक फकीर बेसूराख की पत्थर की दीवार में गायब हो गया।

बैरिस्टर साहब[1] या अपनी मरी हुई स्त्री की चिट्ठी मँगानेवाले प्रिंसिपल[2] तक कोई महाशय हाकिम की कुर्सी पर बैठकर ऐसे मामले को नहीं चला सकते, और न अपने मन ही में ऐसी बातों पर विश्वास कर सकते हैं। हाँ, ऊपर से भले ही ऐसी बातों का प्रचार किया करें। विना गवाहों को समन दिए ही हरएक ऐसे मामले को डिसमिस कर देगा।

ऐसे गप्पों में किसी को विश्वास तो है नहीं यदि किसी को पक्का विश्वास होता, तो हमारे जैसे विज्ञान के पक्षपातियों में से ही किसी का चैलेंज स्वीकार कर वह पंचों के सामने प्रचुर द्रव्य की बाजी रखकर, अपनी करामात दिखलाने अवश्य आता। लोग कहते हैं—"इन लोगों को क्या गरज है, जो अपनी करामात दिखलावें ? जिसको गरज हो, उनकी भक्ति करे।" भला कहिए, व्याहतवादी अवैज्ञानिक की भक्ति कोई क्यों करे? जो कहता है— "ऐसे शब्द या ऐसी भावना से आदमी आग में नहीं जलता, और सब जगह की खबर जान जाता है, चाहे जहाँ से चीजें मँगा सकता है", वह तो अपनी बातों पर पक्का है नहीं ; वह कभी अपने मंत्रों को जपता हुआ आग में नहीं कूदता और सदा रेल, तार आदि से पार्सल खबर आदि मँगाया करता है; तब जो लोग अपनी बातों पर पक्के हैं, और सदा वैज्ञानिक रेल-तार आदि की ही भक्ति करते हैं, वे कैसे स्वयं ऐसे व्यक्तियों की भक्ति करेंगे, या भरसक दूसरों को ऐसे मार्ग में जाने देंगे? लोहे आदि से एंजिन बनानेवाले इंजिनियर की भक्ति की जाती है, डिनामाइट से पहाड़ तोड़नेवाले की भक्ति की जाती है। पर मंत्र-ध्वनि से पहाड़ तोड़ने वाले की या ध्यान से काबुली मेवा आदि मँगानेवाले की भक्ति नहीं की जा सकती। इस समय का पति, पुत्र आदि अपना माना जा सकता है। पर पूर्व जन्म के पति पुत्र का नाता लगानेवाले के फेर में लोग[3] न पड़ेंगे और न दूसरा ही कोई सच्चे भाव से पड़ सकता है।

---

१. एक पटने के बैरिस्टर कहते हैं, उनके ऊपर एक मरे हुए बैरिस्टर का भूत सवार हुआ करता था, और अपनी खोई हुई अँगूठी आदि का पता बता देता था, जिसे कोई और नहीं जानता।

२. एक प्रिंसिपल महाशय कहते हैं, उनकी मरी हुई स्त्री एक अट्ठारह वर्ष के सीधे बालक पर आती है, और उस समय बालक भूत-भविष्य आदि की बातें बताता है। जब कहा जाता है कि किसी पुस्तक में एक कागज रखकर बालक से पूछिए, किस पृष्ठ में है, तो महाशय कहते हैं,'प्रेत की भक्ति करो, जाँच मत करो'।

३ हाल में (माधुरी का विशेषांक देखिए) बरेली के वकील बाबू कैकयीनंदन जी अपने लड़के को काशी के एक पंडे के पास लाए थे। और, वह या उसके साथी कहते थे कि वह पूर्व-जन्म में पंडाजी का पुत्र था। पर पंडाजी ने उनकी एक न सुनी, और अपनी संपत्ति का दायाद उसे नहीं बनाया।

सर ऑलिवर लॉज[1] केमिस्ट्री के विद्वान् हैं। बैरिष्टर या जज कानून की खबर रखता है और लोग व्याकरण आदि के विद्वान् होते हैं। पर प्रेत अपने ऊपर या दूसरे पर बुलाने में तो जैसे लॉज महाशय या रामदास जी गौड़[2] वैसे ही भूँजा वाला पँचकौड़ी भगत[3] या चिलर मियाँ[4] या हरसू ब्रह्म या हरिराम के पंडे। बल्कि ऐसी बातों में तो अपढ़ गँवार जैसी ग्रामानों में ओझाई, जादू आदि की सफाई दिखलाते हैं, वैसी बी० डी० ऋषि और लॉज महाशय नहीं दिखला सकते। प्रेत आदि के विषय में जो गवाही चाहिए तो वेद, उपनिषद् तथा विदेश की धर्म-कथा-पुस्तक आदि से लेकर गोंड़, कोल-भील तक करोड़ों की गवाहियाँ मौजूद हैं और चिर-काल तक रहेंगी। ऐसी बातों में केमेस्ट्री, फिजिक्स, मैथामेटिक्स, कानून, दर्शन आदि के एम्० ए० डॉक्टर, आदि की गवाही में कोई विशेषता नहीं है। चोरी, घूस आदि में जैसा प्रामाण्य मिस्टर बेकन का था आज के किसी बड़े आदमी का, वैसा ही किसी जंगली का।

कितने ही लोग समझते हैं कि जैसे पहले लोगों को रेल, तार, बेतार आदि का स्वप्न भी न था, पर ये बातें अब निकल आईं, वैसे ही प्रेत, पुनर्जन्म, विभूति, सिद्धि आदि भी निकल आवेंगी। इस मृगतृष्णा में कोई न पड़े। यह बात तो वैसी ही हुई, जैसे एक स्वामी जो कहते थे कि तुम लोग जैसे दरवाजे से निकल भागते हो, वैसे ही मैं घने ईंट-पत्थरों में विलिन होकर अदृश्य हो जाता हूँ। दरवाजे से निकल भागना अव्याहत है। पाषाण के परमाणुओं में स्वामी जी का विलय[5] व्याहत है। भला दोनों बातें एक समान कैसे मानी जायँ? इसी प्रकार लोहे आदि द्रव्यों से एँजिन, विमान, तार, बेतार इत्यादि चलाना और बात है। ऐसी बातें नई-नई निकला करती हैं और निकलेंगी। यही विज्ञान के विकास और प्रकाश का गौरव है। पर शब्द या भावना से द्रव्य की उत्पत्ति,

---

१. लॉज महाशय एक १८ वर्ष की फ्रेंच कन्या पर आते हुए भूत की एकांत में परीक्षा किया करते हैं।

२. गौड़जी हरसू ब्रह्म द्वारा बहुतों का मनोरथ सिद्ध कराते हैं। और, कहीं से तीन लड़के लाए हैं, जिन्हें अपने पूर्व-जन्म के पुत्र बतलाते हैं।

३. पँचकौड़ी भगत छपरे के एक प्रसिद्ध देवा पधराने वाले थे। इन पर देव और प्रेत आया करते थे।

४. चिलर मियाँ पटने के एक नामी जादूगर थे। रुपये अशर्फी तथा सर्दी आदि फल हवा से हाजिर करते थे। असल में यह इन चीजों को कुर्ते वगैरह में छिपाये रखते थे।

५. एक ऐसी घटना पं० आदित्यरामजी के एक मित्र ने उनसे कही थी कि हिमालय में उनके देखते-देखते एक फकीर चेसूराख की पत्थर की दीवार में गायब हो गया।

परिवृत्ति[1] आदि एवं प्रेत आदि की बातें या आकाश आदि से रुपया-पैसा निकालने की बातें सर्वथा व्याहत और असंगत हैं। ये विज्ञान-वर्ग की बातों से सर्वथा भिन्न और विरुद्ध अज्ञान वर्ग की हैं। ये अज्ञानांधकार में चिरकाल से पड़ी हुई प्राचीन वन्य जातियों तथा आधुनिक हिंदोस्तानियों में अभी तक फैली हुई हैं। देशांतरों में लाखों-करोड़ों में से एक-आध थियासफी आदि मत वाले प्रायः हिंदू, चीनी आदि नासमझों को फँसाने के लिए, या अपने काम, लोभ, मोह आदि के वश में पड़कर, स्वयं ऐसी-ऐसी बातों का अनुसंधान करते हैं, तथा जगत् में इनके रखने और फैलाने की चेष्टा कर रहे हैं। हिंदोस्तान में कदाचित् दो-चार ही नास्तिक कहलानेवाले कभी-कभी हुए हैं, या आज भी वर्तमान हैं, जो इस दार्शनिक तत्व पर अटल हैं। यह पारमार्थिक आविष्कार रेल, तार बेतार आदि का मूल है। इसी के आधार पर देशांतरों में इन अनन्तों वैज्ञानिक आश्चर्यों का आविर्भाव हुआ है। इसी दार्शनिक सिद्धांत का महत्व अभी ठीक न समझने से व्याहत बातों में भी शाब्दिक गवाही पर निर्भर रहने से, तथा इसके इने-गिने अनुगामियों को नास्तिक कहकर हँसी में उड़ाने के प्रयत्न से यह देश आधि-व्याधि, दुर्भिक्ष, आत्मसाहाय्याभाव आदि के नरक में पड़ा सड़ता जा रहा है। जैसे रेल आदि का अभाव पुरानी बात थी और इनका आविष्कार नवीन बात है, वैसे ही परमार्थ सिद्धान्त को नास्तिकता समझना चिरकालिक बात है और इस सिद्धांत का प्रबल आविष्कार तथा इसकी ज्योति के द्वारा प्रेत, विभूति आदि तमोमय बातों का नाश इस देश के लिए आज प्रायः नवीन बात होगी। व्याहतवादिता का तम हटेगा, और परमार्थज्योति जगद्व्यापक होगी। हम लोग सैकड़ों-हजारों रुपयों की बाजी का विज्ञापन देते रहे हैं और आज फिर दे रहे हैं। यदि कोई ऊपर सूचित व्याहत बातों को कर दिखाने की हिम्मत रखता हो, तो वह इस पत्र में विज्ञापन द्वारा या डाक के द्वारा मुझसे शर्त आदि ठीक करे या मुझसे पत्र-व्यवहार करे। कृपाकर संपादक जी मुझे ऐसी हिम्मतों की सूचना दिया करें।

श्री रत्नावती देवी

(श्रीयुत रामावतार जी साहित्याचार्य, एम्० ए० की धर्मपत्नी)

---

१. परमार्थदर्शन में लिखा है—"शब्दैर्भावनया वा न द्रव्योत्पत्तिपरिवृत्ती।" शब्दों का अर्थ जाना हो तो अर्थ के स्मरण से क्रोध आदि होते हैं, या निम्बू शब्द सुनने से अर्थ का खयाल कर जीभ में पानी आता है। जोर से चिल्लाओ, तो लड़का जग जाता है। पर इन बातों को मंत्रशक्ति नहीं कहते। मंत्र की तो वह तीसरी ही शक्ति है, जिससे यहाँ 'ह्रीं' जपो और दिल्ली में सेठजी धम्म से बेहोश गिरें। इसी शब्द शक्ति और इसी प्रकार की बेढंगी भावना-शक्ति का परमार्थ मूलोच्छेद करता है।

भारतवर्ष का इतिहास

रामायण के समय में मगध में मारीच, सुबाहु, ताटका आदि राक्षसियों का निवास था। ब्राह्मण ग्रंथों से तथा काव्यों से मालूम होता है कि कीकट नाम की वन्य-जाति पहले मगध में थी। भारत के समय तक मगध में सभ्यता बढ़ चली थी और जरासंध नाम का प्रबल राजा राजगृह में था। शकाब्द से पहिले आठवीं शताब्दी में शिशुनाग राजा हुआ। शिशुनाग के समय से मगध का भाग्य ऐसा चमका कि प्रायः डेढ़ हजार वर्ष तक मगधराज्य भारत में अद्वितीय रहा और पृथ्वी भर में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा रही। शिशुनाग के वंश में शाकवर्ण, क्षेमधर्मा और क्षत्रोजा राजा हुए। फिर क्षत्रोजा का बेटा बिम्बसार राजा हुआ जिसे लोग श्रेणिक भी कहते हैं। शकाब्द से ६०० वर्ष पहिले इसने एक नया राजगृह बसाया। अंग देश या मुंगेर, भागलपुर आदि प्रांतों को जीतकर इसने नव राजगृह में राज्य किया।

कोशल देश में, कपिलवस्तु नगर में, शाक्य वंश के गौतम बुद्ध, बिम्बसार के समय में, उत्पन्न हुए। बिम्बसार का राज्य २८ वर्ष रहा। संसार के भय और निर्वेद जो अपर्य वालों के संसर्ग से आर्यों में आ रहा था, जिसे सांख्य आदि मतवाले प्रबल करते आते गये, जिससे अर्जुन आदि वीरों को कृष्ण आदि दार्शनिकों ने बड़े प्रयत्न से बचाया था, वही निर्वेद और भय, अतत., बिम्बसार के समय में, जैसे ही भारत का उदय फिर आरम्भ हो रहा था, वैसे ही बुद्ध के रूप में प्रकट हुआ। उसी समय में वर्धमान महावीर जिन भी वर्तमान थे। बार-बार भारतीय आर्यों का अभ्युदय होना चाहता था, पर साथ ही साथ रोग के सदृश निर्वेद भी इस अभ्युदय की जड खोदने के लिए अवतार ले लेता था। बिम्बसार के बाद उसके पुत्र अजातशत्रु राजा हुए। उन्हें लोग 'कुणिक' भी कहते हैं। अजातशत्रु ने कोशल, लिच्छवी और मिथिला को जीतकर हिमाचल और विन्ध्याचल के बीच मगध की विजयपताका फहराई। शत्रुओं के उपद्रव से मगध को बचाने के लिए उसने पटलिग्राम में एक किला बनवाया। पिता के विरह से अजातशत्रु घर पर नहीं रह सकते थे। अंगदेश में चम्पानगर बनाकर वहीं रहते थे। शकाब्द से प्रायः साढ़े पाँच सौ वर्ष पहले बुद्ध शून्य में लीन हो गये, ऐसा बौद्धों का खयाल है। पाली, काश्यप, आनन्द आदि सन्यासियों ने राजगृह में बौद्ध-समिति स्थापित कर बौद्ध-मत के प्रचार का प्रयत्न किया। पच्चीस वर्ष राज्य करने के बाद अजातशत्रु मरे। पच्चीस ही वर्ष तक अजातशत्रु के पुत्र दर्शक का राज्य रहा। दर्शक के पुत्र उदय थे। कितने लोग कहते हैं कि, भारतीयों के हारूँ रशीद, किस्से-कहानियों के उदयन वत्सराज, ये ही उदय हैं। उदय ने अपने दादा जी के बनाये हुये पटलिग्राम के किले के आसपास

'पाटलिपुत्र' नगर बसाया। प्रायः चालीस वर्ष राज्य करने के बाद उदय मरे और नन्दिवर्द्धन के बाद महानन्दी राजा हुआ। प्रायः बीस-बीस वर्ष इन दोनों ने राज्य किया।

महानन्दी की वेश्या का पुत्र महापद्मनन्द हुआ। इसने महानन्दी को मार कर अपना राज्य किया। महापद्मनन्द केवल नन्द के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पच्चास वर्ष तक अपने पुत्रों के साथ नन्द ने राज्य किया। नन्द भारतवर्ष का काम समझा जाता है। निन्यानवे करोड़ साल की तो आमदनी लोग इसकी कहते हैं। नन्द के समय में यवनराज अलीकचन्द्र (Alexander) पारस आदि जीतते हुए गाधार तक पहुँचे। नन्दी से रक्षित प्राची, यानी पूर्व देश, को देखने की इन्हें बड़ी लालसा थी, पर नौजवान भारतीय राजकुमार चन्द्रगुप्त की नीति से अलीकचन्द्र की सेना में कुछ ऐसी गड़बड़ मची कि सिन्ध के आसपास से यवनराज बिचारे को लौट जाना पड़ा। कुछ दिनों के बाद असुरी की भव्यलूनपुरी में अलीकचन्द्र मर गये।

नन्दी के समय में भारत की पक्की भाषा संस्कृत भाषा थी, पर अनेक प्राकृत, अर्थात् कच्ची बोलियाँ भी, बोली जाती थीं। इस समय में या इससे कुछ पहले शौनक, यास्क, वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, कात्यायन आदि अनेक दार्शनिक, वैज्ञानिक, वैयाकरण, नैरुक्त हुए। यास्क का निरुक्त, पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतालविजय या जाम्बवतीविजय काव्य इसी समय के जान पड़ते हैं। बहुतेरे प्रातिशाख्य दर्शन, सूत्र, नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि इसी समय के आसपास भारत में बने।

मौर्यकुमार चन्द्रगुप्त ने अलीकचन्द्र को भगाकर चाणक्य की नीति से और पर्वतेश्वर आदि मित्रों की सेना से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। नन्दी को मारकर मौर्य वीर ने भारत पर अपना राज्य जमाया। चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य का अर्थशास्त्र आज भी भारत के साहित्य का रत्नस्वरूप है। अलीकचन्द्र के उत्तराधिकारी शल्यक (Selukas) से गान्धार आदि को छीन कर चन्द्रगुप्त ने अलीकचन्द्रकृत गान्धाराक्रमण का बदला सधाया। बेचारा शल्यक फौज लेकर भारत में बढ़ा आ रहा था, सो भारतविजय कहाँ तक करता, गान्धार भी खो बैठा। चौबीस वर्ष तक बली चन्द्रगुप्त का राज्य रहा। इसके बाद छत्तीस वर्ष तक चन्द्रगुप्त के पुत्र अमित्रघात बिन्दुसार का राज्य रहा। इसके बाद अमित्रघात का पुत्र अशोकवर्द्धन राजा हुआ। आर्यधर्म, संस्कृति, विज्ञान आदि का एक प्रकार से अंत अमित्रघात के साथ ही हुआ।

अशोकवर्धन बौद्धमतावलम्बी हुए। इसके शिलालेख आदि भी पालि में वर्तमान हैं। संस्कृत से और आर्यधर्म से, अशोक ने अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ डाला। चालीस वर्ष अशोक का राज्य रहा। आर्यवीर चन्द्रगुप्त के प्रताप से भिक्षुराज अशोक को काबुल-कन्धार से आसाम-बर्मा तक और सिंहल से लेकर चीन के सिवाने तक, बृहत् साम्राज्य मिला था। एक बार बड़ी मुश्किल से वैरागी बाबा अशोक को भी कलिङ्ग पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। लाखों आदमियों को मार कर घड़ियाल-रोमन रोते हुए बेचारे मगह को लौटे थे।

अशोक के बाद चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि मतवालों ने, संस्कृत-विज्ञान का नाश होते ही, अपना आक्रमण किया। पशु और मनुष्य को बराबरी का उपदेश दिया गया और घासपार्टी का प्रचार खूब होने लगा। अशोक की आज्ञा से यज्ञ बन्द हो गये थे। कुछ रोज तक अशोक के भनसे में दो मोर और एक हरना पकता था। भिक्षुराज के वंश में दशरथ, संगत, शालिशूक, देववर्मा, शतोधन्वा और बृहद्रथ ये छै मौर्य हुए। ये बड़े भगत थे और संसार के कार्यों से विरक्त रहते थे।

धीरे-धीरे मौर्य्य-सिंह चन्द्रगुप्त का भारतीय साम्राज्य केवल भगत लोगों के किले में रह गया। किले के बाहर की वस्तुओं से ये लोग विरक्त रहते थे और बाहर के लोग इनसे विरक्त हो चले। इन छै राजाओं ने केवल छियालीस वर्ष राज्य किया। अन्त में सेनानायक पुष्पमित्र से, मिट्टी की मूर्त्ति भगतजी लोगों का राज्य, न सहा गया। सेना वीर पुष्पमित्र में बड़ी प्रीति रखती थी। सेना दिखलाने के बहाने से पुष्पमित्र ने किसी प्रकार बृहद्रथ को महल से बाहर निकाल कर उसके निर्वाण के लिए प्रबन्ध कर दिया। बृहद्रथ के दीवान साहब को कैदखाने में डालकर पुष्पमित्र सम्राट् हुआ।

पुष्पमित्र ने स्वयं अश्वमेध किया। अशोक बाबा की आज्ञा से भारत में जो यज्ञ नष्ट हो गये थे, सो कुछ दिनों के लिए, पुष्पमित्र के अश्वमेघ के साथ उज्जीवित हुए। बली पुष्पमित्र के ऊपर चारों ओर से आक्रमण होने लगे। कलिङ्ग से क्षारवेल और पश्चिम से मिलिन्दयवन मगध पर चढ मारना चाहते थे, पर इस समय मगध के सिंहासन पर कोई कारुणिक भगत जी थोड़े ही बैठे थे! पुष्पमित्र की वीरता के सामने आक्रमण करनेवालों की कुछ न चली। मुँह लिये बेचारे जैसे आये थे वैसे ही चले गये। कितने ही ऐतिहासिकों का अनुमान है कि पतञ्जलि का व्याकरण-महाभाष्य पुष्पमित्र के समय में बना। साकेत और मध्यमिका पर यवनों के आक्रमण का वर्णन भाष्य में पाया जाता है।

पुष्पमित्र के पैंतीस वर्ष के राज्य के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र राजा हुआ। इसी अग्निमित्र की कथा पर कालिदास ने कई सौ वर्ष बाद 'मालविकाग्निमित्र' नाटक बनाया। आठ वर्ष राज्य करके अग्निमित्र मरे।

इसके बाद सुज्येष्ठ, वसुमित्र, अंतक, पुलिन्द, घोषवसु, वज्रमित्र, भागवत, देवभूति, ये आठ राजा हुए। पुष्पमित्र और उसके वंश के राजा शुंगवंशी कहे जाते हैं। शाश्वत धर्म के नाश से और संस्कृत विज्ञान के लोप से भारत में ऊपर से वैराग्य और भीतर से विलासिता का जो नशा फैल रहा था, और जिसमें, करुणा, प्रेम आदि के बहाने, भारतीय फंसे जा रहे थे, उससे देश का छुटकारा दुस्तर था। पुष्पमित्र की वीरता उसके वंश में न रही। ऐसे दिन आ रहे थे कि क्या सनातनी, क्या बौद्ध, क्या जैन सभी विडाल-भक्ति में पड़े-पड़े सड़ते रहे।

देवभूति बड़ा कामी था। उसके दीवान साहब का नाम वासुदेव था। यह कण्व वंश का ब्राह्मण था। इसने एक दासीपुत्री के द्वारा देवभूति को मरवा डाला। चालीस-पचास

वर्षों तक जैसे-तैसे कण्व राजाओं का राज्य रहा। कण्व राजाओं के समय में भारतीय राजदूत रोम सम्राट् अगस्त्य (Augustus) महाराज की कचहरी में गया था।

कण्व राजा सुशर्मा को मारकर दाक्षिणात्य आन्ध्रों ने राज्य किया। आन्ध्र शिमुक ने सुशर्मा को मारा। कितनों का अनुमान है कि मृच्छकटिक का बनानेवाला राजा शूद्रक शिमुक से अभिन्न है।

अशोक के मरने के बाद से आन्ध्र लोग प्रबल होते जाते थे। मौर्यों ने इन्हें दबाया था। इसका बदला ये लेना चाहते थे। मगध पर चढ़ाई के समय इन लोगों ने क्षारवेल की सहायता की थी। अन्ततः सुशर्मा को मार कर मगध राज्य से अपने स्वातन्त्र्यनाश का बदला इन लोगों ने लिया।

आन्ध्र लोगों के समय में विद्या की वृद्धि थी। सम्भव है कि भास आदि कवि इनके समय में हुए हों। शिमुक से सत्रहवीं पीढ़ी में हाल राजा हुआ, जिसे लोग सातवाहन या शालिवाहन भी कहते हैं। यह स्वयं विद्वान था। गाथासप्तशी नामक प्राकृत सूक्ति-संग्रह इसका बनाया हुआ आज भी मिलता है। पैशाची भाषा के महाभारत, बृहत्कथा, के निर्माता, गुणाढ्य कवि सातवाहन की कचहरी में रहते थे।

मौर्यों के बाद यवनों और शकों ने धीरे-धीरे पश्चिम भारत पर अपना अधिकार जमाया। हाल वंश का राजा विलिवायकुल यवनों और शकों आदि से लड़ा था। इसने विजय पाकर सौराष्ट्र के क्षत्रप नहपान को इसने मारा। विलिवायकुल का प्रतिनिधि चष्टन उज्जयिनी में रहता था। वह उज्जयिनी से सौराष्ट्र, मालव आदि का शासन करता था। प्राचीन आन्ध्रों की राजधानी कृष्णा के तट पर थी। पीछे ये लोग गोदावरी के तीर पर प्रतिष्ठानपुरी में रहने लगे। विलिवायकुल का बेटा पुलुमाई हुआ। चष्टन के पोता रुद्रदाम की पुत्री दक्षमित्रा से इसका विवाह हुआ। प्रतिष्ठान से निकल कर पुलुमाई पश्चिम की ओर अपना राज्य बढ़ाना चाहता था। इस कारण ससुर-दामाद में बड़ी लड़ाई हुई। रुद्रदाम की विजय हुई। अपनी पुत्री दक्षमित्रा को दुःख से बचाने के लिए रुद्रदाम ने अपने दामाद को जीते ही छोड़ दिया।

इसी बीच पुरुषपुर, अर्थात् पेशावर, में कनिष्क राजा हुआ। रुद्रदाम और कनिष्क दोनों शाक्य वंश के थे। उत्तर की ओर तुरुष्क-काश्मीर आदि को जीत कर और कनिष्क पूरब की ओर बढ़ा। पाटलिपुत्र तक विजय कर, वहाँ से, बौद्ध अश्वघोष कवि को, कनिष्क अपने साथ लेते गया, ऐसी प्रसिद्धि है। अश्वघोष का करुण-रस-प्रधान बुद्धचरित नामक संस्कृत महाकाव्य है। 'चरकसंहिता' के बनानेवाले चरक ऋषि कनिष्क के राजवैद्य थे।

बौद्ध नागार्जुन भी प्रायः कनिष्क के ही समय में हुआ था। कनिष्क का बेटा हुविष्क हुआ और हुविष्क का बेटा वासुदेव। कनिष्क बड़ा प्रतापी था। इसके राजदूत हूणों नामक चीन सम्राट् तथा रोम-सम्राट् की कचहरी तक पहुँचे थे। हुविष्क और वासुदेव का भी उत्तर भारत में विस्तृत राज्य रहा। रुद्रदाम के लड़कों ने सौराष्ट्र आदि पर अपना अधिकार किया।

कनिष्क के वंशवालों ने उत्तर भारत अपना लिया। इस प्रकार शकाब्दारम्भ से डेढ़ सौ वर्ष बीतते-बीतते आन्ध्रों का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। शकाब्द का आरम्भ लोग कनिष्क के समय से मानते हैं। भारत में शकाब्द और विक्रमाब्द बहुत प्रसिद्ध हैं। दोनों में एक बड़ी अद्‌भुत बात है कि जिस राजा के नाम से ये दोनों वर्ष प्रसिद्ध हैं उनसे कदाचित् इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। असल में शकाब्द का शालिवाहन से और विक्रमाब्द का विक्रमादित्य से सम्बन्ध समझने का ठीक मूल नहीं है। शालिवाहन तो शकाब्द के नाम से प्रसिद्ध ही है। विक्रमाब्द भी पहले मालवाब्द कहा जाता था। यही नाम इसका ठीक जान पड़ता था।

इस प्रकार शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुङ्ग, आन्ध्र राजवंशों के नष्ट होने पर चिरकाल तक भारतवसुधा अनाथ-सी पड़ी रही। वासुदेव के मरने के बाद सौ वर्ष तक किसीका अधिराज्य नहीं हुआ। जहाँ-तहाँ क्षुद्र सामंत स्वतंत्र विचरते थे। २३९ शाक वर्ष में गुप्त वंश का चन्द्र नाम का राजा मगध में हुआ। सिंहल राजा का इतिहास, दिपवंश, प्रायः चन्द्र के समय में बना था। लिच्छवी जाति की राजकुमारी कुमारदेवी से चन्द्र का ब्याह हुआ। इस ब्याह से लिच्छवी और मगध का विरोध शांत हो गया, और मगध राज्य का बल बढ़ा। चन्द्र और कुमारदेवी का पुत्र समुद्रगुप्त हुआ। सत्रह वर्ष तक चन्द्र का राज्य रहा। इसके बाद समुद्र का राज्य हुआ। समुद्रगुप्त बड़ा प्रतापी राजा था। हरिसेन कवि की बनाई हुई समुद्र की प्रशस्ति आज भी प्रयाग के किले में अशोक की शिला पर वर्त्तमान है। समुद्रगुप्त के समय में भारतीय राजदूत कंसतंतुपुरी में कंशतंतु राजा के पास पहुँचा था। पटना अयोध्या दोनों ही समुद्र की राजधानी थी। पटना का प्राचीन गौरव नष्ट हो चला था और पश्चिम में राज्य बढ़ाने के कारण अयोध्या, उज्जयिनी आदि नगरों पर भारतीय राजाओं की विशेष प्रीति होने लगी थी। समुद्रगुप्त ने दिग्‌विजय की। प्राय समस्त भारत को जीतकर और काम्बोजों से सधि कर सिंहलराज मेघवर्ण से पूजित होकर, समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। आधी शताब्दी तक इसका राज्य रहा।

समुद्रगुप्त का लड़का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य हुआ। विक्रमादित्य उपाधिवाले अनेक राजा हुए, पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-सा प्रतापी और कोई नहीं हुआ। सिन्धु के पार वाह्लीकों को, और सौराष्ट्र में शक मत्रुओं को, जीत कर विक्रमादित्य भारत के एकच्छत्र राजा हुए। विक्रमादित्य के समय में चीनी बौद्ध, फाहियान, तीर्थयात्रा के लिए भारत में आया था। गुप्त राज्य में चोर-डाकू नहीं होते थे, इस बात की इस यात्री ने बड़ी प्रशसा की है। विक्रमांक के समय में महाकवि कालिदास ने 'कुमार-सम्भव' के पहले आठ सर्ग, मेघदूत, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल बनाया। इसी समय में सोनार वंश के भूषण अमरु कवि ने अमरुशतक बनाया। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय बहुत-से पुराणों और स्मृतियों के संग्रह, जीर्णोद्धार तथा सस्करण हुए थे। पाटलिपुत्र, साकेत और उज्जयिनी, तीनों जगह

विक्रमादित्य के राज्य-कार्य होते थे, तथापि सम्राट् को उज्जयिनी से अधिक प्रीति थी। उस समय की उज्जयिनी की शोभा कालिदास ने मेघदूत में दिखाई है। अड़तीस वर्ष एकच्छत्र राज्य करके शक-शत्रु महाराज विक्रमादित्य कथाशेष हुए। विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त ने तैतालिस वर्ष राज्य किया। संभव है कि कालिदास ने अपनी वृद्धावस्था कुमारगुप्त की कचहरी में ही बिताई हो।

कुमारगुप्त के समय के आसपास, पक्षिलस्वामीकृत न्यायभाष्य के खण्डन करनेवाले, प्रमाणसमुच्चय के निर्माता, बौद्धतार्किक दिङ्नाग; प्रमाणसमुच्चय की खबर लेते हुए, न्यायवार्तिक बनानेवाले उद्योतकर; गद्यकाव्य वासवदत्ता के निर्माता सुबन्धु; और अन्यान्य अनेक सरस्वती-सेवक हुए थे। दिङ्नाग के गुरु बूढ़े वसुबन्धु बहुत रोज तक कुमारगुप्त के मंत्री थे। सुराष्ट्र में कुमारगुप्त के गवर्नर पर्णदत्त थे, जिनके पुत्र चक्रपालित ने भावनगर के सुदर्शन ताल की मरम्मत की थी। अंतरवेदी में कुमारगुप्त के गवर्नर सर्वनाग थे। ऐसे ही गवर्नरों से कुमारगुप्त भारत का शासन करता था।

कुमारगुप्त का पुत्र स्कंदगुप्त हुआ। स्कंदगुप्त के समय में बीजगणित के महर्षि आर्यभट्ट पटना में हुए। सिंहलों का इतिहास महावंश स्कंदगुप्त के समय में बना था। इसी समय रघुवंश की छाया लेकर सिंहल के राजा कुमार दास ने जानकीहरण काव्य बनाया।

इस समय भारत, यवन, रोम आदि में प्राचीन आर्यों की सभ्यता, भीतर-भीतर आथर्वणिकता के कीड़ों से खाये जाने के कारण, कुछ ऐसी दुर्बल हो गई थी कि रोम से भारत तक बड़ा भारी वन्यविसर्प हुआ।

काश्मीर के उत्तर में हूण लोग दानव (Danube) नद के किनारे तक पहुँचे थे। इनके उपद्रव के मारे, भागकर, दानव नद के गॉथ राक्षस, टिड्डी के दल के समान, रोम साम्राज्य पर टूट पड़े और साम्राज्य के पश्चिम अंश को काट गये। उधर भारत में भी हूणों ने घुसना आरंभ किया। वीर स्कन्दगुप्त ने कई बार हूणों को हटाया। किंतु अन्ततः अन्य भूमियों के सदृश भारतवर्ष भी वन्यविसर्प के समुद्र में डूब ही तो गया। चौबीस वर्ष तक स्कंदगुप्त का राज्य रहा। इसके बाद पुरगुप्त का राज्य हुआ। पुरगुप्त को लोग प्रकाशादित्य भी कहते हैं।

भारत में स्वर्णमुद्रा बहुत खराब हो चली थी। प्रकाशादित्य की मुद्राओं के सोने से मालूम पड़ता है कि इसने मुद्राओं की कुछ उन्नति की। पुरगुप्त के समय बृहत्संहिता के प्रणेता वराहमिहिर हुए। पुरगुप्त का लड़का नरसिंहगुप्त हुआ, जिसे लोग बालादित्य भी कहते हैं।

नरसिंह के समय में भारत के उत्तर शाकल का राजा तोरमाण हूण हुआ था। तोरमाण का बेटा मिहिरकुल हुआ। दोनों बाप-बेटा भारत का शिकार करना चाहते थे। कई बार मध्य-देश और मगध पर इनकी चढ़ाई हुई, पर मगधेश बालादित्य और मध्यप्रदेश के राजा यशोधर्म देव की वीरता से हूणों की पराजय हुई। मिहिरकुल तो बड़ा भारी राक्षस था। तीन करोड़ मनुष्यों को मारकर इसने 'त्रिकोटिहा' की पदवी पाई थी। वह मरण में भी

चारों ओर मुर्दों का बिछौना किये बिना सोता नहीं था। वह झगड़ा मोल लेता फिरता था। एक बार अपनी रानी के शरीर पर कपड़े में चरण की मुद्रा देखकर उसने बड़ा शोर मचाया। जब कञ्चुकी से यह बात मालूम हुई कि सिंहल के बने हुए कपड़ों पर राजा के चरणों की छाया रहती है, तब तो इसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। रानी को पैर की छाप का स्पर्श कराने के अपराध का बदला लेने के लिए मिहिरकुल फौज लेकर सिंहल को दौड़ा। सिंहल को तथा आते-जाते अन्य देशों को, इसने नष्ट किया। यह काश्मीर के फाटक पर पहुंचा तो फौज का एक हाथी किसी तरह लुढक कर सड़क से पहाड़ी खड्ड में गिर गया। मरते हुए हाथी का चिल्लाना सुनकर मिहिरकुल इतना खुश हुआ कि और सौ हाथियों को मँगाकर उसने जबरदस्ती खड्ड में लुढ़काया। आर्य सिंह आदि हजारों बौद्धों को इसने बकरों की तरह हलाल किया। कोरुड़ की लड़ाई में बालादित्य ने तो इसकी अच्छी दशा बनाई थी। यह जीता पकड़ा गया था, पर बालादित्य ने कृपा कर इसे छोड़ दिया।

लोग कहते हैं कि इन राक्षस को भी दान की श्रद्धा हुई। भारतवाले बाबाजी लोगों को इस हत्यारे से दान लेने का उत्साह नहीं हुआ। शाकल से आकर कई लोगों ने इससे दान लिया। कितने लोगों का अनुमान है कि उसी समय से शाकलद्वीपी लोग यहाँ आये। चिरकाल तक राज्य कर, अंत में अनेक रोगों से पीडित होकर, मिहिरकुल आग में समा गया।

मिहिरकुल के बाद काश्मीर-मण्डल प्रायः अराजक रहा। काश्मीर के मन्त्री लोगों ने महाराज विक्रमादित्य के वंश के प्रतापादित्य नामक राजकुमार को लाकर काश्मीर के सिंहासन पर बिठाया। इसी बीच हर्षविक्रम नाम के एक प्रतापी राजा उज्जयिनी में हुए। पारस का प्रसिद्ध राजा अनुशीलवान् हर्षविक्रम का समकालिक था। अनुशीलवान के समय में पञ्चतन्त्र का फारसी अनुवाद हुआ था। हर्षविक्रम ने मातृगुप्त कवि को काश्मीर का राज्य दिया। मातृगुप्त की कचहरी में हयग्रीव-वध महाकाव्य के निर्माता, कालिदास के प्रतिभट, भर्तृमेण्ठ महाकवि हुए। हर्षविक्रम के मरने पर शोक से मातृगुप्त राज्य छोड़कर और संन्यास लेकर काशी चले गये।

प्राचीन राजवंश का कुमार प्रवरसेन बड़ा वीर था। इसने अपनी सेना के लिए नावों का पुल बनवाया था। उज्जयिनी से छीनकर वह अपने वंश का सिंहासन फिर से काश्मीर में लाया। हर्षविक्रम के वंश के प्रतापशील को इसने पुनः उज्जयिनी की गद्दी पर बैठाया।

प्रायः इसी समय प्रभाकरवर्द्धन स्थाणीश्वर का राजा हुआ। प्रभाकरवर्द्धन के दो लड़के हुए—राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन। राज्यवर्द्धन मालवों के साथ लड़ता हुआ, बंगाली राजा शशाक के छल से, मरा। मालवों ने हर्षवर्द्धन के बहनोई कान्यकुब्जेश्वर गृहवर्मा को मारकर, हर्ष की बहिन राज्यश्री को बन्दीखाने में डाला।

बन्दीखाने से भागकर राज्यश्री विन्ध्याचल में भटक रही थी। हर्षवर्द्धन ने अपनी बहिन को ढूँढ़ निकाला और उसे घर लाने के बाद बंगाली राजा शशांक से लड़-झगड़कर

और मालवों को तंग कर भ्रातृवध का बदला लिया। कादम्बरी और हर्षचरित के प्रणेता बाणभट्ट और सूर्यशतक के प्रणेता मयूरभट्ट हर्ष की कचहरी में रहते थे। हर्ष के समय में वामन और जयादित्य ने पाणिनीय व्याकरण पर काशिकावृत्ति बनाई। हर्ष स्वयं भी बड़े विद्वान् थे। रत्नावली नाटिका, प्रियदर्शिका नाटिका और नागानंद नाटक इनके बनाये हैं। चीनीयात्री ह्यएनत्सङ्ग बहुत दिनों तक उनकी कचहरी में रहा। श्रीहर्ष के समय में वल्लभी में शिलादित्य और दक्षिण में पुलकेशी राजा हुए। पुलकेशी के पराक्रम से विजयी हर्षदेव नर्मदा लाँघकर दक्षिण नहीं बढ़ सके। पुलकेशी के लेख में पहले-पहल कालिदास और भारवि का नाम मिला है।

हर्षदेव के मरने पर उनका दीवान अर्जुन राज्य को खा बैठा। चीनवालों से अर्जुन की नहीं पटती थी। चीनों से लड़ाई करने में जिस दिन अर्जुन मरा, उस दिन से भारत की बड़ी बुरी दशा हुई। इसके बाद प्रायः प्रत्यंत के लोगों की चढ़ाई इस देश पर होती रही।

अर्जुन के मरने पर मगध में कुछ रोज तक आदित्यसेन गुप्त नामक एक बली राजा का राज्य था। इसी समय में वल्लभी में धरसेन राजा हुए, जिनके यहाँ भट्टि काव्य के बनानेवाले भट्टी कवि रहते थे। उधर वङ्गाल में पालवंश के गोपाल, देवपाल आदि राजा हुए। आदित्यसेन के कुछ दिनों बाद पाल राजाओं ने मगधराज्य अपने अधिकार में कर लिया। उधर काश्मीर में कर्कोट वंश के बलशाली राजा हुए। चन्द्रापीड का पुत्र ललितादित्य हुआ, जिसका नाम लोग मुक्तापीड भी कहते हैं। मुक्तापीड बड़े विजयी राजा थे। इनका समय प्रायः जय-यात्राओं में बीता। कान्यकुब्ज के राजा महाकवि यशोवर्म्मा को ललितादित्य ने जीता। यशोवर्मा ने स्वयं रामाभ्युदय नाटक लिखा है। यशोवर्म्मा की कचहरी में उत्तरचरित, मालतीमाधव और वीरचरित के प्रणेता महाकवि भवभूति रहते थे। ललितादित्य का बनाया हुआ मार्त्तण्डमंदिर आज भी काश्मीर में वर्त्तमान है। प्रायः इसी समय मे मीमांसावार्त्तिककार कुमारिल भट्ट हुए थे। भवभूति के कुछ बाद मुरारि ने 'अनर्घराघव' नाटक बनाया।

फिर ललितादित्य का पोता जयापीड राजा हुआ। उत्तर भारत में व्याकरण-महाभाष्य नष्ट हो चला था। देशान्तर से लाया जाकर पुनः महाभाष्य का प्रचार जयापीड के परिश्रम से उत्तर भारत में हुआ। अमरकोश का व्याख्याता क्षीरस्वामी जयापीड का अध्यापक था। भट्टोद्भट इनका सभाकवि था, जिसकी एक लाख अशर्फी प्रतिदिन की दक्षिणा का राजतरङ्गिणी में उल्लेख है। कुट्टनीमत के बनानेवाले दामोदर गुप्त जयापीड के मंत्री थे। शिवस्वामी, वामन आदि कवि इनके यहाँ हुए। वामन के कुछ बाद दण्डी कवि हुए थे, जिन्होंने दशकुमारचरित और काव्यादर्श बनाया। जयापीड के समय में केरल में शंकराचार्य हुए थे, जिनका ब्रह्मसूत्रों पर मायावादपरक भाष्य प्रसिद्ध है। हलायुध, माघ आदि कवि प्रायः इसी समय के हैं।

जयापीड के पुत्र ललितापीड हुए। जयापीड का दूसरा पुत्र संग्रामापीड हुआ। ललितापीड का पुत्र बाल-बृहस्पति जयापीड हुआ। जयापीड के यहाँ महाकवि रत्नाकर हुए। जयापीड के पाँच मामा थे—पद्म, उत्पल, कल्याण, मम्म और धर्म्म। इन दुष्टों ने बालक राजा को मारकर राज्य पर अधिकार जमाना चाहा। अंततः मम्म और उत्पल में बड़ी लड़ाई हुई। इस युद्ध पर शम्भु कवि ने भुवनाभ्युदय काव्य बनाया। कुछ दिनों बाद मंत्रियों ने उपद्रव-शांति के लिए उत्पल के पोता अवन्तिवर्म्मा को राज्य दिया।

अवन्तिवर्म्मा बड़ा प्रतापी राजा था। देश-देशांतर से पंडितों को बुलाकर इसने पुनः विद्या का उत्तर भारत में प्रचार किया। मुक्तकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्द्धन, रत्नाकर आदि कवि और भट्टकल्लट आदि शैव दार्शनिक इसके साम्राज्य में हुए। अवंतिवर्म्मा के दोवान सूर्य ने जहाँ-तहाँ नहरें खुदवाकर जलोपद्रव से काश्मीर को बचाया। अभिनन्द, भट्टनारायण, रुद्रट आदि कवि इसी काल में हुए।

प्रायः अवंतिवर्म्मा के समकालिक कान्यकुब्ज के राजा महापराक्रम भोजमिहिर आदिवराह थे। भोजवराह के समय में विशाखदेव ने मुद्राराक्षस नाटक बनाया। नल चम्पू बनानेवाले त्रिविक्रम भट्ट इसी समय में हुए थे।

भोजवराह के पुत्र महेन्द्रपाल हुए जिनके अध्यापक, कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण और विद्धशालभञ्जिका के बनानेवाले राजशेखर कवि थे। महेन्द्रपाल का बेटा महीपाल हुआ। उधर अवंतिवर्म्मा के मरने पर शंकरवर्म्मा राजा हुआ। शंकरवर्म्मा के दिवालय म आलकारिक भट्टनायक चातुर्वेद थे। अभी तक भारत में पंडों, भिक्षुकों आदि का भारत के मंदिरों पर अधिकार नहीं हुआ था। चार विद्या के जाननेवाले लोग मंदिराध्यक्ष होते थे। शंकरवर्म्मा के मरने पर उसकी रानी सुगंधा के अविनय से राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। अब राज-राक्षसों से भारत पीड़ित हो चला था। उसी समय, जैसे आसाम के *जंगलों में पागल हाथी दौड़ता है, वैसे ही* महमूद भारत में घुसा। मथुरा, सोमनाथ आदि को लूटते हुए इसने भारतीयों के पाप का अच्छा प्रायश्चित कराया। इसके बाद कुछ दिनों तक चेदिराज रङ्गिमदेव का भारत में चक्रवर्ती का-सा आदर हुआ।

इसी समय में सायक के पुत्र वाक्पति राजा मुञ्ज मालव देश के स्वामी हुए। *इनके सभा-कवि धनञ्जय ने दशरूपक बनाया। प्रायः मुञ्ज के समय में ही भामतीकार* वाचस्पति मिश्र हुए थे। मुञ्ज के छोटे भाई सिंधुराज हुए, जिनकी कथा लेकर पद्मगुप्त परिमल ने साहसाङ्कचरित बनाया है। सिंधुराज के पुत्र प्रसिद्ध भोजदेव हुए जिनकी कीर्त्ति सरस्वतीकण्ठाभरण और चम्पू-रामायण है। भोज के समय में दामोदर मिश्र ने महानाटक का संग्रह किया। तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल सूरि भी भोज के समय में हुए थे। गांगेयदेव के पुत्र करणदेव ने गुर्जरों से मिलकर बेचारे भोज को पीस डाला। *इस पाप का उसे सद्यःफल यह मिला कि स्वयं भी कीर्त्तिवर्म्मा से हराया गया।* चंदेल कीर्तिवर्म्मा की कचहरी में प्रबोधचंद्रोदय-कर्त्ता कृष्ण मिश्र रहते थे। भोज के समकालिक

शिक्षाविषयक भारतीयों का सद्यःकर्तव्य

प्रायः सब देशों में जनता, जातीय शिक्षा में, देशभाषा का उपयोग करती है, वैदेशिक भाषा को, शिक्षा में, प्रधानता नहीं देती। हाँ, वैदेशिक भाषा की शिक्षा भी कुछ लोग आवश्यक समझते हैं, पर केवल व्यक्तिविशेष के लिए और उद्देश्यविशेष के साधन के रूप में। जनता का, शिक्षा के लिए, वैदेशिक भाषा का उपयोग करना अस्वाभाविक है।

यहाँ इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि भाषा की शिक्षा और भाषा में शिक्षा, ये दोनों भिन्न बातें हैं। हिन्दी भाषा के द्वारा इतिहास, दर्शन या शिल्प सीखना और बात है, और हिन्दी बोलने-लिखने की शिक्षा इससे भिन्न ही वस्तु है। आजकल जिस भाषा के द्वारा इतिहास, विज्ञान, आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है, उसे शिक्षा का माध्यम कहते हैं। वस्तुतः हमारे देश में अभी भाषाओं की ही शिक्षा दी जाती है, भाषा में विषय-शिक्षा की मात्रा बहुत ही थोड़ी है। हमारे बालक संस्कृत, अँगरेजी या अपनी-अपनी मातृभाषा (हिन्दी, बंगला आदि) सीखने की चेष्टा करते हैं। सौ में एक कुछ सफल भी हो जाता है। पर अपनी भाषा या वैदेशिक भाषा में वस्तु की शिक्षा, अर्थात् दर्शन, विज्ञान आदि का असली ज्ञान, प्रायः दस हजार पढ़नेवालों में से एक को होता है, क्योंकि देश में शब्द-शिक्षा-प्रणाली इतनी विस्तृत हो गई है कि वस्तु-शिक्षा की ओर न तो लोगों का ध्यान है और न उसके लिए उत्तम प्रबन्ध ही है। सारा देश चावल के लिए तण्डुल या Rice, सोने के लिए सुवर्ण या Gold, रात-रात भर के परिश्रम से 'घोख' कर याद रखना ही परम पुरुषार्थ मान रहा है। मिट्टी से चावल या सोना कैसे निकाला जाता है, ये निकलने पर क्या-क्या काम देते हैं, इन बातों की ओर से लोग विमुख हैं और उनकी विमुखता बढ़ती ही जाती है। किसान, शिल्पी आदि सभी पेशेवाले शब्द-शिक्षा में ही अपने-अपने बालकों को लगाकर और ज्ञान-विज्ञान को तिलाञ्जलि देकर देश का उद्देश्य दस्तासेवन मात्र बना रहे हैं। कहीं-कहीं वस्तु-शिक्षा कुछ दी भी जाती है तो वह ऐसी भाषा में और इतने अधिक व्यय से कि सर्वसाधारण के लिए उससे लाभ उठाना असम्भव हो जाता है।

ऐसी दशा में देश का क्या कर्तव्य है, इस सम्बन्ध के कतिपय प्रस्ताव यहाँ उपस्थित किये जाते हैं। आशा है, देश की जनता अपनी दीर्घ तंद्रा का त्याग करेगी, अपने बच्चों और अपने देश के कल्याण के लिए इन प्रस्तावों पर ध्यान देगी, तथा इन प्रस्तावों को कार्य में परिणत करने का उद्योग करेगी। जिन लोगों को पर्याप्त समय, शक्ति और द्रव्य आदि हैं तथा जो लोग स्कूल, कालेज आदि में शिक्षा पा रहे हैं, वे चाहे

नौकरी के लिए पढ़ें, जैसा लाखों लोग कर रहे हैं, या ज्ञान-विज्ञान के लिए पढ़ें, जैसा दो-चार कर रहे हैं, उन्हें स्कूल-कालेज से हटाना उचित नहीं। वे जिस रास्ते जा रहे हैं उन्हें उसी रास्ते जाने देना चाहिए। पर जो लोग द्रव्य आदि के अभाव से स्कूल-कालेज में नहीं जा सकते, उनकी ओर देश का कुछ भी ध्यान नहीं है। उनके लिए देश ने न तो अभी तक कुछ किया है, और न आज भी कर रहा है।

यह देश के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इन बालकों के लिए देश को बहुत शीघ्र प्रबन्ध करना चाहिए। मेरी सम्मति में इन बालकों की शिक्षा के लिए स्थान-स्थान पर शिक्षा के आश्रम स्थापित होने चाहिए, जिनमें निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो। इन आश्रमों का प्रबन्ध जनता के द्वारा दिये धन से होना चाहिए। इन आश्रमों का ऐसा संगठन हो, जिससे इनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों के मस्तिष्क का संस्कार हो और इनके हाथ-पैर भी शिल्प-कला आदि उपयुक्त कार्यों में अभ्यस्त होकर, जीविकालाभ में, इन्हें सहायता दे सकें। ऐसा एक भी आदर्श आश्रम यदि देश में बन जाता और उसकी शाखा-प्रशाखाओं को देश भर में धीरे-धीरे बढ़ाने का प्रयत्न होता तो देश-वासियों के सर से एक बड़ा कलंक दूर हो जाता; लोगों को यह कहने का अवसर न रहता कि यह देश दिनोदिन अविद्यान्धकार की ओर बड़े वेग से पैर बढ़ा रहा है, और यह बात भी न कही जाती कि यह देश दिग्भ्रान्त होकर, जिधर जाना है ठीक उसकी उलटी ओर जा रहा है।

ऐसे आश्रम में आवश्यक शिक्षा का पूरा-पूरा प्रबंध होना चाहिए। एक औषधोद्यान होना चाहिए। प्रत्येक वृक्ष, लता, आदि पर उनके नाम संस्कृत और हिन्दी में लिखे होने चाहिए। बाहरी औषधियों के सूखे नमूने वहाँ रखे जाने चाहिए। ऋषियों ने अपूर्व परिश्रम से अद्भुत औषधियों के गुण निकाले हैं। उनके ज्ञान से देश के धन, धर्म तथा जीवन तीनों की रक्षा होती थी और आज भी हो सकती है; पर दुर्दैववश हमलोगों ने इस विज्ञान की उपेक्षा की है। आज हरीतकी और हर्रे के बदले terminalia chebuta तथा अपामार्ग और चिचिड़ी के बदले achyranthes aspera सीखने की दशा आ गई है। ऐसे उद्यान के अभाव में वैद्य, रोगी तथा दूकानदार, तीनों औषधों के ज्ञान तथा उपयोग से वंचित हो रहे हैं। 'अंधा गुरु, बहिरा चेला, मांगे हर्रे दे बहेरा' इस आभाणक (कहावत) की चरितार्थता हो रही है। औषधोद्यान बनाना कोई बड़ी बात नहीं। लाखों-करोड़ों के व्यय से बड़े-बड़े बाग भारत में बने हैं और बनते हैं। प्रायः एक हजार वृक्ष, लता, घासपात का औषधोद्यान दुर्घट या बहुव्ययसाध्य नहीं, फिर भी दुःख की बात है कि इधर किसी की प्रवृत्ति नहीं है। ऐसा औषधोद्यान देश के लिए बड़ा ही मंगलकारी है। इसके निर्माण में देशवासियों को पूरी सहायता करनी चाहिए। सहायता हर प्रकार की होनी चाहिए, जिससे बाग सर्वांगसुन्दर बन सके। बीच-बीच में अवकाश के अनुसार लोगों को स्वयं वहाँ जाना चाहिए तथा वृक्षों, लताओं और औषधियों का परिचय प्राप्त करना चाहिए। ऐसे बाग में साक्षर पुरुष को आसानी से जैसी शिक्षा मिल सकती है वैसी शिक्षा अन्य स्थानों में बड़ी कठिनता से भी नहीं मिल सकती। ऐसे उद्यानों से ठीक समय पर संग्रह किये गये औषध आदि दिये जायँ और उनका उचित मूल्य

लिया जाय तो इससे उद्यान के व्यय में भी सहायता पहुँचे और जनता का भी, विशुद्ध औषध मिलने से, परम उपकार हो।

उस आश्रम में औषधोद्यान के साथ-साथ ग्रह आदि के निरीक्षण के लिए एक वेधालय भी होना चाहिए, और उसमें साधारण यन्त्रों का संग्रह होना चाहिए। यहाँ दूरवीक्षण आदि यन्त्रों की सहायता से आश्रम के विद्यार्थियों तथा साधारण जनता के लिए आकाश-निरीक्षण का प्रबंध होना चाहिए। इससे उनका ज्ञान बढ़ेगा और चित्त का विकास होगा। बड़े-बड़े विद्वान् इस औषधोद्यान तथा वेधालय से पूरा लाभ उठा सकते हैं। वे अपने अध्ययन का प्रयोग कर सकते हैं, अपने ज्ञान को बढ़ा सकते हैं और तत्त्वान्वेषण भी कर सकते हैं। ऐसा होने से देश में नये-नये आविष्कार होने लग जायँ, उनसे देशवासी लाभ उठावें और देशान्तर के लोग चकित हो जायँ।

औषधोद्यान और वेधालय के साथ-साथ मुख्यतया संस्कृत और भाषा की पुस्तकों का, और भाषान्तरीय उपयुक्त पुस्तिकाओं, पत्रों आदि का भी संग्रह होना चाहिए। देश का पुस्तक-भाण्डार अद्भुत और विस्तृत है। कोई विषय इस में बाकी नहीं है। दर्शन, विज्ञान, काव्य, नाटक, इतिहास, शिल्पकला आदि की कोई सीमा नहीं है। संस्कृत पुस्तकों का एक-एक सूचीपत्र दस-बीस से लेकर सौ रुपये मूल्य तक का बन चुका है। पर देशवासी विद्वानों में से इने-गिने लोगों को ही इन्हें देखने का सौभाग्य हुआ होगा। देश में हिन्दी-संस्कृत के पुस्तकालय थोड़े ही हैं। जो हैं भी, वे ऐसे ढंग के हैं कि वहाँ सर्वसाधारण का पहुँचना दुस्तर है। ऐसी अवस्था में देशवासी कैसे विद्या का लाभ, या नूतन ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार कर सकते हैं।

इस आदर्श आश्रम के तीनों विभागों में, सर्वसाधारण के हित के लिए कितनी सुगमता से विद्योन्नति हो सकती है, यह बात सभी आसानी से समझ सकते हैं। पर इस उन्नति के लिए आश्रमवालों तथा जनता को कुछ नई बातों का भी खयाल रखना होगा। तथा नये ढंग की शिक्षापद्धति बनानी होगी। यहाँ शिक्षा का क्रम ऐसा रखना होगा जिस से विद्यार्थी की शक्ति, समय आदि के पच्चासवें प्रतिशत अंश का व्यय, देश-भाषा द्वारा, शिल्पकला के अध्ययन में हो। सर्वसाधारण की शिक्षा की व्यवस्था सुगम, सुबोध कथा आदि के रूप में होनी चाहिए, जिससे यह सभी ज्ञान-विज्ञान आदि अनायास सीख जायँ।

यदि बहुत धन के व्यय से, बीस-तीस वर्ष वैदेशिक भाषा की शिक्षा में लगाकर छात्रों को थोड़ा-सा वास्तव ज्ञानविज्ञान देना ही देश का उद्देश्य हो तो इसके लिए वर्तमान शिक्षा-संस्थाएँ ही पर्याप्त हैं, नई संस्थाएँ खोलना व्यर्थ है। किन्तु हमारा परम उद्देश्य तो देश-भाषा में शिल्पकला की शिक्षा बहुत से छात्रों को देकर, थोड़े ही लोगों को शाब्दिक शिक्षा की ओर लगे रहने देना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए और विद्यार्थी समाजों के लिए जो पहले तीन विभाग, औषधोद्यान, वेधालय और पुस्तकालय, बतलाये गये हैं, उनके साथ ही साथ शिल्पकला के लिए भी दस-बारह विभाग खोलने होंगे। बढ़ई राज लुहार,

चमार, ठठेरा, कसेरा, रंगसाज, पहोलाज, माली, हलवाई आदि के कामों के लिए अलग-अलग विभागों का प्रबन्ध आश्रम में करना होगा, जिससे हाथ से काम करनेवाले भी अच्छे संस्कार और अच्छे मस्तिष्क पा सकें और वे पुरानी-नई किसी भी कारीगरी में नौकरी में निरपेक्ष होकर, अपना जीवन सुख से तथा गौरव से बिता सकें। इससे देश का यह बड़ा भारी कलंक—विद्वान् हाथ का काम नहीं कर सकते और हाथ के काम करने वाले मस्तिष्क का काम, आविष्कार आदि, नहीं कर सकते—दूर हो जायगा और इस पतनोन्मुख भूमि पर भी नये खयाल तथा उन्नत आदर्शों के लोग उत्पन्न होने लगेंगे।

(शिक्षा का सम्मेलनांक, खण्ड २७ संख्या १)

से हो सके वही इनके द्वारा सम्पादित हो सकता है। जैसे—ध्यान देकर पढ़ना या ध्यानपूर्वक कार्य में लगना, बिना मन लगाये काम से अधिक लाभदायक है। उद्योगी, उचित विचार वाले, पूर्णरूप से ध्यान देनेवाले, काम में लगे रहनेवाले तथा अन्य उपयोगी गुणों वाले लोग, जिन शिल्पकला तथा विज्ञानसंबंधी कार्यों को कर डालते हैं, वे ही सिद्धि या विभूति कहे जाते हैं।

२७. प्र०—कोई वस्तु निर्गुण या निराकार है या नहीं?
उ०—रूप और गुण से रहित कुछ भी नहीं है। भूख, सुख आदि या लालिमा आदि गुण भी अपने गुणियों से, मन ही में पृथक् किये जाते हैं, जिन्हें और पदार्थों की तरह ही रूप और गुण हैं।

२८. प्र०—चेतन किसे कहते हैं और अचेतन किसे कहते हैं?
उ०—जो बहुतेरे उपायों में से एक चुन लेता है वह चेतन है और जिसे केवल एक ही निर्दिष्ट साधन है, वह अचेतन है। एक सुई, जो लौह-चुम्बक के पास सदा एक ही गणित-निर्दिष्ट रेखा से होकर पहुँच जाती है, अचेतन है। परन्तु एक चींटी, जो चीनी के पास पहुँचने के लिए अपनी राह को अवसर के हिसाब से बदलती है, चेतन है।

२९. प्र०—दैव किसे कहते हैं? पौरुष किसे कहते हैं? पुरुषार्थ किसे कहते हैं?
उ०—जो सम्पूर्ण अतीत है तथा जो एक व्यक्ति के अधिकार से बाहर है उसे भाग्य कहते हैं। जो उसके अधिकार में है वह पौरुष है। इन दोनों के सम्बन्ध के फल को दैव कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम के साधन की चेष्टा करनी चाहिए। इनके ही उचित अनुसरण, जिसमें सर्वात्मिक सेवा भी होती रहे, मोक्ष कहते हैं।

३०. प्र०—ईश्वर संसार का सर्जन करने वाला, शासन करने वाला या कारण कहा जा सकता है या नहीं?
उ०—सृष्टि करनेवाला और सृष्ट, शासन करनेवाला और शासित, कारण और कार्य—इनसे द्वैत झलकता है। अतः अद्वैत दिव्य सत्ता के संबंध में इनका उपयोग नहीं किया जा सकता।

३१. प्र०—मृत्यु किसे कहते हैं? क्या सुख-दुःख से रहित कोई हो सकता है?
उ०—प्राणशक्ति के बिगड़ जाने के कारण जीवन के लोप को मृत्यु कहते हैं। कोई भी सुख-दुःख से वस्तुतः मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु सुख-दुःख के सहने की शक्ति व्यक्तिविशेष तथा अवस्था पर निर्भर है।

३२. प्र०—शरीर के मरने पर आत्मा क्या हो जाता है?
उ०—जैसे घड़ी के पुर्जों के बिगड़ जाने से घड़ी के कार्य का लोप हो जाता है; वैसे ही जीवात्मा, जो शरीर का एक कार्यमात्र है, मृत्यु के साथ ही

लुप्त हो जाता है। प्रत्येक समुदाय[1] (Combination) अपने कार्य-विशेष के साथ नाशवान् है। समुदाय होने के कारण जीव में कोई नाशरहित अंश नहीं है। केवल सर्वात्मा ही नाशरहित है।

३३. प्र०—जन्म के पहले या मरने के बाद आत्मा का जीवन है या नहीं?

उ०—एक व्यक्ति-समुदाय (Individual Combination) का शक्ति-विशेष होने के कारण जीवात्मा समुदाय के आरंभ के पहले अथवा उसके नाश के बाद, नहीं रह सकता। आत्मा और समुदाय एक ही साथ रहनेवाले हैं।

३४. प्र०—संन्यास से या क्लेश से कुछ फल है या नहीं? तप किसे कहते हैं?

उ०—संन्यास अथवा शरीर को कष्ट देना सर्वथा व्यर्थ है। संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना और सत्यप्रियता तथा सत्य को कठोरता के साथ कार्यरूप प्रदान करना ही सच्चा तप है।

३५. प्र०—पारमार्थिक ज्ञान किसे कहते हैं?

उ०—जीवात्मा सर्वात्मा का एक अंश है, ऐसा समझने को पारमार्थिक ज्ञान कहते हैं।

३६. प्र०—धर्म का क्या मूल है और धर्म का शत्रु क्या है?

उ०—अभेद में भेद का ज्ञान और फलतः प्रत्येक व्यक्ति के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना तथा सत्यप्रियता—ये ही धर्म के मूल हैं। चाहे भेद हो या अभेद, इनमें से किसी एक की भी अवज्ञा करने का अर्थ है व्याहत बातों के प्रति अनुराग। यही सभी अधर्मों का मूल है तथा धर्म का विरोधी है।

३७. प्र०—शाश्वत धर्म के अनुसार कौन-से गुण मुख्यतया मनुष्य के लिए अनुसरणीय हैं?

उ०—धैर्य, क्षमा, मन को रोकना, चोरी न करना, शुद्ध रहना, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या और सत्य का अर्जन करना तथा क्रोध न करना, ये ही शाश्वत धर्म के अनुसार धर्म के मुख्य लक्षण हैं। मनु ने भी कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

३८. प्र०—विचाररूप और कर्त्तव्यरूप धर्म के मूल तत्त्व कौन-से हैं?

उ०—श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्॥

विचाररूप धर्म का मूल सत्य है और कर्त्तव्यरूप धर्म का मूल यह है कि जो अपने को बुरा लगे उसे दूसरे के प्रति नहीं करें।

३९. प्र०—किन बातों से धर्म केवल खेल और नाममात्र का हो जाता है?

१. समुदाय शब्द लेखक के द्वारा Combination के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चूँकि 'समुदाय' हिन्दी में अन्य अर्थ में रूढ़ हो गया है, इसलिए अँगरेजी का यह प्रतिशब्द दे दिया गया है जिसका प्रयोग स्वयं लेखक ने ही किया है।

उ०—सब कु जन्तु के आकार का समझना, शब्द-व्यवहार के अनुसार वस्तु की कल्पना करना, संसार को मायामय समझना, ये तीन प्रकार के उन्माद धर्म को केवल तमाशा और नाममात्र का बना देते हैं।

४०. प्र०—कहानी (पुराण) किसे कहते हैं ?

उ०—प्रकृति की वे बातें, जिनका जन्तुओं के दृष्टान्त द्वारा अथवा अलंकार रूप से वर्णन किया जाता है, कहानी (पुराण) है।

४१. प्र०—आध्यात्मिकता किसे कहते हैं ?

उ०—केवल सत्य में प्रीति और उसका अनुसंधान तथा सभी प्रकार के झूठ से पक्की घृणा—विशेष कर पाखण्ड (अर्थात् पवित्र नाम में जो झूठी बात हो) से—सच्ची आध्यात्मिकता है।

४२. प्र०—नास्तिक्य किसे कहते हैं ? आस्तिक्य किसे कहते हैं ?

उ०—जो नहीं है उसे है, जानकर पूजना नास्तिक्य है, जैसे—पिशाच-पूजा, परोक्ष-दृष्टि में विश्वास आदि। और, जो नहीं है उसका पक्का निराकरण तथा जो उसमें अटल भक्ति आस्तिक्य है।

४३. प्र०—स्त्री की स्थिति और शिक्षा, विधवा-विवाह और समुद्रयात्रा पर शाश्वत धर्म का क्या विचार है ?

उ०—शाश्वत धर्म के अनुसार स्त्री-पुरुष समान रूप से स्वतंत्र हैं। परन्तु, जहाँ तक हो सके, स्त्री अपनी ही स्वतंत्र इच्छा से अपने रक्षक (पिता, पति, पुत्र इत्यादि) के साथ रहे। सयानी स्त्री को अपने अधीन रखने का अधिकार किसी को नहीं है—जैसे किसी सयाने पुरुष को अपने अधीन रखने का किसी को अधिकार नहीं है। कानूनी बातों में सरकार ही पुरुष या स्त्री को अपने वश में रख सकती है। स्त्री को सभी प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है। विधवा यदि चाहे तो पति कर सकती है और कोई भी इस काम से उसे नहीं रोक सकता। इस विषय में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि स्त्री या पुरुष के युवावस्था प्राप्त होने के पहले विवाह संस्कार विवाह नहीं है और युवावस्था प्राप्त होने के पहले मैथुन अपराध है। पुरुषत्व या स्त्रीत्व के ह्रास के बाद विवाह करना भी अपराध है। विदेशयात्रा के विषय में, कोई भी क्यों न हो, जैसे अपने देश में रहता हो वैसे ही रहे, तो पृथ्वी के दूर से दूर के कोने तक जा सकता है।

४४. प्र०—भारतीयों के ह्रास के क्या कारण हैं ? क्या शाश्वत धर्म यह मानता है कि विदेशियों के शासन के परिणामस्वरूप किसी देश की भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पहुँचती है ?

उ०—कलि-काल, दैव, पिता-माता की अपेक्षा संतान का अनिवार्यरूप से ह्रासोन्मुख होना, साधुओं के चमत्कार और दैवी शक्ति आदि में विश्वास रखने के कारण,

प्रायः पिछले पंद्रह सौ वर्षों से, भारतीय जीवन के मूल पर कुठाराघात होता रहा है। इसी कारण भारतीयों का ह्रास होता चला जा रहा है। भारतीय जीवन की परंपरा तथा शास्त्रों का आदेश यही है कि विदेशी शासन असह्य है, किन्तु साथ ही साथ, अंधविश्वासी स्वदेशवासी की अपेक्षा योग्य और विद्वान् विदेशी अधिक आदरणीय है। विदेशी शासन हो या अयोग्य स्वदेशनिवासियों का शासन, दोनों ही दशाओं में देश की उन्नति में बाधा पहुँचती है।

४५. प्र०—विवाह, श्राद्ध, संध्यावन्दनादि प्राचीन और अर्वाचीन रीति-रस्मों पर शाश्वत धर्म का क्या विचार है?

उ०—इन रीति-रस्मों से संबद्ध विधि-विधान और प्रतीक परंपरागत हैं और इनका कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक महत्त्व नहीं है। पूर्वजों के आदेशानुसार उनका वहीं तक पालन करना उचित है जहाँ तक वे विधि-विधान आदि प्रतीकों के मूलगत सत्यों के लिए बाधक नहीं सिद्ध होते।

४६. प्र०—शाश्वत धर्म के अनुसार मनुष्य की बड़ाई, छोटाई का निश्चय कैसे होता है? अशिक्षित ब्राह्मणों को क्या समझना चाहिए?

उ०—सच्ची विद्या (सच्ची बातों का ज्ञान) और उसका यथार्थ उपयोग, इन्हीं से मनुष्य का महत्त्व जाँचा जाता है। किसी भी शिक्षित मनुष्य की तुलना में एक अशिक्षित ब्राह्मण वैसा ही है जैसा जीवित हाथी की तुलना में एक लकड़ी का हाथी।

४७. प्र०—प्रतीक-पूजा पर शाश्वत धर्म की क्या राय है?

उ०—प्रतीक-पूजा वैकल्पिक है। जिसे अपने पिता-माता आदि में भक्ति हो, वह उनकी मूर्त्ति रख सकता है या नहीं भी रख सकता। इससे उसकी भक्ति में कुछ भेद नहीं पड़ता।

४८. प्र०—त्यागियों को शाश्वत धर्म क्या मानता है? पारमार्थिक संन्यास किसे कहते हैं?

उ०—जो लोग पूरे समय तक गृहस्थ रहकर जीवन बिता चुके हों (जब उनके लड़कों के लड़के हो गये हों और तीनों ऋण चुक गये हों), वे यदि प्रशान्त जीवन बितावें तो उनकी प्रतिष्ठा है। परन्तु जिन्होंने असमय ही, गृहस्थाश्रम बिताये बिना ही, संन्यास ले लिया हो, वे समाज के जोंक और कीड़े हैं। संसार से वैराग्य लिये बिना भी अपना कर्त्तव्य करना वास्तविक संन्यास और जीवन्मुक्ति है।

४९. प्र०—मांसाहार के विषय में शाश्वत धर्म का क्या मत है?

उ०—ब्रह्मचारी विद्यार्थियों और गृहत्यागी संन्यासियों के लिए निरामिष भोजन उपयुक्त है। गृहस्थ अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार सामिष या निरामिष

भोजन कर सकते हैं। मछली को छोड़कर गंदे और मांसाहारी पशुओं का मांस अखाद्य हैं।

५०. प्र०—क्या किसी ग्रन्थ या पुरुष का सब कहना मानने के योग्य है ?

उ०—धार्मिक या कानूनी आज्ञा के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ या कोई पुरुष सर्वथा प्रमाण नहीं है। केवल धार्मिक या कानूनी आज्ञा अपने विषय में सर्वथा प्रमाण है।

साहसांक-चरित-चर्चा

नव-साहसांक-चरित नाम के अनेक ग्रंथ थे। नैषधकार श्रीहर्ष ने अपनी बनाई चम्पू का नाम नव-साहसांक-चरित चम्पू लिखा है; पर इससे भी प्राचीन नव साहसांक चरित-काव्य पद्मगुप्त कवि का बनाया हुआ है। पद्मगुप्त का नाम परिमल-कालिदास भी है, पर केवल परिमल नाम से इनकी बहुत प्रसिद्धि है। कवियों के जीवन परमारवंशावतंस श्री भोजदेव (९३२-९७६) शक शताब्दी में, धारानरेश थे। श्री भोजदेव के पिता सिन्धुराज (९१७-९३१ श०) थे। सिन्धुराज के बड़े भाई वाक्पतिराज (मुञ्जराज ८९४-९१६ श०) थे। इन्हीं वाक्पतिराज और सिन्धुराज की सभा में परिमल कवि थे। जैसा कि साहसांक-चरित के प्रथम सर्ग में कवि ने कहा है—

दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त यां वाक्पतिराजदेवः।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां संप्रति सिन्धुराजः

(साहसांक-चरित सर्ग १, श्लोक ८)

और भी इस कवि ने कहा है—

सरस्वती कल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम्।
यस्यप्रसादाद्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि सञ्चरामः॥

(साहसांक० १-७)

इस कवि ने अपने पहले के कवियों में भर्तृमेण्ठ कवि की बड़ी प्रशंसा की है। कवि की उक्ति है—

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः॥

(साहसांक० १-५)

किसी-किसी पुस्तक में श्री भर्तृमेण्ठ के बदले श्रीकालिदास शब्द मिला है। कवि ने कालिदास की भी बहुत प्रशंसा की है—

प्रसादवद्यालंकारैस्तेन मूर्त्तिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव॥

(साहसांक० २-९३)

फिर भी कवि ने कहा है—

पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि तेषामदूरे पुरतो यशांसि।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्तिव्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति॥

(साहसांक० १-६)

परिमल कवि ने नृपकवि श्रीहर्षवर्धन और उनके सभासद बाणभट्ट और मयूरभट्ट का भी नाम लिया है—

सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ।।

(साहसांक० २–१८)

गुणाढ्य कवि और उनकी बृहत्कथा की भी बात साहसांक-चरित में आई है—

करेण सासूयमपास्य कर्णतः श्रवणवृद्धिरेकावलिनीलमुत्पलम् ।
तवैतयाभ्युद्गतपक्षपातया श्रुता गुणाढ्यस्य बृहत्कथा तव ।।

(साहसांक० ७–६४)

राजाओं में श्रीहर्ष के अतिरिक्त इसने श्रीविक्रमादित्य और सातवाहन का भी नाम लिया है—

अस्ति क्षितावुज्जयिनीतिनाम्ना पुरी विहायस्यमरावतीव ।
बबन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः ।

(साहसांक० १–१७)

अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने ।
कविमित्र विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती ।।

(साहसांक० ११–९३)

परिमल का यह श्लोक—

चित्रवर्तिन्यपि नृपो तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ।।

(साहसांक० ६–४२)

वाक्पतिराज के सभासद धनिक के दशरूपावलोक में भी है। परिमल कवि कालिदास के सदृश शैव थे। उनका मंगल का श्लोक शिवपार्वती के ऊपर है—

अव्यात् स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यविज्ञातमरचापलीलाम् ।
जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः ।।

(साहसांक० १–१)

पौराणिक कथा में मध्यम समय की प्रीति तो बहुत ही थी। बिल्हण कवि के नायक, विक्रमांक के वंश के आदि पुरुष, ब्रह्मा के चुल्लू से निकले थे; इसीसे वंश का नाम चालुक्य पड़ा था। परिमल के नायक, सिन्धुराज के मूल पुरुष, परमार, आग की आहुति से निकले थे। परमार के वंश में उपेन्द्र, वाक्पतिराज (प्रथम), वैरिसिंह और सीयक हुए। सीयक के दो पुत्र हुए—वाक्पतिराज (द्वितीय) और सिन्धुराज। इस प्रकार से परमार वंश का वर्णन एकादश सर्ग में पाया जाता है। जान पड़ता है कि प्रसिद्ध विक्रमादित्य या विक्रमांक को लोग साहसांक भी कहते थे; क्योंकि विक्रम और साहस प्रायः पर्यायी शब्द हैं। सिन्धुराज को लोगों ने नया विक्रम या नवसाहसांक कहना आरंभ किया। परिमल के काव्य की कथा, उपन्यासों की कथा

से भी बढ़ गई है; नाग देवयोनि आदि से भद्दी-सी हो गई है; आश्चर्य-वृतान्तों से लद गई है। पर, कविता बड़ी मधुर और प्रासादिक हुई है। कहने के लिए तो सब कवि वैदर्भ रीति से ही लिखना चाहते हैं।

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः।
सभीमभूमिपतिराजधानीं लक्षीचकाराय रयस्यदस्य ॥
(नैषध ६-१)

ऐसे ऊँट की टाँग के सदृश गिरहदार श्लोक लिखने वाले नैषधकार भी अपनेको वैदर्भी देवी का उपासक समझते हैं जैसा कि,

धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
(नैषध ३-११६)

इस पद के व्यंग्यार्थ में झलकता है; पर असल वैदर्भी के उपासक, भास, कालिदास, मेण्ठ, परिमल आदि ही कहे जा सकते हैं; कहीं-कहीं विल्हण भले ही इस देवी के चरण तक पहुँचे। पहुँचने की प्रतिज्ञा तो विल्हण ने भी की ही है।

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभः प्रतिभूः पदानाम् ॥
(विक्रमांक० १-९)

श्रीहर्ष आदि तो बहुत ही कठिनता से कभी-कभी इस देवी की सेवा में पहुँचे हैं। जो माधुर्य और प्रसाद, कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में श्रीकालिदास की लेखनी से धारा-प्रवाह चली है, उस माधुर्य या प्रसाद का अनुभव परिमल के अतिरिक्त और किसी कवि के आलाप में नहीं मिलता है। अंगूर की मधुरता, चखे विना, कैसे कोई उसे समझ सकता है? वैसे ही, साहसांक-चरित का चतुर्थ सर्ग और कुमारसम्भव का पंचम सर्ग, जिसने बार-बार नहीं पढ़ा है, उसके लिए कालिदास की या परिमल कालिदास की उक्तियों की मधुरता का अनुभव असम्भव है—

नृपस्य कस्यापि परिच्छदांगना यदि त्वमुर्व्वीविभवोहि कोपितः
मरुत्पतिर्मेनक एव तन्वि यत्त्वयापि बालव्यजनेन वीज्यते।
(साहसांक० ४-५६)

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीश प्रतिसक्तमानसाम्।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥
(कुमारे ५-३)

प्रसह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद् विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥
(कुमारे ५-५४)

शिलीमुखोऽस्मिस्तवनामवाञ्छिते मृगोपनीते मृगशावलोचना।
प्रमोदमाप्तेयमितो विलोकिते करे चकोरीव तुषारदीधितेः ॥
(साहसांक० ७-६२)

ऐसी कविता की छटा क्या कालिदास और परिमल के अतिरिक्त और कहीं मिल सकती है?

परिमल को कोमलता का खयाल बराबर रहता है। कठिन अक्षर वीर रस में भी इसके मुख से नहीं निकलते—

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराजले
नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देवश्रुतायां पुरा ।।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे कृपणाः विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ।।१।।

परिमल की कठिन से कठिन कविता भी ऐसी ही होती है। कोमलता के खयाल से चरण के अन्त में दीर्घ अक्षर के प्रयोग से भी परिमल को भय होता है और प्रायः वे लघु अक्षरों का प्रयोग करते हैं। साहसांक-चरित के अतिरिक्त परिमल का कोई अन्य ग्रंथ अभी नहीं मिला है। पर, इनके अनेक पद्य सूक्ति संग्रहों में मिलते हैं—'मग्नानि द्विषतां कुलानि' इत्यादि पद्य ऐसे ही ग्रंथों से लिये गये हैं।

साहसांक-चरित की संक्षिप्त कथा यहाँ पाठकों की कौतुक-पूर्त्ति के लिए लिखी जाती है।

शिप्रा नदी के किनारे उज्जयिनी नाम की नगरी है। वहाँ सिन्धुराज नाम के राजा हुए। उन्हें लोग नव साहसांक और कुमार नारायण भी कहते हैं। उनके मंत्री यशोभट थे, जिन्हें कवि लोग रमांगद भी कहते हैं। सिन्धुराज की दूसरी कुल-राजधानी धारा थी।

एक समय राजा शिकार को चले। विन्ध्य-वन में शिकार करते-करते राजा ने एक अपूर्व मृग देखा। वे मृग के पीछे चले। उन्होंने उसे वाण मारा। वाण के साथ ही मृग जंगल में अदृश्य हुआ। थके-माँदे राजा भी एक पुष्करिणी के तीर पर पहुंचे। वहाँ दोपहर को विश्राम कर उन्होंने फिर शिकार किया और केवल मंत्री रमांगद के साथ रात भी वन ही में बिताई।

प्रातःकाल होने पर फिर भी सोने की जंजीर गले में पहिने हुए उसी मृग की शोभा स्मरण करते हुए राजा वन में घूमने लगे। इसी समय आकाश में मोती की माला लिये हुए एक हंस दिख पड़ा। राजा और मंत्री ने कुछ दूर तक हंस का पीछा किया। हार हंस के चंगुल से गिर पड़ा, और हंस कहीं चला गया। मंत्री ने हार उठा लिया। मंत्री के हाथ से राजा ने हार लेकर देखा तो हार में इन्द्रनील मणि के अक्षरों में यह श्लोक लिखा हुआ पाया—

मनसिजयरवीरवैजयन्त्यास्त्रिभुवनदुर्लभविभ्रमैकभूमेः ।
कुचमुकुलविचित्रपत्रवल्ली परिचित एव सदा शशिप्रभायाः ।।

हार में ताजा चन्दन लगा हुआ था। इससे अनुमान होता है कि जिसका हार है, वह व्यक्ति भी समीप है। राजा कामशरों से पीड़ित हुए और एक कुंज में शिला पर बैठ गये।

राजा शशि-प्रभा की चिन्ता में पड़े हुए थे। हार का चन्दन उँगलियों से छुड़ा रहे थे। शशि-प्रभा के रूप और विलास के विषय में अनेक कल्पनाएँ कर रहे थे। इतने में ही सामने तमाल-कुञ्ज में, जैसे मेघ के बीच से चन्द्रकला चमके वैसे एक विलासिनी चमक पड़ी। रमांगद से इसके बारे में राजा कुछ कह रहे थे; तब तक उसने भी इन्हें देखा। इन्हें आकार से ही एक महापुरुष समझकर वह स्त्री इनके समीप आई। उसके हाथ में एक चँवर था और पैर में नूपुर बज रहे थे। राजा ने उसे देख कर हार अपने दुपट्टे से ढाँक लिया। वह राजा को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से दूसरे शिलातल पर बैठ गई। राजा के इशारे से रमांगद ने उसका कुशल-मंगल पूछा। राजा ने भी उससे मधुर वचन कहे। उसने बड़े विनय से राजा से कहा—'महाराज, आपने नागलोक का नाम सुना होगा। नागलोक की राजधानी भोगवती है। वहाँ भगवान् हाटकेश्वर महादेव रहते हैं। नागराज शंखपाल का वहाँ राज्य है। शंखपाल की कन्या शशिप्रभा है, जिसके बराबर रति, इंद्राणी, चित्ररेखा, घृताची, तिलोत्तमा तथा रंभा भी नहीं हैं। अब वह युवती हो चली है। कैलास, मलय और हिमालय पर खेला करती है। आज विन्ध्याचल के कुसुमावचूड नामक भाग पर खेल रही थी। इतने में उसका चञ्चलकेलि मृग भाग कर कहीं चला गया। मृग के स्नेह के कारण उसने नदी पर रात बिताई। प्रातःकाल कलहंसी के मधुर स्वर से विनिद्र होकर उसने अपनी शय्या के समीप सोये हुए मृग को देखा। मृग के अंग में सोने का बाण लगा हुआ था। कमलदल के सदृश अपने ही हाथों से उसने बाण निकाला और उस पर नवसाहसांक नाम पढ़ा। नाम पढ़ते ही उसके हृदय में काम का आविर्भाव हुआ। इसी बीच हंस कमलदंड के भ्रम से उसका मोती का हार ले उड़ा। उस हंस की खोज के लिए नागकन्याएँ इधर-उधर घूम रही हैं। आपके दर्शन से हंस के अन्वेषण का मेरा परिश्रम सफल हुआ। आपने हार-सहित पक्षी को यदि देखा हो तो मुझे बतलावें। जान पड़ता है कि आपने भी नहीं देखा है। इसलिए मैं जानना चाहती हूँ। पर आपके जो बाण यहाँ पड़े हैं उन्हें देखने से यह मालूम होता है कि आपका ही बाण हमारे मृग के अंग में लगा था।

आप दिलीप के सदृश हैं। आपकी रक्षित भूमि में हमें पक्षी ने लूट लिया। यह कैसी बात है? आप राजा हैं। हार मैं आपसे माँगती हूँ, क्योंकि चोरी की चीज बरामद करके जिसकी है उसको दे देना चाहिए। आप यह भी कह सकते हैं कि तुम भी मेरा बाण दे दो। पर आप बाण नहीं पा सकते, क्योंकि शशिप्रभा के निरपराध केलिमृग पर आपने उसका प्रयोग किया है। हाँ, एक बात है। आपके सदृश महापुरुष का दर्शन यदि शशिप्रभा को हो जाय तो वह हार नहीं खोजेगी और बाण भी दे देगी। थोड़ी दूर पर रवा नदी के किनारे चन्द्रकला-सी शशिप्रभा विराजती है। आप स्वयं उससे हार और बाण का हिसाब कर लें। यह सुनकर राजा के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने कहा, तुम जैसी बुद्धिमती से क्या बहस करूँ। यह मेरा हार ले लो। इसीसे शशिप्रभा का मनोविनोद करो। मैं उसके हार का भी अन्वेषण करूँगा। इतना कहकर

राजा ने अपने कण्ठ से हार निकाल कर पाटला को दिया। इसके बाद राजा ने दुपट्टे से शशिप्रभा का हार निकालकर पहन लिया। रमांगद ने इशारे से इस हार की ओर पाटला की नजर फेरी। हार देखकर पाटला बोल उठी, 'अजी महाराज, आप तो कामरूप हैं! आप ने ही राजहंस का रूप धारण कर हार चुराया है। पर यह लेस नही है। आप मेरा हार दे दें। आप ने हार का हेरफेर कर दिया है।' जान पड़ता है कि आप मेरा हार नहीं देंगे। मैं जाती हूँ। आप अपना वाण स्वयं जाकर शशिप्रभा से माँग लें। राजा ने भी उसके साथ जाना स्वीकार किया। तीनों वहाँ से चले। नर्मदा के तट पर सिंधुराज और शशिप्रभा का मिलन हुआ। राजा के आगमन से कुपित नागों ने मायाबल से ऐसा अंधकार और चक्रवात उत्पन्न किया कि शशिप्रभा अंतर्हित हो गई। उसे ढूँढ़ते हुए राजा के सामने नर्मदा साकार प्रकट हुई और उसे बताया कि शशिप्रभा के पिता ने यह प्रण किया है कि जो वज्रांकुश राक्षस के सरोवर के कनक-कमल को तोड़ कर राजकुमारी का कर्णावतंस बनायगा उसीके साथ उसका विवाह होगा। राजा ने नर्मदा के द्वारा बताए मार्ग से चलकर, अनेक बाधा-विघ्न पार करते हुए, विद्याधरों की सेना की सहायता से, वज्रांकुश को हराया। तदनंतर कनक-कमल को शशिप्रभा का कर्णपूर बना कर राजा ने उसके साथ विवाह किया। इसके बाद वह शशिप्रभा के साथ अपने देश को लौट गया।

संक्षेप में यही मूलकथा पुस्तक में वर्णित है।

(प्रभा; प्रथम वर्ष; द्वितीय संख्या; वशाख १९७० वि०)

त्रश्लोकार्यं धर्मशास्त्रम्

(रामस्मृतिः)

तस्मै सर्वात्मने नमः

प्रथमोऽध्यायः

उपक्रमः

संगृह्य प्राच्यसिद्धान्तान् हिताय जगतः शिवम् ।
तत्त्वं शाश्वतधर्मस्य संक्षेपेणात्र वर्ण्यते ॥

धर्मलक्षणम्

सत्येन विधृतं सर्वमसत्यं विप्लवावहम् ।
धारणात्सत्यमेवोक्तं धर्मशब्देन कोविदैः ॥ १ ॥

उपक्रम

जगत् के हित के लिए प्राचीन सिद्धान्तों का संग्रह कर शाश्वत धर्म का कल्याणकारी तत्त्व यहाँ संक्षेप से कहा जाता है।

धर्म का लक्षण

सत्य से ही सबकी स्थिति है और असत्य से सबका नाश होता है। पण्डित लोग सत्य को ही धर्म कहते हैं क्योंकि धर्म वह है जो धारण करे ॥१॥

आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् ।
इति प्राचीनवचनं सुव्यक्तं सत्यमूलकम् ॥ २ ॥

जो अपने को बुरा लगे, वैसा दूसरे से नहीं बर्तना, इस प्राचीन वचन का मूल निस्सन्देह सत्य ही है ॥२॥

अनुकूलं विदंश्चौर्यं कर्तव्यं च विमूढधीः ।
ताडयंश्चोरमाक्रान्तमसत्यं वदति स्फुटम् ॥ ३ ॥

जो चोर चोरी को अपने मनोनुकूल कहे और अपनी चीज चुराने वाले को मारे वह मूर्ख अवश्य सफेद झूठ बोलता है ॥३॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ४ ॥

धीरज, क्षमा, मन को रोकना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य का अर्जन और क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण हैं ॥४॥

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञात एव धर्मः सनातनः ।। ५ ।।

रागद्वेष से रहित, अच्छे विद्वानों से सेवित और जो अपने अन्तःकरण में अच्छा जँचे वही सनातन धर्म है ।।५।।

न सर्वसुलभं शास्त्रं नैकमत्यंच तद्विदाम् ।
तस्मात्सर्वस्य हृदयं सुलभं शास्त्रमिष्यते ।। ६ ।।

शास्त्र सभी को सुलभ नहीं, न उनके जाननेवाले सब एक ही मत के हैं । इसलिए हृदय ही सबके लिए सुलभशास्त्र है ।।६।।

दशकं शाश्वतं धर्मं वर्णयन्ति विपश्चितः ।
देशकालादिनियता आचारा न सनातनाः ।। ।।

पण्डित लोगों ने ऊपर कहे गये दस धर्मों को ही सनातन धर्म बताया है। देश, काल आदि से संबंध रखने वाले आचार सनातन धर्म नहीं हो सकते ।।७।।

अनर्थहेतूनाचारान् वर्जयित्वा स्वके स्वके ।
अशाश्वतेऽपि धर्मे तु प्रवृत्तिर्नैव दुष्यति ।। ८ ।।

अनर्थ उत्पादन करनेवाले आचारों को छोड़ यदि अपने-अपने अशाश्वत आचारों में भी प्रवृत्ति रहे तो कोई दोष नहीं ।।८।।

धर्माधर्मावनुस्यूतौ गुणौ सर्वेषु कर्मसु ।
न पृथक्कोपि धर्मोऽस्ति नाधर्मोवा तथा पृथक् ।।९।।

सभी कार्यों का संपादन धर्म, अधर्म दोनों के साथ हो सकता है । धर्म या अधर्म किसी विशेष कार्य का नाम नहीं है ।।९।।

परस्वहरणैर्देवपूजनं धर्मविप्लवः ।
विण्मूत्रादिविसर्गोऽपि धर्मः पीडाविवर्जने ।।१०।।

दूसरे की चोरी करके देवता का पूजन करना धर्म का नाश करना है । मल-मूत्र का परित्याग भी, पीड़ारहित हो तो, धर्म-कार्य है ।।१०।।

द्वितीयोऽध्यायः

धर्ममूलम्

आन्तरश्चैव बाह्यश्च धर्मो द्वेधा प्रकीर्तितः ।
आन्तरो मूलरूपस्तु बाह्यस्तस्य फलात्मकः ।।१।।

धर्म का मूल

धर्म आन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का है । आन्तर धर्म मूलरूप है और बाह्यधर्म उसका फलस्वरूप है ।१।

परमार्थानुसरणमनर्थस्य च वर्जनम् ।
सत्यप्रियत्वं धर्मस्य मूलं सर्वत्र कीर्त्तितम् ॥२॥

परमार्थ का अनुसरण करना, अनर्थ का परित्याग करना, सत्य में प्रीति रखना, ये सर्वत्र धर्म के मूल कहे गये हैं ।

नास्त्यसत्यसमं पापं धर्मकार्ये विशेषतः ।
असत्यं न स्वयं वाच्यं नाङ्गीकार्यं परोदितम् ॥३॥

असत्य के समान दूसरा कोई पाप नहीं है—विशेष कर धर्म के विषय में। स्वयं कभी असत्य नहीं बोलना चाहिए और न दूसरे का कहा असत्य कभी अङ्गीकार करना चाहिए ॥३॥

प्रत्यक्षेणानुमानेनाबाधेनाप्ताज्ञयाऽपि वा ।
यो ज्ञातिः स सत्याख्यः परमार्थः प्रकीर्तितः ॥४॥

अबाधित प्रत्यक्ष से या अबाधित अनुमान से अथवा बड़े की आज्ञा से जो बात जानी जाय वही सत्य है और वही परमार्थ है ॥४॥

आज्ञा राज्ञामृषीणां वा मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
निर्हेतुकं ग्रहीतव्या स्थितिः सभ्यजनस्य सा ॥५॥

राजा, ऋषि, माता-पिता और गुरु की आज्ञा, बिना फल की परीक्षा किये ही माननी चाहिए। सभ्य लोगों का ऐसा ही व्यवहार है ॥६॥

वस्तुस्थितौ तु केषांचिन्न शब्दानां प्रमाणता ।
शब्दैरुक्तेऽप्यनुक्तेऽपि वस्तुन्यनुभवः प्रमा ॥६॥

वस्तुस्थिति में किसी शब्द का प्रमाण नहीं है। वस्तुस्थिति शब्द से कही गई हो या नहीं, उसमें अनुभव ही प्रमाण है ॥६॥

यन्नानुभूयते साक्षान्न चैवाप्यनुमीयते ।
तादृशे शब्दमात्रोक्ते सन्देहो व्याहतिर्न चेत् ॥७॥

जिसका साक्षात् अनुभव नहीं हुआ हो और जो अनुमान में भी न आवे, केवल शब्द से कही हुई वैसी बात में सन्देहमात्र रहता है—यदि बात बेठिकानी न हो ॥७॥

व्याहते तु न सन्देहः सद्यश्चासत्यताग्रहः ।
सत्याराधनशीलानां सभ्यानां स्थितिरीदृशी ॥८॥

बेठिकानी बात में तो सन्देह भी नहीं करना चाहिए; उसे सरासर झूठ जानना चाहिए। सत्य की आराधना करनेवाले सभ्य लोगों की ऐसी ही व्यवस्था है ॥८॥

जलमानय पुत्रेति विधेयाज्ञा पितुर्द्रुतम् ।
वाराणसी हिमाद्रावित्यपरोक्त्या न मन्यते ॥९॥

'हे बेटा, जल लाओ', पिता की ऐसी आज्ञा को झट पूरा करना चाहिए । परन्तु 'बनारस हिमालय पर है', पिता की भी ऐसी बात को, बिना परीक्षा किये, कभी नहीं मानना चाहिए ॥९॥

वन्ध्यापुत्रशिरोवर्ति हेमपात्रं गृहान्तरे ।
तदानयेति व्याघातग्रस्तं सद्य उपेक्ष्यते ॥१०॥

'घर के भीतर बाँझ के बेटे के सिर पर सोने का बर्त्तन है, उसे लाओ', ऐसी बेठिकानी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं देना चाहिए ॥१०॥

तृतीयोऽध्यायः

शौचम्

मनःशौचं वचःशौचं कायशौचमिति त्रयम् ।
शौचत्रयं मनुष्याणां सर्वकल्याणकारकम् ॥१॥

शुद्धि

मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि, शरीर की शुद्धि, ये ही तीन प्रकार की शुद्धियाँ मनुष्यों के लिए सर्व-कल्याण कारिणी हैं ।

अभावना स्वयं दिव्यशक्त्यादेरन्यकीर्तिते ।
नासत्ये चेद्धृते श्रद्धा तन्मनःशौचमीरितम् ॥२॥

दिव्य शक्ति आदि पर स्वयं विश्वास नहीं करना और दूसरों की कही हुई ऐसी झूठी बातों में श्रद्धा नहीं रखना—यह मन की शुद्धि है ॥२॥

सत्यं हि मनसः शौचमसत्यं च मनोमलम् ।
तस्मादसत्यं यत्नेन परेषु स्वेषु वर्जयेत् ॥३॥

सत्य ही मन की शुद्धि है और असत्य मन की मैल है । इसलिए अपने में तथा दूसरों में भी असत्य का यत्नपूर्वक वर्जन करना चाहिए ॥३॥

ईदृशानामसत्यानामख्यापनमिहात्मनि ।
परेषु च वचःशौचं प्रवदन्ति विपश्चितः ॥४॥

ऐसी झूठी बातों को अपने विषय में न कहना और दूसरों के विषय में भी नहीं फैलाना—यही वचन की शुद्धि है, जैसा कि पण्डित लोग कहते हैं ॥४॥

सर्वाङ्गाणां विशेषेण वस्त्रकेशादिचर्मणाम् ।
नैसर्गिकागन्तोर्मलात्परिवर्जनम् ॥५॥
तत्कायशौचमाख्यातं तदर्थानं च जीवनम् ।
मृत्तिकाम्बुकृमिघ्नाद्यास्तस्य साधनतां गताः ॥६॥

सब अंगों को, और मुख्य रूप से दाँत, केश, अँतड़ी और चमड़े को, अपने आप उत्पन्न हुए अथवा बाहरी मलों से बचाना, यह शरीर की शुद्धि है। हमलोगों का जीवन इसके अधीन है। मिट्टी, जल और कृमिनाशक पदार्थ इस शुद्धि के उपाय हैं ॥५–६॥

उच्छिष्टं दूषितस्पृष्टं व्याधितेन च संगतम्।
निसर्गाननुकूलं च कायशौचविनाशकम् ॥७॥

जो जूठा, दूषित वस्तुओं के स्पर्श और रोगी के संपर्क में आया हुआ, तथा अपनी रुचि के प्रतिकूल हो, वह शरीर-शुद्धि का नाश करनेवाला होता है ॥७॥

वस्त्रान्नपानावस्थानमैथुनादौ विदूषितैः।
संसर्गः कायदोषाय तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥८॥

वस्त्र, अन्न, पान, निवास, मैथुन आदि में विदूषित संसर्ग से शरीर में दोष होता है, इसलिए इसका परित्याग करना चाहिए ॥८॥

आलस्याद्वा प्रमादाद्वा रागादेर्वा विदूषितैः।
संसर्गे सति सद्यश्च स्नानाद्यैः शुद्धिमाचरेत् ॥९॥

आलस्य, भ्रम अथवा रागादि से यदि दूषित व्यक्तियों से संसर्ग हो जाय तो स्नान आदि से शीघ्र शुद्धि कर लेनी चाहिए ॥९॥

व्याहतस्यानुसन्धानान्नास्त्यशुद्धतरं क्षितौ।
तस्मात्सिद्धिविभूत्यादौ न मनो विनिवेशयेत् ॥१०॥

बेठिकानो बातों के अनुसन्धान से बढ़कर अशुद्ध बात संसार में और कुछ नहीं है। इसलिए सिद्धि और विभूति आदि में कभी मन को नहीं लगाना चाहिए ॥१०॥

चतुर्थोऽध्यायः

आचारः

भोजनं मैथुनं जन्म स्वाध्यायो मृत्युरुत्सवः।
आचारावसरा एते षट् प्राधान्येन कीर्तिताः ॥१॥

भोजन, मैथुन, जन्म, विद्यारम्भ, मृत्यु, साधारण उत्सव—आचार (रीति-रस्म) के लिए ये छः प्रकार के मुख्य अवसर हैं ॥१॥

तत्राचारस्य गौणत्वं प्राधान्यं वस्तुनः स्मृतम्।
आचारविस्तरैस्तस्मान्न कार्यो वस्तुविप्लवः ॥२॥

ऐसे अवसरों पर वस्तु ही मुख्य है और आचार (रीति-रस्म) गौण है। इसलिए आचार के विस्तार से वस्तु का नाश नहीं करना चाहिए ॥२॥

पूर्वजातेति निर्हेतुं स्मार्त्ताचारं प्रपालयेत्।
मात्रानिर्वाहमात्राय संक्षेपाद्विमूढधीः ॥३॥

हमारे पूर्वजों की आज्ञा है, यह समझकर, बिना फल चाहे, केवल आज्ञानिर्वाह के लिए, भ्रम से रहित मनुष्य स्मृतियों के आचार का पालन करे ।

भोज्यैर्व्याधिं भजन्कन्यां व्याधितां वरयात्रया ।
आनयन्नाशयन्पुत्रं जन्मोत्सवमहाव्ययैः ॥४॥
क्षिपन्पुस्तकमूल्यं च यज्ञसूत्रमहोत्सवे ।
विटांश्च भोजयन् श्राद्धे हर्षे वेश्योपदंशवान् ॥५॥
स्मार्तं कुलजैर्मूर्खैः प्राचीनत्वेन कीर्तितम् ।
सद्यो निरयभागी स्यादाचाराभासमाचरन् ॥६॥

जो कोई खाने-पीने से रोग बुलाता है, बारात के ढकोसले से बीमार-कन्या घर में लाता है, जन्म के उत्सव के व्यर्थ खर्च से लड़के की खराबी करता है और यज्ञोपवीत के उत्सव में पोथी का दाम फूंक डालता है, श्राद्ध में गुण्डों को जिमाता है और खुशी में वेश्याओं से उपदंश रोग खरीदता है, वह कुलवाले मूर्खों के कहे हुए स्मृतियों में अनुपलब्ध झूठे आचारों को करता हुआ तुरत नरक का भागी होता है ।

पथ्यंकसारमशनं भार्यासारं च मैथुनम् ।
जन्म सन्ततिसारं च पठनं ज्ञानसारवत् ॥७॥

उत्तम पथ्य भोजन का सार है, स्त्री-पुरुष-समागम में पति-पत्नी की योग्यता ही सार है, लड़के के जन्म में सन्तान की वृद्धि ही सार है और ठीक समझना पढ़ने का सार है ॥७॥

मृत्यौ भाविशुभं सारमरोगः सार उत्सवे ।
आचारजालैः सारस्य विप्लवान्निरये स्थितिः ॥८॥

आगे की भलाई की चिन्ता ही मृ॰ का सार है, उत्सव का सार रोग को हटाना है, आचार-जाल से सारवस्तु नष्ट करने पर मनुष्य की नरक में स्थिति होती है ॥८॥

शौचं प्राणनिरोधं च व्यायामाञ्छक्तितस्तथा ।
पथ्याहारविहारं च विज्ञानं च भजेत्सदा ॥९॥

शुद्धि, प्राणायाम, शक्ति के अनुकूल व्यायाम, उचित आहार-विहार और शिल्प-शास्त्र का अभ्यास सदा करना चाहिए ॥९॥

विशुद्धमन्नपानं च रुग्णैर्मूर्खैरमैथुनम् ।
शुद्धोऽनिलो नालस्यं च सत्यं च शिवकृत्परम् ॥१०॥

खूब शुद्ध अन्न और जल का सेवन, रोगी और मूर्खों के द्वारा मैथुन न करना, शुद्ध वायु, आलस्य का अभाव और सत्य—ये ही परमकल्याण करनेवाले हैं ।

पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिः

मातापित्रोर्नृपे चैव गुरौ विद्वत्सु चेष्यते।
तथा श्रेष्ठेषु चान्येषु भक्तिः कल्याणदायिनी ॥१॥

भक्ति

माता, पिता, राजा, गुरु, पंडितों तथा अन्य श्रेष्ठ लोगों में भक्ति करने से कल्याण होता है ॥१॥

विद्वत्वाद्यं तु यद्भक्तेर्बीजं तस्य विनिश्चये।
भक्तिर्न यस्मिन्कस्मिंस्तु सिद्धधूर्त्तादिनामनि ॥२॥

भक्ति के मूल पाण्डित्य आदि का निश्चय हो जाने पर ही भक्ति करनी चाहिए। सिद्ध आदि नाम रखनेवाले जिस किसी धूर्त्त में भक्ति नहीं कर लेनी चाहिए ॥२॥

व्याहतेनापरीक्ष्येण दिव्यशक्त्यादिना श्रुते।
भक्तिं न कुत्रचित्कुर्यान्नाशहेतुर्हि सा भवेत् ॥३॥

बेठिकाने और परीक्षा के भी अयोग्य दिव्य शक्ति आदि बातों से प्रसिद्ध किसी में भक्ति नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसी भक्ति नाश का कारण है ॥३॥

स्वयं गुणान्परीक्षेत परीक्षितगुणे परैः।
पुनः परीक्षमाणश्च भक्तिं कुर्वीत धर्मवित् ॥४॥

धर्म जाननेवाला स्वयं गुणों की परीक्षा करे; दूसरों के द्वारा गुणों की परीक्षा होने पर भी स्वयं परीक्षा करके ही भक्ति करे ॥४॥

पितृत्ववैदुष्यमुखैरुपास्यस्य गुणैरिह।
भक्तिरुत्पद्यतेऽस्माकं न भक्त्या तद्गुणोद्भवः ॥५॥

आराधनीय पुरुषों के पितृत्व, पाण्डित्य आदि गुणों से ही हमलोगों की भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति से ये गुण नहीं आ जाते ॥५॥

धेनौ दुग्धादि दृष्ट्वैव तज्जातो भक्तिमाञ्जनः।
न भक्त्या शूकरी हन्त बहुक्षीरा भविष्यति ॥६॥

दूध देख कर ही गाय में मनुष्यों की भक्ति होती है। भक्ति करने से शूकरी को गाय की तरह दूध नहीं हो सकता ॥६॥

कुरु भक्तिं ततो दिव्यां शक्तिं द्रक्ष्यसि नान्यथा।
इति ब्रुवाणे धूर्ते तु भक्तिर्नैवोचिता ततः ॥७॥

'भक्ति करो, नहीं तो दिव्य शक्ति को नहीं देखोगे,—ऐसा कहनेवाले धूर्त में भक्ति उचित नहीं है ॥७॥

सरहस्यां तु विद्यां वा रक्षां वान्यांस्तयोदयान्।
यतो लभेत गुर्वादींस्तान्प्राणैरपि पूजयेत् ॥८॥

सीधे-सीधे विद्या, रक्षा और दूसरे अभ्युदय जिससे मिलें ऐसे गुरु आदि की आराधना प्राणों से भी करनी चाहिए ॥८॥

भक्त्या द्वादशवर्षाणि वा न धूर्त्तं सिद्धिलोभतः।
निषेवमाणः कुर्वीत द्रव्यशक्त्यायुषां व्ययम् ॥९॥

सिद्धि के लोभ से बारह वर्ष अर्थात् बहुत दिनों तक भक्ति के साथ धूर्तों की सेवा करते हुए धन, शक्ति और आयु को व्यर्थ नहीं खोना ॥९॥

न हि लक्षव्ययं कृत्वामरत्वायान्यवाक्यतः।
मेरोः स्वर्णतृणं लब्धुमभिधावति कश्चन ॥१०॥

किसी के कहने मात्र से लाखों का व्यय कर, अमरता-प्राप्ति के लिए, कोई मेरु पर्वत के स्वर्ण-तृण की खोज में नहीं दौड़ पड़ता।

षष्ठोऽध्यायः

ग्राथमधर्मः

वस्त्रान्नपानावसथे परमं शौचमाश्रितः।
विज्ञानोद्योगवान्नित्यं कुटुम्बं परिपालयेत् ॥१॥

वस्त्र, अन्न, पान और निवास में पूरी शुद्धि रखता हुआ तथा शिल्प-शास्त्र और उद्योग में लगा हुआ सदा कुटुम्ब का पालन-पोषण करे ॥१॥

आ विंशं ब्रह्मचारी स्यादसपिण्डां यवीयसीम्।
कान्तामव्याधितां चाथ तरुणीं स्त्रियमुद्वहेत् ॥२॥

बीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर, अपने से छोटी, रोगरहित ऐसी सुन्दरी युवती से विवाह करे जो अपने कुल की न हो ॥२॥

शौचं विज्ञानमुद्योगं भार्याभृत्यसुतांस्तथा।
अन्यान्सन्निहितांश्चापि शिक्षयेच्छक्तितोऽन्वहम् ॥३॥

स्त्री, पुत्र और नौकर तथा आसपासवालों को भी शुद्धि, शिल्पशास्त्र और उद्योग की शिक्षा यथाशक्ति नित्य दे ॥३॥

विज्ञानोद्योगरहितो भारभूतो भुवस्तथा।
यो धर्मकञ्चुकोऽन्योवा तं दूरात्परिवर्जयेत् ॥४॥

जो शिल्पशास्त्र और उद्योग से रहित, पृथ्वी का भार-रूप हो, वह चाहे धर्म का जामा पहने हो या नहीं, उसका दूर से ही परित्याग करना चाहिए ॥४॥

नित्यं नैमित्तिकं सर्वं काले युक्तः समाचरेत्।
द्वीपसागरगिर्यादौ धर्मेणोद्योगवांश्चरेत् ॥५॥

सभी नित्य-नैमित्तिक कार्यों को चित्त लगाकर करना चाहिए। द्वीप, समुद्र तथा पर्वत आदि पर सर्वत्र धर्म के साथ उद्योग करता हुआ रहे ॥५॥

यादृशं जीवनं यस्य गृहे तादृशमेव चेव।
विप्रकृष्टे भुवः कोणे को दोषो यात्रया तदा ।।६।।

अपने घर में जैसे रहता है वैसे ही पृथ्वी के दूर से दूर के कोने में भी यदि रहे तो यात्रा करने में क्या दोष है? ।।६।।

बालो वातीततारुण्यो बाला वा स्थविरा तथा।
नोद्वाहयोग्या क्लीबाद्या उद्वाहाभास एव तु ।।७।।

जो बालक हो, या जिसकी जवानी बीत गई हो तथा जो लड़की हो या बूढ़ी, और जो नपुंसक आदि हैं, वे विवाह-योग्य नहीं हैं। ऐसों का विवाह केवल तमाशा है ।।७।।

अमैथुने विवाहो यो बालक्लीबादिभिः कृतः।
विध्याभासेऽपि जातेऽस्मिन्कुमारीत्वं न नश्यति ।।८।।

बालक, नपुंसक आदिकों से बिना मैथुन के जो विवाह होता है, उस दिखाऊ विधि के होने पर भी स्त्री का कुमारीपन नष्ट नहीं होता ।।८।।

समैथुने विवाहेऽपि विधवा कामतः पतिम्।
पुनर्द्वितीयं कुर्वीत न तु गर्भाविपातनम् ।।९।।

मैथुन के साथ विवाह होने पर भी जिसका पति मर जाय ऐसी स्त्री दूसरा पति करे, परन्तु गर्भपात आदि न करे ।।९।।

द्विजेतरेषु काम्योऽस्ति विधवायाः पुनर्वरः।
अङ्गीकृत्य द्विजान्यत्वं विधवामुद्वहेदतः ।।१०।।

विधवा का पुनर्विवाह द्विजभिन्नों में उचित है, इसलिए जो कोई चाहे, द्विज से इतर होना स्वीकार कर विधवा-विवाह कर सकता है ।।१०।।

सप्तमोऽध्यायः

द्विजातिधर्म

भक्ष्याभक्ष्यविवेकश्च स्पृश्यास्पृश्यविनिर्णयः।
विधवाया अनुद्वाहो मद्यस्य परिवर्जनम् ।।१।।
द्विजानुलोमजत्वं च विद्वत्वं च विपश्चितः।
षट्कं समुदितं प्राहु र्द्विजातेरिति लक्षणम् ।।२।।

द्विजातिधर्म

क्या खाना, क्या न खाना और किसको छूना, किसको न छूना, इन बातों का विचार; विधवा का पुनर्विवाह न करना; मद्य का वर्जन; वर्णों में अनुलोम उत्पत्ति; और विद्या—ये छै मिलकर द्विजातियों के लक्षण हैं, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ।।१-२।।

व्याधिताशुचिसंस्पृष्टं पूतिपर्युषितं च यत् ।
अमत्स्याशुचिभुक् क्रव्यभुङ्मांसं मद्यमेव च ॥३॥
उच्छिष्टमद्विजैः पक्वं वारिणा सर्वमेव च ।
निसर्गाद्व्याधिकृद्यश्च न तद्भक्ष्यं द्विजन्मनाम् ॥४॥

रोगियों और अशुद्ध व्यक्तियों से स्पृष्ट सड़ा और बासी मछली को छोड़, अशुद्ध पदार्थ खानेवाले और मांसाहारी पशुओं का मांस और मदिरा, जूठा, द्विजेतरों से पानी में पकाया हुआ और जो स्वभाव से ही बीमारी उत्पन्न करने वाला हो, वह द्विजातियों के खाने योग्य नहीं है ।

व्याधिताद्यशुचिस्पर्शः प्रहेयः स्नानभोजने ।
मनोनुकूलं पथ्यं च सर्वं भक्ष्यं परैरिह ॥५॥

स्नान और भोजनकाल में रोगी और अशुद्धों का स्पर्श नहीं करना चाहिए । द्विजातियों को छोड़ कर और लोग अपने मन के अनुकूल तथा स्वास्थ्यकर भोजन जो चाहें, खा सकते हैं ॥५॥

मैथुनान्तेन विधिना परिणीता ततोऽथवा ।
विधवेति मता तस्या द्विजैर्नोपयमः पुनः ॥६॥

मैथुनान्त विधि से विवाह हो जाने पर जिसका पति मर जाय उसे विधवा कहते हैं । द्विजों में विधवा का विवाह नहीं है ॥६॥

मद्यमन्नमलं कायवाङ्मनःशक्तिनाशकृत् ।
अशुद्धं तत्समं नास्ति वर्ज्यं तस्माद्द्विजातिभिः ॥७॥

मद्य अन्न का मल है और शरीर, वचन तथा मन की शक्ति का नाश करने वाला है । इसके समान अशुद्ध और कुछ नहीं है, इसलिए द्विजातियों के द्वारा इसका वर्जन उचित है ॥७॥

अनुलोमो द्विजेष्वेव द्विजानामिह शस्यते ।
सदा परिणयस्तस्मादद्विजत्वं विपर्यये ॥८॥

द्विजों में अनुलोमज विवाह ही द्विजातियों के लिए सदा अच्छा है । यदि इससे उल्टा हो तो द्विजत्व नहीं रहता ॥८॥

निरक्षरत्वं वन्यत्वं वन्यो नैव द्विजः क्वचित् ।
विद्याधिगमनं शक्त्या द्विजधर्मः सनातनः ॥९॥

निरक्षर होना जंगली होना है और जंगली कभी द्विज नहीं हो सकता । यथाशक्ति विद्या पढ़ना द्विज का सनातन धर्म है ॥९॥

निरक्षरैरतः पुम्भिःस्त्रीभिर्वा न द्विजः क्वचित् ।
शाखान्योन्यांश्च सम्बन्धानाचरेन्निरयावहान् ॥१०॥

इसलिए निरक्षर पुरुषों या स्त्रियों के साथ द्विज को कभी अध्ययन-अध्यापन तथा विवाह का संबंध नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह नरक की तरह कष्टदायक होता है ।

अष्टमोऽध्याय

व्यक्तिधर्मः

यज्ञसूत्रं शिखा चेति द्विजातेर्बाह्यलक्षणम् ।
तस्माद्द्विजो न भवति द्विजत्वे तत्तु धार्यते ।।१।।

व्यक्ति का धर्म

जनेऊ और शिखा द्विजों के बाहरी लक्षण हैं। इनको धारण करने से द्विज नहीं होता। द्विज ही इन्हें धारण कर सकता है।

उच्छिष्टमद्यप्राशादेः सिद्धतण्डुलभोजनात् ।
विधवोद्वाहकृद्भिश्च मद्यपैश्च सहाशनात् ।।२।।
वेश्यारजस्वलादीनां संसर्गाच्छास्त्रवर्जनात् ।
दारुमृत्काचपाषाणपुनःपक्वादिभोजनात् ।।३।।
स्वयं शौचेऽप्यशुचिभिर्बन्धुभिः सह भोजनात् ।
सम्बन्धाच्च द्विजातित्व नामशेषं भुवस्तले ।।४।।

जूठा खाने से, मद्य पीने से, उसना (भुँजिया) चावल खाने से तथा विधवा-विवाह करनेवालों और मद्य पीनेवालों के साथ भोजन करने से, वेश्या तथा रजस्वला आदिकों के संसर्ग से और शास्त्र का अध्ययन छोड़ने से, लकड़ी, मिट्टी, काँच और पत्थर के बरतनों में पकाया हुआ अन्न खाने से, अपने-आप शुद्ध रहते भी अशुद्ध भाई-बन्धुओं के साथ भोजन करने से अथवा उनसे संबन्ध रखने से पृथ्वी पर द्विजातित्व नाममात्र रह गया है ।।२-४।।

अतो लक्ष्मपरित्यागे विधेये द्विजवंशजैः ।
अद्विजेषु प्रचाराय लक्ष्मणां चेष्टते जनः ।।५।।

इसलिए अब द्विजवंश में उत्पन्न जनों के लिए भी चिह्न का परित्याग उचित होते हुए भी लोग अद्विजों में चिह्न के प्रचार की चेष्टा करते हैं ।।५।।

नामलक्ष्मावशेषे च द्विजत्वे व्यक्तयो भुवि ।
द्विजशौचं यथाशक्ति कुर्युश्चेत्तत्र न क्षतिः ।।६।।

द्विजातित्व का केवल नाम और चिह्न ही रह जाने पर यदि कोई व्यक्ति यथाशक्ति द्विजशुद्धि रखे तो कोई हानि नहीं ।।६।।

सिद्धतण्डुलभोगाद्यैर्विधवामद्यसेवनैः ।
विनष्टद्विजभावानां काब्धियात्रादिभिः क्षतिः ।।७।।

उसना (भुँजिया) चावल आदि खाने से, विधवा तथा मद्य के सेवन से जिनका द्विजत्व नष्ट हो गया है उनकी समुद्रयात्रा आदि से क्या हानि हो सकती है? ।।७।।

न समाजो द्विजातीनामत्र संभावितः पुनः ।
व्यक्तयस्तु यथाकामं कुर्युः शौचं समाहिताः ।।८।।

फिर से यहाँ द्विजातियों का समाज बन सके, यह संभव नहीं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे तो, यथाशक्ति शुद्धि के साथ रह सकता है ।।८।।

हित्वा सामाजिकीं धर्मचिन्तां विज्ञानवृद्धये ।
सामाजिको व्यक्तिगश्च महोद्योगः प्रशस्यते ।।९।।

समाज के धर्म की चिन्ता छोड़कर जो समाज में या व्यक्ति में शिल्पशास्त्र की उन्नति के लिए उद्योग करे वह प्रशसनीय है ।।९।।

श्रेयान्स्वधर्मः स्वातन्त्र्यं धर्मेष्वन्यायवर्जिते ।
कस्मिंश्चिद्वर्त्तयन्धर्मे जगतोऽभ्युदयं चरेत् ।।१०।।

अपना धर्म ही कल्याणकारी है, पर कानूनी बातों को छोड़ कर, धर्म में सबकी स्वतन्त्रता है । किसी धर्म में रहकर संसार के अभ्युदय का यत्न करे ।।१०।।

——:०:——

नवमोऽध्यायः

प्रजाधर्मः स्त्रीधर्मश्च

प्रजानां प्रातिनिध्येन स्वातन्त्र्येण च शासकैः ।
शासनं राजतन्त्रस्य द्विविधं दृश्यते क्षितौ ।।१।।

प्रजाधर्म और स्त्रीधर्म

पृथ्वी पर दो प्रकार के राजशासन देखे जाते हैं । एक तो प्रजाओं के प्रतिनिधियों के द्वारा और दूसरा स्वतंत्र राजा के द्वारा ।।१।।

अन्तर्बहिश्च तन्त्रस्य शान्तिरक्षा प्रजापतेः ।
धर्मोऽयं परमोऽन्यत्तु कुर्युः स्वयमपि प्रजाः ।।२।।

राज्य के भीतर और बाहर शान्ति की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। और, काम तो प्रजा स्वयं कर ले सकती है ।।२।।

अप्रातिनिध्ये तन्त्रे तु सुस्थिते शान्तिरक्षया ।
समाजधर्मविद्यादि शोधयेयुः प्रजाः स्वयम् ।।३।।

जहाँ प्रतिनिधि द्वारा शासन न हो, परन्तु शान्ति की रक्षा से देश निर्भय हो वहाँ सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा आदि सम्बन्धी सुधारों को प्रजा स्वयं कर लें ।।३।।

सम्प्रदायसहस्रैस्तु विविधैर्भेदसमाकुलैः ।
विशेषाद्विकराले तन्त्रे धर्मसाम्यारमेव च ।।
जना न शोधयेयुश्चेत्कोऽन्यः संशोधयिष्यति ।
नृपोह्यपक्षपातेन सर्वान्धर्मान्प्रपश्यति ।।४।।

रीति-रस्मों के भेदों के कारण आपस में झगड़ते हुए हजारों मतवालों से अतिशय

. व्याकुल देश में यदि प्रजा धर्म और आचार को न सुधारे तो और कौन सुधारेगा ? क्योंकि राजा तो सभी धर्मों को पक्षपात से रहित होकर देखता है ।।४-५।।

यथा पुंसां तथा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं सर्वकर्मसु ।
सुशिक्षितास्वधर्मेण तास्तु स्युः पतिदेवताः ।।६।।

पुरुष के समान ही स्त्रियों को भी सभी कामों में स्वतंत्रता है। अच्छी शिक्षा पाकर अपने धर्म से वे लोग पति को देवता समझें ।।६।।

अरक्षिता गृहे रुद्धा कामं भृत्याप्तबन्धुभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ।।७।।

घर में भाई, बन्धु अथवा नौकरों से अच्छी तरह अवरुद्ध होने पर भी स्त्री रक्षित नहीं है। जो अपनी रक्षा आप करती है वे ही सुरक्षिता है ।।७।।

निगूहनं गृहे स्त्रीणां स्वास्थ्यवंशादिनाशनम् ।
पतिपुत्रादिसहिता गच्छेयुर्यत्रकुत्रचित् ।।८।।

स्त्रियों को घर में पर्दे में छिपाकर रखना स्वास्थ्य और वंश का नाश करता है। पति, पुत्र आदि के सहित वे जहां, चाहें वहां जा सकती हैं ।।८।।

बलादयोग्यैरुद्वाहो बलाद्गेहे निगूहनम् ।
अशिक्षणं च नारीणां हेतुः सोऽवनतेः परः ।।९।।

स्त्रियों का अयोग्यों के साथ बलात् विवाह कर देना उन्हें बलात् घर में पर्दे में छिपाकर रखना और उन्हें शिक्षा न देना परम अवनति का मुख्य कारण है ।।९।।

धर्मे सनातने शश्वद्विद्यायान्तु विशेषतः ।
स्त्रीभृत्यादेरधीकारः परेषामिव शस्यते ।।१०।।

सनातन धर्म में विशेष रूप से विद्या के विषय में, दूसरों के समान ही स्त्री, भृत्य आदिकों का भी पूर्ण अधिकार है ।।१०।।

दशमोऽध्यायः

प्रायश्चित्तम्

व्याधौ मृतौ जनौ चैव यात्रादावशुचौ तथा ।
मलावहेषु चान्येषु शुद्धिः कार्योचिता जनैः ।।१।।

प्रायश्चित्त

रोग होने, मरने, जन्म होने और अपवित्र होने पर, यात्रा आदि करने पर तथा अन्य प्रकार से भी गंदगी लग जाने पर लोगों को चाहिए कि उचित शुद्धि करें ।।१।।

ज्ञानं तपोग्निराहारो मृण्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालो च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ।।२।।

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, लेप, वायु, कर्म, सूर्य और काल—ये मनुष्यों को शुद्ध करने वाले हैं ।।२।।

सद्यः पुनः पुनश्चैवाचारप्राप्ते तथा क्षये ।
जलेन च कृमिघ्नैश्च भेषजैः शुद्धिरिष्यते ।।३।।

अशुद्धि आ जाने पर तुरत और बार-बार तथा रीति-रस्म के अवसरों पर भी जल से तथा कृमिनाशक औषधि आदि से शुद्धि करनी चाहिए ।।३।।

अदृश्माः कृमयः सूक्ष्मा अशुचौ प्राणघातकाः ।
जलानिलौषधाग्न्यर्कैस्तेषां नाशो विधीयते ।।४।।

अशुद्ध वस्तु में सूक्ष्म और अदृश्य कीड़े रहते हैं, जो प्राणघातक होते हैं। जल, वायु, अग्नि और सूर्य से इनका नाश किया जाता है ।।४।।

कृतस्य नैवाकार्यस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
फलं कृतस्य पापस्य भवत्येव न संशयः ।।५।।

किये गये कुकर्म की शुद्धि प्रायश्चित्त से नहीं होती। किये गये पाप का फल अवश्य होता है, इसमें सन्देह नहीं ।।५।।

पुनः पापमकुर्वंस्तु न तथा हानिमृच्छति ।
क्षते क्षारमिवासह्यं कुर्वन्पापं यथा पुनः ।।६।।

एक बार पाप करने के बाद फिर पाप न करे तो वैसी हानि नहीं होती जैसी, जले पर नमक छिड़कने की तरह बार-बार पाप करने से होती है ।।६।।

व्यायामैश्च विरेकैश्च वमनानशनैस्तथा ।
पथ्याशनविहारैश्च विज्ञानस्यानुशीलनैः ।।७।।
अव्याहतानुसन्धानैर्व्याहतानाञ्च वर्जनैः ।
सर्वात्मारापनैश्चैव प्रायश्चित्तं परं स्मृतम् ।।८।।

व्यायाम करने, जुलाब लेने, वमन करने, उपवास करने, पथ्य भोजन, अनुकूल विहार, शिल्पशास्त्र के अभ्यास, ठिकाने की बातों की खोज करने, बेठिकानी बातों के वर्जन और सर्वात्मा के आराधन से उत्तम प्रायश्चित्त होता है, ऐसा स्मृतिकारों का मत है ।।७-८।।

अव्याहतानुसन्धानात्परं पुण्यं न विद्यते ।
व्याहतस्यानुसन्धानात्परं पापं न धरित्री ।।९।।

ठिकाने की बातों की खोज से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है और बेठिकानी बातों की खोज से बढ़कर पृथ्वी पर कोई पाप नहीं है ।।९।।

अव्याहतानुसन्धानं तस्मान्नित्यं समाचरेत् ।
रागद्वेषविहीनश्च व्याहतं परिवर्जयेत् ।।१०।।

भारतोत्कर्ष

(१)

याचक ! विचारो तो जरा, इस देश की पहली छटा !
अब आज कैसी घिर रही, अज्ञान की काली घटा ।।
गौतम, कपिल, कणादि से, ज्ञानी यहाँ पर हो गये ।
परिपूर्ण दर्शनशास्त्र रच, अज्ञान सबका धो गये ।।

(२)

व्यास और वशिष्ठ ऐसे, ज्ञान के भाण्डार थे ।
जो धर्म के जलयान के, यह दक्ष खेवनहार थे ।।
श्रीराम-सी पितृभक्ति, भायप भरत-सी अब है कहाँ ?
पितृ-बन्धु- घातक अधिकतर, अब हैं लखे जाते यहाँ ।।

(३)

नृप हरिश्चंद्र समान, सत्यप्रिय यहाँ अवतीर्ण थे ।
कर्तव्य-पालन विकट कर, सब विधि परीक्षोत्तीर्ण थे ।।
भीष्म की-सी दृढ़ प्रतिज्ञा, कौन कर सकता कहो !
अटल दानी कर्ण ऐसा, है कहीं पर तो कहो ?

(४)

रणशूर, निर्भय, धीर अर्जुन-सा बताओ हो जहाँ ।
अभिमन्यु-सा अब वीर बालक है लखा जाता कहाँ ?
सीता, सावित्री, पद्मिनी-सी, अटल पतिव्रतधारियाँ ।
पण्डिता गार्गी समान, हुईं यहाँ पर नारियाँ ।।

(५)

गौरव सभी इस देश का है, हाय ! सहसा खो गया ।
पड़ के विषम-द्वेषाग्नि में, सर्वस्व स्वाहा हो गया ।।
कौरवों की नीचता से नाश का अंकुर बढ़ा ।
जयचन्द के पापी करों का प्राप्त कर आश्रय बढ़ा ।।

(६)

फिर भीरुता औ' भीरुता, कुछ राजपुत्रों से हुई ।
सब पूर्व गौरव नष्ट हो, काया-पलट सी हो गई ।।
सब पूर्व पौरुष भूलकर, हैं देशवासी सो रहे ।
पड़ कुम्भकर्णी नींद में सबही मृतक-से हो रहे ।।

(७)

यह जन्मभूमि जो स्वर्ग से बढ़कर इन्हें ही थी मिली।
इस घोर निद्रा से अहो यह है रसातल को चली॥
सब ओर क्रन्दन हो रहा, पर आँख खुलती ही नहीं।
है हाय कैसी नींद यह जो आज भी जाती नहीं॥

(८)

धनधान्य से जो पूर्ण था, वह देश दीनमलीन है।
बस बुद्धि, पौरुष, ओज इसका, आत्मबल भी क्षीण है॥
विद्या, कला, वाणिज्य सारा, देशवासी खो चुके।
सब भाँति ही निस्तेज हो, धनहीन सब अब हो चुके॥

( )

ये हो गये अब क्या, भला इसका उन्हें कुछ ध्यान है?
क्या थी दशा अब क्या हुई, इसका तनिक भी ज्ञान है?
दुर्भाग्य से जो कुछ दिनों, ऐसी दशा रह जायगी।
तो जान लो इतिहास से, संज्ञा झटिति मिट जायगी॥

(१०)

हे ईश, जगदाधार, प्रभु, कुछ तो, दया अब कीजिये।
बल, बुद्धि, पौरुष, दें इन्हें, अज्ञान सब हर लीजिये॥
तज घोर निद्रा, कर्म पथ पर, बढ़ चलें यह नेम से।
निज द्वेष, ईर्ष्या भूल कर सबसे मिलें सब प्रेम से॥

(११)

पूरा करें साहित्य औ, विज्ञान के भाण्डार को।
उत्कर्ष दें फिर से कला, कौशल, सकल व्यापार को॥
अपनी सभी ही कामनाएँ आप ही पूरी करें।
जीते रहें उत्कर्ष में, औ देश-सेवा में मरें॥

(१२)

अपने अगर पैरों सहारे, वे खड़े हो जायेंगे।
संकट विकट उनके सभी, सब आप ही खो जायेंगे॥
दर्शन तथा कर्त्तव्य जब, फिर से सुदृढ़ हो जायेंगे॥
धन-धान्य, गौरव पूर्व के, तब शीघ्र ही आ जायेंगे॥

(१३)

गिरता हुआ यह देश फिर, उत्कर्ष को पा जायगा।
दीपक बुझा जो चाहता, वह फिर प्रज्वलित हो जायगा॥
हे भाइयो! सोओ न अब, तैयार हो, तैयार हो।
सोये बहुत, जागो, उठो, जिससे कि बेड़ा पार हो।

मारवाड़ी अग्रवाल, वर्ष १ खंड २ संख्या ३ पूर्ण सं० ६
आषाढ़, १९७६ विक्रम

जगत् में विज्ञान का विकास

जन्म के समय बच्चा ज्ञान की कुछ शक्ति तो रखता है, पर वस्तुओं का ज्ञान उसे नहीं रहता। धीरे-धीरे वह अपने चारों ओर की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता जाता है। इसी तरह पहले मनुष्य-जाति भी अज्ञ थी। धीरे-धीरे उसे आग, पानी, खाने-पीने की चीजों और कपड़े-लत्ते आदि का ज्ञान हुआ। अत्यन्त प्राचीन मनुष्य पशुओं के साथ जंगलों में रहा करते थे। बिजली गिरने या वृक्ष-शाखाओं के परस्पर रगड़ने से जंगलों में आग लग जाती थी। सम्भव है, ऐसी ही आग से मनुष्य अपना कार्य चला लेता रहा हो। वे लोग अधिकतर कच्चा मांस और फल आदि खाकर ही अपना जीवन बिताते थे। धीरे-धीरे लकड़ी रगड़ कर आग निकालने का ज्ञान मनुष्य को हुआ। बीज बोकर खेती करने का भी ज्ञान उसे हुआ। पहले पत्थर के, फिर धातु के अस्त्र आदि बनाने का भी ज्ञान उसने प्राप्त किया। मकान, कपड़ा आदि भी बनने लगे। अर्थात् क्रम से वन्य जीवन को छोड़कर मनुष्य सभ्य जीवन, अर्थात् ग्राम्य और नागरिक जीवन, तक पहुँच गया। पहले चित्रमय संकेतों से, फिर अक्षरमय संकेतों से लिखने की चाल भी मनुष्यों में चल निकली। दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार चिरकाल से मनुष्यों में उत्पन्न होते आ रहे हैं। चिरकाल से मनुष्य यह सोचता था कि जो-जो बातें उसके चारों ओर होती हैं उनका कारण क्या है? पहले लोग ऐसा समझते थे, और आज भी कितने ही लोग ऐसा ही समझते हैं, कि धूप, वर्षा, ग्रहण आदि कार्य मनुष्य के सदृश हाथ, पैर, मूँछ, दाढ़ी रखनेवाले देव-दानवों के अथवा किसी एक ही देव के किये हुए हैं। धीरे-धीरे, बहुत-कुछ विचार करने पर, मनुष्यों की समझ में अब यह बात आने लगी है कि सांसारिक कार्य-कलाप के लिए सजीव प्राणियों की जरूरत नहीं है।

जैसे भीतरी कारणता का विचार चिरकाल से मनुष्यों के मन में उत्पन्न होता आ रहा है वैसे ही बाहरी पृथ्वी, तारा आदि के स्वरूप, स्थिति, गति आदि के विषय में भी चिरकाल से कल्पनाएँ चली आ रही हैं। पृथ्वी कैसी है, यह जानने का कौतुक मनुष्य में स्वाभाविक है। फिर, जैसे यात्रा आदि के लिए पृथ्वी में देश, स्थिति आदि का ज्ञान अपेक्षित है वैसे ही वन में घूमने या नदी, समुद्र आदि में नौका या जहाज द्वारा यात्रा करने वालों को दिशाओं के ज्ञान आदि के लिए नक्षत्रों आदि की गति का निश्चय भी अपेक्षित हुआ। इसलिए प्राचीन सभ्य जातियों में ज्योतिर्विद्या का बहुत पुराने समय में आविर्भाव हुआ। साथ ही साथ पत्थर काटना, कपड़ा बुनना आदि कुछ कलाओं का भी उनमें प्रचार हुआ। पर इन लोगों में तबतक ऐसे यंत्रों का आविर्भाव नहीं हुआ, जिनकी सहायता से ये लोग केवल आँख, पैर आदि से जो काम नहीं हो सकते, उन्हें करते। धीरे-धीरे सूर्य की वार्षिक गति, उस गति का राशि तथा नक्षत्रों में विभाग तथा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि

के विषय में कुछ नियम इन्हें ज्ञात हुए। बहुत दिनों तक पृथ्वी को ये लोग ऊपर चिपटी और नीचे या तो *अनन्त या शेष* आदि पर रखी हुई समझते रहे।

असल में आज से १५०० वर्ष पहले संसार की बड़ी-बड़ी राजधानियों में, अर्थात् पाटलिपुत्र, रोम आदि में, जो कुछ ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न भी हुआ था उसका हूण आदि *वन्य जातियों के आक्रमण से प्रायः लोप सा हो गया*, और अन्ततः आज से पाँच सौ वर्ष पहले, नवीन पाश्चात्य जातियाँ यदि फिर से विज्ञान की उन्नति में न लगतीं तो संसार को माया समझने वाले पूर्वी लोगों के फेर में पड़ कर ज्ञान-विज्ञान की बड़ी ही *बुरी दशा हो जाती*।

आज से ५००—६०० वर्ष पहले नवीन विज्ञान का आरम्भ हुआ। आलस्य के मारे तथा अन्य कई कारणों से लोक सांसारिक कार्यों से विमुख हो रहे थे। यूरोप वाले कुछ ऐसी दिक्कत में थे कि *यदि वे सांसारिक काम में फिर से न लगते तो उनका जीना* ही कठिन हो जाता। इसलिए इन्हीं लोगों में फिर से विराट् की सेवा का आरम्भ हुआ। पूर्वी जल-वायु ऐसा मृदु है कि भारत आदि देशों में लोग बिना मकान और कपड़े-लत्ते आदि के भी ब्रह्म-ध्यान में जीवन बिता सकते हैं, पर यूरोप की ऐसी अवस्था न थी। वहाँ अनेक क्लेश उठाने और बहुत-कुछ बुद्धि व्यय करने से ही प्राण-निर्वाह हो सकता था।

पश्चिम के लोगों ने युद्ध की आवश्यकताओं को देख कर अस्त्र-शस्त्रों का आविर्भाव किया। कपड़ा बुनने आदि की कलें इन्हीं लोगों ने बनाईं। पुस्तक छापने के यन्त्र भी इन्होंने बनाये। पर इनके अत्यन्त आश्चर्यकारक आविष्कार गत एक ही दो शताब्दियों में हुए हैं। कोई सौ-डेढ़-सौ वर्षों से इन लोगों ने दो अपूर्व शक्तियों से काम लेना आरम्भ किया है। वाष्प-शक्ति और विद्युच्छक्ति से अब जल, स्थल और वायु में ऐसे-ऐसे वाहन चल रहे हैं तथा और भी अनेक कार्य हो रहे हैं, जिनके वर्णन में हजारों पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। वाष्प और विद्युत् का ज्ञान और यन्त्रों में उनका उपयोग नवीन सभ्यता का अपूर्व कार्य है। इधर कल्पना-शक्ति में भी नवीन सभ्यता अद्भुत काम कर रही है। आज से पाँच सौ वर्ष पहले कोपर्निकस (कुपर्णिक) आदि महात्माओं ने पृथ्वी को गतिमती निश्चित किया। गत शताब्दी में डार्विन (दारुवीण) महर्षि ने विकास-सिद्धान्त चलाया, जिससे यह सिद्ध होता है कि आजकल के मनुष्य और बन्दर किसी एक ही जन्तु से विकसित हुए हैं। इन्हीं चार-पाँच सौ वर्षों में रसायन-शास्त्र का आविर्भाव भी हुआ है। ऐसे सैकड़ों नये-नये तत्त्वों का पता लगाया गया है जिन्हें प्राचीन लोग नहीं जानते थे। उनके गुण, स्वभाव आदि का निश्चय भी इसी बीच में हुआ है। हाल ही में 'एक्स' नामक विचित्र प्रकाश-किरण आविष्कृत हुई है। *इन वैद्युतिक किरण से, आवरणों जिनके भीतर की चीजें* सूर्य आदि की किरणों से नहीं देखी जा सकती हैं, उनके भीतर की चीजें देखी जा सकती हैं। रेडियम (रश्मिद) नामक एक ऐसा अद्भुत तत्त्व निकला है जिसका प्रकाश बिना घटे-बढ़े वर्षों तक रहता है। रसायनशास्त्रवालों का जो परमाणुवाद था, उससे भी गम्भीरता विद्युत्केन्द्रवाद आजकल स्थिर किया जा रहा है। उसके अनुसार एक-एक परमाणु में

अनेकानेक वैद्युतिक केन्द्र हैं। दार्शनिक विचारों में पाश्चात्यों ने कोई विशेष नई बात तो नहीं निकाली, पर इस समय के पाश्चात्य दार्शनिक पहले के दार्शनिकों से किसी बात में कम भी नहीं हैं। विज्ञान का तो यहाँ तक विकास हो रहा है कि पुष्पक विमान आदि का स्वप्न, जो भारत में आज तक स्वप्न सा ही था, अब जागरित अवस्था में भी जर्मनी फ्रांस आदि देशों में देखा जा रहा है। एक-आध तमाशे वाले विमान भूलते-भटकते पुष्पक-भूमि भारत में भी आ जाते हैं।

आज भी, विज्ञान का इतना विकास होने पर भी, भूत-प्रेत पर विश्वास केवल भारत आदि पूर्वी देशों ही में नहीं, किन्तु पश्चिमी देशों में भी, और वहाँ के सर ओलिवर लॉज आदि वैज्ञानिकों में भी पाया जाता है। आज भी ऐसे व्यक्ति ही नहीं, किन्तु ऐसे समाज के समाज पाये जाते हैं जिनके लिए वेद में ही सारा विज्ञान या सारे विज्ञान की जड़ वर्तमान है। तथापि अब हम लोगों का यह कर्तव्य है कि ऐसे लोगों या समाजों का खयाल न कर, भूत प्रेत, देव आदि के भरोसे न रहकर, असली विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करके आगे बढ़ाने का प्रयत्न करें।

इस कार्य के लिए अभी भारत में विशेष प्रयत्न नहीं हो रहा है। यहाँ केवल किसी भाषा के कुछ शब्दों को जान लेने से ही लोग अपने को विद्वान् समझने लगते हैं। और देशों में भाषाज्ञान, विद्या का एक बहुत ही छोटा अंश समझा जाता है और अपनी भाषा में वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना विद्या का प्रधान अंश समझा जाता है। पर यहाँ इसकी ठीक उलटी प्रथा है। जैसे सरकारी कार्यों को चलाने के लिए सरकार की ओर से अँगरेजी शिक्षा का प्रबन्ध है, वैसे ही यहाँ की जनता को चाहिए कि वह अपने प्रयत्न से देश की भाषाओं में अर्थात् संस्कृत, हिन्दी, बँगला आदि भाषाओं में—उत्तम से उत्तम शिक्षा—के प्रचार का प्रबन्ध करे। पर जनता क्या करे? उसके बड़े-बड़े नीतिनायक लोग बीस-बीस लाख रुपया चन्दा जिधर देते हैं और जिधर औरों को भी करोड़ों रुपये चन्दे में दिलवाते हैं, उधर ही वह बेचारी चली जा रही है। ऐसी प्रवृत्ति आजकल और किसी भी देश के नीतिनायकों की नहीं है। यदि ये महात्मा कृपा करें, देशी भाषाओं में जनता की शिक्षा के प्रबन्ध का यत्न करें तो देश का बहुत-कुछ कल्याण हो सकता है।

भूगर्भ-विद्या[1]

पार्थिव वस्तुओं में परिवर्त्तन

भूकम्प से, अग्नि-गर्भ-पर्वतों से, जल और वायु के प्रवाह से तथा सरदी-गरमी के परिवर्त्तन आदि से पृथ्वी पर तथा उसके जीव-जन्तु आदि पर कैसे-कैसे परिवर्त्तन इस समय हो रहे हैं, इस बात की परीक्षा से इसका भी कुछ पता लग सकता है कि भूतकाल में कैसे परिवर्तन हुए होंगे। पृथ्वी के परिवर्तन दो प्रकार के हैं—आन्तर और बाह्य। आन्तर परिवर्त्तन तो भीतर की गरमी के कारण हो रहे हैं। बाह्य परिवर्त्तन सूर्य की गरमी से बहते हुए जल और वायु के प्रवाह के कारण हो रहे हैं।

जब सौराण्ड से भूगोल अलग हुआ तब भगोल में प्रायः सूर्य के ही सदृश गरमी थी। यह गरमी निकलते-निकलते आयाम में पृथ्वी सिकुड़ती गई। धीरे-धीरे ऊपर का अंश ठंडा हो गया और गरमी केवल भीतर रह गई। इस समय भी अग्नि-गर्भ-पर्वतों के मुख से कभी-कभी पिघले हुए पाषाणों की नदी निकल पड़ती है। भीतर की गरमी के क्षोभ से कभी-कभी महाविनाशकारी भूकम्प भी होता है। बड़े-बड़े भूखण्ड ऊपर उठ जाते हैं या नीचे धँस जाते हैं। इन उपद्रवों के कारण बाहरी पपड़ी के पत्थरों में अनेक परिवर्त्तन हो जाते हैं—पत्थर फट जाते हैं, चूर हो जाते हैं, चिकने और चमकीले हो जाते हैं, कभी-कभी गलकर उनके ढेले तक बँध जाते हैं। अग्निगर्भ-पर्वत प्रायः कोण के सदृश होते हैं। भीतर से निकले हुए पिघले पत्थरों के ढेर से ही इनका निर्माण होता है। कोण के ऊपर एक बड़ा गड्ढा होता है। उसके भीतर ही पृथ्वी के अन्तःपिठर तक सम्बन्ध चला जाता है। कितने ही अग्निगर्भ-पर्वतों में कोण के अगल-बगल भी मुँह उभड़ पड़ते हैं। पिघले पत्थरों के जमने से काल पाकर, अग्नि-गर्भ-पर्वत बहुत ऊँचा हो जाता है। आज कल 'इटना' पहाड़ दस हजार आठ सौ चालीस फुट ऊँचा है। उसके अगल-बगल दो सौ अग्नि-कोण और भी उत्पन्न हो गये हैं। कहीं-कहीं बिना पहाड़ के ही पृथ्वी फट जाती है और उसकी दरारों से पिघला हुआ द्रव्य निकलने लगता है। भारत का ज्वालामुखी नामक स्थान इसी प्रकार का एक अधमरा प्रदर है। वायवीय और वाष्पीय पदार्थ, पिघले हुए पाषाण और पत्थर आदि के टुकड़े और गरम धूल, राख आदि पदार्थ बड़े जोर से अग्निगर्भ-पर्वतों और अग्नि-प्रदरों से निकलते हैं। मध्य-सागर के स्तम्भावली नामक अग्निगर्भ-पर्वत के सदृश कितने ही पर्वत तो चिरकाल से आग उगल रहे हैं। इटना, विसूवियस आदि के सदृश कितने ही पर्वत कभी तो शान्त रहते हैं, कभी उभड़ पड़ते हैं। सुमित्र, यव आदि कितने ही टापुओं तथा अन्य स्थानों में भी अग्निमुख-पर्वतों की शृंखला की शृंखला वर्तमान है। पृथ्वी के भीतर दबे हुए वाष्पों की ऐसी आसुरी शक्ति है कि चिरकाल की शांति के बाद जब कभी आग्नेय उद्भेद होता है तब बड़े-बड़े पहाड़ और टापू बात की बात में उड़ जाते

१. इसका पूर्वांश पृ० ३३–४१ में देखिए।

मे मिलता जाता है। इससे उसकी गलाने की शक्ति और भी बढ़ती जाती है। सेंधा नमक आदि के सदृश कितनी ही चीजें स्वयं ही पानी में गलती हैं, और कितनी ही अन्य चीजें अंगाराम्ल के योग मे गल जाती हैं। इसी अंगाराम्ल के योग से निरावरण संगमरमर तक में नोना लग जाता है। इसीके कारण मिट्टी से चूने का अंश निकल कर पानी में मिल जाता है और जब अंगाराम्ल अलग हो जाता है या भाप होकर उड़ जाता है तब फिर यह चूना कहीं न कहीं जाकर जमता है। कितने ही खनिज पदार्थ स्वयं ही सूखे होते हैं, पर पानी सोखते-सोखते ऐसी अवस्था में आ जाते हैं कि उनके कणों का विभाग आसानी से हो जाता है। भारी शहरों में, जहाँ पत्थर-कोयला बहुत खर्च होता है, वायु में क्षाराम्ल और गन्धकाम्ल के रहने के कारण भी बहुत से परिवर्तन हुआ करते हैं। धातु, पत्थर, दीवारों की ईंटें, गच आदि, ऐसे शहरों में, अक्सर पपड़ियाँ बन कर गिरने लगते हैं। कब्रिस्तान और साधुओं के स्थान आदि में गॉड के पूरे लोगों के लगाये हुए संगमरमर आदि को भी इसी प्रकार बड़ी हानि पहुँचती है। ऐसे परिवर्त्तनों को मौसिमी या आर्त्तव परिवर्त्तन कहा करते हैं। जल, वायु सरदी, गरमी, समुद्र से भूमि का ऊँचा-नीचा होना, हवा के सामने रहना आदि अनेक कारण-विशेषों से ऐसे परिवर्त्तनों में भेद पड़ता रहता है। कितने ही पत्थर गलने-योग्य वस्तुओं के बने होते हैं और कितने ही कड़ी वस्तुओं के। इसलिए अपने निर्माण के कारण भी पत्थरों में गलने की सम्भावना कमोबेश हुआ करती है। वर्षा का पानी जब पृथ्वी पर पड़ता है तब उसका एक अंश सोतों और नदियों के रूप में बहता हुआ समुद्र में चला जाता है। पर इससे कहीं अधिक अंश, जमीन में घुस जाता है। सजीव उद्भिदों और मिट्टी के द्वारा सोख लिये जाने से बचा हुआ, वर्षा के पानी का अंश, छनकर पत्थरों में घुसता है। इन पत्थरों के जोड़ों में, रन्ध्रों और प्रदरों में प्रवेश करता हुआ वह अन्त को फिर कहीं-नहीं से निर्झर के रूप में निकल जाता है। पत्थरों में घूमते-घूमते पानी अनेक अम्ल और शारीरक द्रव्यों को जमीन से लेता जाता है और उन द्रव्यों की सहायता से पत्थरों को गलाता जाता है। पत्थरों के गलने से कहीं-कहीं सुरंगें और गुफाएँ बन जाती हैं। कहीं-कहीं तो तल के पास ही ऐसे लम्बे-चौड़े रन्ध्र हो जाते हैं कि छत गिर पड़ती है और बड़े-बड़े नदी-नाले गड़प्प हो जाते हैं, और, भीतर बहते-बहते, कहीं पर नीची जमीन आ जाने पर, फिर ऊपर निकल आते हैं। कभी-कभी पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें, पानी ही के कारण, जल से अलग होकर, तराई में लुढ़क पड़ती हैं। पहाड़ी देशों और प्रपात-शृंखलाओं में ऐसे-ऐसे परिवर्त्तन प्रायः देख पड़ते हैं।

नदी-नालों के पानी में भी दो गुण हैं। एक तो गलाने का, दूसरा बहाने का। तल के और किनारे के पत्थरों तक को गला देना, घिस डालना और वहाँ से लाना नदियों के लिए आसान-सी बात है। सफेद पत्थर के देशों में, प्रपातों के नीचे-नीचे, नदी-प्रवाह के कारण बड़ी-बड़ी सुरंगें, मिहराब, छत आदि बन जाती हैं। इन निर्माणों को देख कर मूर्ख लोग प्रायः पूछते हैं कि यह सब विचित्र सृष्टि किस कारीगर की बनाई हुई है। वे लोग अपने ही ढब-ढांचे के एक या अनेक कारीगरों की कल्पना भी कर लेते

से मिलता जाता है। इससे उसकी गलाने की शक्ति और भी बढ़ती जाती है। सेंधा नमक आदि के सदृश कितनी ही चीजें स्वयं ही पानी में गलती हैं, और कितनी ही अन्य चीजें अंगाराम्ल के योग से गल जाती हैं। इसी अंगाराम्ल के योग से निरावरण संगमरमर तक में नोना लग जाता है। इसीके कारण मिट्टी से चूने का अंश निकल कर पानी में मिल जाता है और जब अंगाराम्ल अलग हो जाता है या भाप होकर उड़ जाता है तब फिर यह चूना कहीं न कहीं जाकर जमता है। कितने ही खनिज पदार्थ स्वयं ही सूखे होते हैं, पर पानी सोखते-सोखते ऐसी अवस्था में आ जाते हैं कि उनके कणों का विभाग आसानी से हो जाता है। भारी शहरों में, जहाँ पत्थर-कोयला बहुत खर्च होता है, वायु में क्षाराम्ल और गन्धकाम्ल के रहने के कारण भी बहुत से परिवर्त्तन हुआ करते हैं। धातु, पत्थर, दीवारों की ईंटें, गच आदि, ऐसे शहरों में, अक्सर पपड़ियाँ बन कर गिरने लगते हैं। कब्रिस्तान और साधुओं के स्थान आदि में गाँठ के पूरे लोगों के लगाये हुए संगमरमर आदि को भी इसी प्रकार बड़ी हानि पहुँचती है। ऐसे परिवर्त्तनों को मौसिमी या आर्त्तव परिवर्त्तन कहा करते हैं। जल, वायु सरदी, गरमी, समुद्र से भूमि का ऊँचा-नीचा होना, हवा के सामने रहना आदि अनेक कारण-विशेषों से ऐसे परिवर्त्तनों में भेद पड़ता रहता है। कितने ही पत्थर गलने-योग्य वस्तुओं के बने होते हैं और कितने ही कड़ी वस्तुओं के। इसलिए अपने निर्माण के कारण भी पत्थरों में गलने की सम्भावना कमोबेश हुआ करती है। वर्षा का पानी जब पृथ्वी पर पड़ता है तब उसका एक अंश सोतों और नदियों के रूप में बहता हुआ समुद्र में चला जाता है। पर इससे कहीं अधिक अंश, जमीन में घुस जाता है। सजीव उद्भिदों और मिट्टी के द्वारा सोख लिये जाने से बचा हुआ, वर्षा के पानी का अंश, छनकर पत्थरों में घुसता है। इन पत्थरों के जोड़ों में, रन्ध्रों और प्रदरों में प्रवेश करता हुआ वह अन्त को फिर कहीं-कहीं से निर्झर के रूप में निकल जाता है। पत्थरों में घूमते-घूमते पानी अनेक अम्ल और शारीरक द्रव्यों को जमीन से लेता जाता है और उन द्रव्यों की सहायता से पत्थरों को गलाता जाता है। पत्थरों के गलने से कहीं-कहीं सुरंगें और गुफाएँ बन जाती हैं। कहीं-कहीं तो तल के पास ही ऐसे लम्बे-चौड़े रन्ध्र हो जाते हैं कि छत गिर पड़ती है और बड़े-बड़े नदी-नाले गड़प हो जाते हैं, और, भीतर बहते-बहते, कहीं पर नीची जमीन आ जाने पर, फिर ऊपर निकल जाते हैं। कभी-कभी पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें, पानी ही के कारण, जल से अलग होकर, तराई में लुढ़क पड़ती हैं। पहाड़ी देशों और प्रपात-शृंखलाओं में ऐसे-ऐसे परिवर्त्तन प्रायः देख पड़ते हैं।

नदी-नालों के पानी में भी दो गुण हैं। एक तो गलाने का, दूसरा बहाने का। तल के और किनारे के पत्थरों तक को गला देना, घिस डालना और बहा ले जाना नदियों के लिए आसान-सी बात है। सफेद पत्थर के देशों में, प्रपातों के नीचे-नीचे, नदी-प्रवाह के कारण बड़ी-बड़ी सुरंगें, मिहराब, छत आदि बन जाते हैं। इन निर्माणों को देख कर भूले लोग प्रायः पूछते हैं कि यह सब विचित्र सृष्टि किस कारीगर की बनाई हुई है। वे लोग अपने ही इस-द्वीप के एक या अनेक कारीगरों की कल्पना भी कर लेते

से मिलता जाता है। इससे उसकी गलाने की शक्ति और भी बढ़ती जाती है। सेंधा नमक आदि के सदृश कितनी ही चीजें स्वयं ही पानी में गलती हैं, और कितनी ही अन्य चीजें अंगाराम्ल के योग से गल जाती हैं। इसी अंगाराम्ल के योग से निरावरण संगमरमर तक में नोना लग जाता है। इसीके कारण मिट्टी से चूने का अंश निकल कर पानी में मिल जाता है और जब अंगाराम्ल अलग हो जाता है या भाप होकर उड़ जाता है तब फिर यह चूना कहीं न कहीं जाकर जमता है। कितने ही खनिज पदार्थ स्वयं ही सूखे होते हैं, पर पानी सोखते-सोखते ऐसी अवस्था में आ जाते हैं कि उनके कणों का विभाग आसानी से हो जाता है। भारी शहरों में, जहाँ पत्थर-कोयला बहुत खर्च होता है, वायु में क्षाराम्ल और गन्धकाम्ल के रहने के कारण भी बहुत से परिवर्त्तन हुआ करते हैं। धातु, पत्थर, दीवारों की ईंटें, गच आदि, ऐसे शहरों में, अक्सर पपड़ियाँ बन कर गिरने लगते हैं। कब्रिस्तान और साधुओं के स्थान आदि में गाँठ के पूरे लोगों के लगाये हुए संगमरमर आदि को भी इसी प्रकार बड़ी हानि पहुँचती है। ऐसे परिवर्त्तनों को मौसिमी या आर्त्तव परिवर्त्तन कहा करते हैं। जल, वायु सरदी, गरमी, समुद्र से भूमि का ऊँचा-नीचा होना, हवा के सामने रहना आदि अनेक कारण-विशेषों से ऐसे परिवर्त्तनों में भेद पड़ता रहता है। कितने ही पत्थर गलने-योग्य वस्तुओं के बने होते हैं और कितने ही कड़ी वस्तुओं के। इसलिए अपने निर्माण के कारण भी पत्थरों में गलने की सम्भावना कमोवेश हुआ करती है। वर्षा का पानी जब पृथ्वी पर पड़ता है तब उसका एक अंश सोतों और नदियों के रूप में बहता हुआ समुद्र में चला जाता है। पर इससे कहीं अधिक अंश, जमीन में घुस जाता है। सजीव उद्भिदों और मिट्टी के द्वारा सोख लिये जाने से बचा हुआ, वर्षा के पानी का अंश, छनकर पत्थरों में घुसता है। इन पत्थरों के जोड़ों में, रन्ध्रों और प्रदरों में प्रवेश करता हुआ वह अन्त को फिर कहीं-कहीं से निर्झर के रूप में निकल जाता है। पत्थरों में घूमते-घूमते पानी अनेक अम्ल और क्षारोत्क द्रव्यों को जमीन से लेता जाता है और उन द्रव्यों की सहायता से पत्थरों को गलाता जाता है। पत्थरों के गलने से कहीं-कहीं सुरंगें और गुफाएँ बन जाती हैं। कहीं-कहीं तो तल के पास ही ऐसे लम्बे-चौड़े रन्ध्र हो जाते हैं कि छत गिर पड़ती है और बड़े-बड़े नदी-नाले गड़प्प हो जाते हैं, और, भीतर बहते-बहते, कहीं पर नीची जमीन आ जाने पर, फिर ऊपर निकल जाते हैं। कभी-कभी पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें, पानी ही के कारण, जल से अलग होकर, तराई में लुढ़क पड़ती हैं। पहाड़ी देशों और प्रपात-शृंखलाओं में ऐसे-ऐसे परिवर्त्तन प्रायः दीख पड़ते हैं।

नदी-नालों के पानी में भी दो गुण हैं। एक तो गलाने का, दूसरा बहाने का। तल के और किनारे के पत्थरों तक को गला देना, घिस डालना और बहा ले जाना नदियों के लिए आसान-सी बात है। सफेद पत्थर के देशों में, प्रपातों के नीचे-नीचे, नदी-प्रवाह के कारण बड़ी-बड़ी सुरंगें, मिहराब, छत आदि बन जाती हैं। इन निर्माणों को देख कर मूर्ख लोग प्रायः पूछते हैं कि यह सब विचित्र सृष्टि किस कारीगर की बनाई हुई है। वे लोग अपने ही ढंग-ढाँचे के एक या अनेक कारीगरों की कल्पना भी कर लेते

है। वे यह नहीं समझते कि वस्तु दो प्रकार की है--कृत्रिम अर्थात् बनाई हुई और अकृत्रिम अर्थात नहीं बनाई हुई। दोनों को एक ही हल में जोत कर झगड़-दगड़ प्रश्न करना कैसा अन्याय है! यदि कोई पूछे कि ईंट और मकान का बाप कौन है और वृक्षों या बच्चों का कारीगर कौन है तो यह पागलपन नहीं तो क्या है? हाँ, यह पूछा जा सकता है कि अकृत्रिम वस्तुएँ किन वस्तुओं के स्वाभाविक संयोग-वियोग से बनी हैं। जिन विशेष संघटनाओं के पहले जो विशेष संघटनाएँ रहती हैं उन्हीं में से पहली गठन को आगे की गठन का कारण कह सकते हैं। प्रकृति का पूर्व-क्षण, उत्तर-क्षण का कारण है और हर क्षण में अनेक विचित्रताएँ हैं। इसलिए चाहे जितना ढूँढ़ते जाओ पूर्व-क्षण अनेक विचित्रताओं से भरा ही हुआ पाया जायगा! भगवान् गौड़पाद और शंकर का शुद्ध ब्रह्म तो कभी मिलने ही वाला नहीं और न इस निर्माण-विशेषों का साकार या निराकार कारीगर ही कहीं मिलनेवाला है, जो जन्तर-मन्तर वालों की तरह फूँक-फाँक न कर, या साधुओं के रद्दश संकल्प-सिद्धि से या अपने लम्बे हाथों की कारीगरी से, प्रकृत घटनाओं की कारीगरी सिद्ध कर दे। पाँक, बालू, कंकड़, पत्थर की चट्टान आदि को ऊपर से नीचे बहा लाना और पानी के तथा इन बहाई हुई वस्तुओं के धक्के से अपने तल-भाग को गहरा करना, और किनारे को काटते जाना तथा जहाँ-तहाँ इन वस्तुओं के ढेर के ढेर जमा करना भी नदियों का कर्त्तव्य है। झरने के पानी की अपेक्षा नदी का पानी कम चमकीला होता है। क्योंकि उसमें खनिज द्रव्य, सोते आदि से बह कर या किनारों आदि से कट कर, मिले रहते हैं। अब यह देखना चाहिए कि ऊँचे पहाड़ों से लेकर समुद्र में पहुँचने तक नदियाँ क्या-क्या काम करती हैं। पहाड़ों पर प्रपात आदि से उखड़ कर आये हुए बड़े-बड़े गण्ड-शैलों, अर्थात् चट्टानों, से पानी की गति प्रायः रुकी हुई रहती है। धीरे-धीरे पानी से रगड़ खाते हुए ये पत्थर घिसते जाते हैं और गोले होते हुए नीचे लुढ़कते जाते हैं। इन्हें आपस की रगड़ अलग सहनी पड़ती है और पहाड़ी तलों और तटों की रगड़ अलग लगती है। इसलिए ये स्वयं भी घिसते जाते हैं और तल-तटों को भी घिसते जाते हैं। घिसने से उत्पन्न पाँक और बालू की ढेरी बढ़ती चली जाती है। मोटी बालू आदि तो तल में मढ़ती जाती है, पर महीन पाँक और बालू आदि पानी के साथ स्वच्छन्द बहती रहती है। भारी-भारी नदियों में प्रायः पानी के तौल के हिसाब से पन्द्रह सौ हिस्से में एक हिस्सा पाँक आदि का रहता है। गणित से निश्चय किया गया है कि अमेरिका की मिश्रिशिप्रा नदी, समुद्र की खाड़ी में तलछट, पाँक आदि इतना ले जाती है कि प्रतिवर्ष उससे दो सौ अड़सठ फुट ऊँचा और आध कोस चौड़ा तथा आध कोस लम्बा एक तकिया बन जाय। पानी के साथ बहने वाली बालू, पत्थर, कंकड़ आदि पदार्थों के धक्के से नदियों के तलों और कगारों में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। आवर्त्तों में पड़कर पत्थर आदि स्वयं घिसते जाते हैं और शिला-सदृश कठिन वस्तुओं में भी गड्ढे खोदते जाते हैं। तल जितना ही ढालुआँ होता है जल का वेग उतना ही अधिक होता है। वेग अधिक होने के कारण तल और तट घिसने में शीघ्रता होती है। जहाँ पहाड़ इस प्रकार का है

कि पानी ऊपर से नीचे निर्झर धारा के रूप में गिरता है, वहाँ धारा गिरने की जगह पर बड़े गड्ढे हो जाते हैं, जैसा कि अफ्रिका के नयगिरि-निर्झर के नीचे हो गया है। नदियों और झरनों के ही कारण सूखी जमीन पर बहुत गहरी तराइयाँ आदि बन गई हैं। इस प्रकार नदियों से भूमि का क्षय होता है। पर जहाँ-जहाँ जल का व्यापार किसी प्रकार रुकता है वहाँ-वहाँ पाँक जमती जाती है। इस कारण नई भूमि उत्पन्न होती है। पहाड़ के नीचे तराइयों में ऐसी भूमि बहुतायत से पाई जाती है। जहाँ भूमि बहुत ऊँची हो जाती है वहाँ से हटकर नदी अपनी धार दूसरी ओर ले जाती है। इस प्रकार ऊँची करार के नीचे नई पाँक का ढेर जमा हो जाता है। उसके नीचे फिर एक और नई तह पड़ जाती है। इससे सीढ़ी के सदृश तह के तह करारे पड़ते जाते हैं। इसी प्रकार नदी के मुँह पर त्रिकोण-भूमि भी बन जाती है। समुद्र के समीप, बड़ी नदियों के संगमों पर, बड़े-बड़े त्रिकोण देखने में आते हैं। नदियों के मुँह पर केवल त्रिकोण ही नहीं बन जाते, पाँक जमने से कहीं-कहीं बड़े-बड़े बाँध भी बन जाते हैं। सुन्दरवन आदि के समीप कहीं-कहीं पाँक से ऐसे-ऐसे बाँध बन गये हैं कि उनसे समुद्र का अंश, घिर कर, बड़े-बड़े कच्छों के रूप में दीख पड़ता है। मक्षिका की खाड़ी के पास और युक्त-प्रजाराज्य के पूर्वी तटों पर ऐसे कच्छों के बड़े-बड़े सिलसिले हैं। नदियों के अतिरिक्त झील के जल से भी पृथ्वी पर बड़े-बड़े काम होते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि भूकम्प आदि के बाद जमीन धँस जाने से बड़े-बड़े खड्ड पड़ जाते हैं, जो काल पाकर पानी से भर जाते हैं। कहीं-कहीं सैंधव-शिला और खटिका-प्रस्तर आदि के गल जाने से भी जमीन धँस जाती है। बड़े-बड़े हिमानी ह्रदों के व्यापार से भी जमीन में गड्ढे पड़ जाते हैं। ऐसे गड्ढे जब काल पाकर नदी से भर जाते हैं तब झील के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। कहीं-कहीं पानी न बहने और गरमी से भाप अधिक उड़ने के कारण ये झीलें नमकीन हो जाती हैं, जैसे साँभर की झील। पर ठंडे मुल्कों में, यदि पानी कुछ बहता जाय, तो झीलें मीठी होती हैं। औवेरिका का वैकाल सरोवर और त्रिविष्टप का मानस-सर तथा और भी अनेक झीलें मीठे पानी की हैं। आस-पास के जल की बाढ़ को अपने में सोख लेना, धीरे-धीरे अपने तल को बाहरी द्रव्यों से ऊँचा करते जाना आदि झीलों के अनेक व्यापार हैं। जल द्रव-रूप से तो काम करता ही है, जम कर बर्फ ओले, पाले आदि के रूप में भी वह अनेक काम करता है। मिट्टी और पत्थरों में जहाँ कहीं पानी जमता है वहाँ वह मिट्टी या पत्थर को तोड़ देता है। कारण यह है कि जैसे भाप होने पर, पानी का आयाम बढ़ता है वैसे ही बर्फ होने पर भी पानी का आयाम कुछ बढ़ता है और बढ़ते समय अपने आश्रय को फैला देता है। जब जमा हुआ पानी फिर पिघलता है, तब तोड़ी हुई मिट्टी या पत्थर आदि के टुकड़े, हवा आदि में उड़ने से बचे-बचाये, पानी के साथ बह चलते हैं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे प्रदर, अपने भीतर के पानी के जम जाने के कारण, बढ़ चलते हैं और बड़ी-बड़ी चट्टानें होकर गिरते हैं। जमी हुई नदियों और जमी हुई झीलों के किनारे की मिट्टी और पत्थरों पर इसी

प्रकार बड़े-बड़े धक्के लगते हैं और तट की बड़ी-बड़ी चट्टानें निकल पड़ती हैं। तट को ढाहता हुआ पानी जब पिघलता है तब बाढ़ का बड़ा भारी उपद्रव होता है। जब ओले पड़ते हैं, तब उद्भिदों और जीवों को कितनी हानि पहुँचाती है यह सभी को विदित है। बर्फ का समूह हिमशिला या हिमानी ह्रदों के रूप में पहाड़ों से उतड़ता हुआ पत्थरों को घिसता हुआ, पिघलने पर नदियों से मिल कर उनकी बाढ़ को बढ़ाता हुआ, कभी-कभी तराई में बस्तियों को साफ करता हुआ, कैसा उपद्रव मचाता है—यह पहाड़ी स्थिति जानने वालों को विदित ही है। बर्फ और पानी के प्रवाहों में इतनी ताकत है कि पत्थर तक घिस कर ऐसा चिकना हो जाता है जैसा किसी यन्त्र से भी शायद न हो सके। जल और हिम के ऐसे ही व्यापारों से लोढ़ी के सदृश चिकने-चिकने नर्मदेश्वर और काजल के गोले के सदृश शालग्राम पाये जाते हैं, जिनके विषय में पत्थर काटनेवाले कीड़ों आदि की अनेकानेक कल्पनाएँ आजकल के लोगों ने की है। पर नदी, झील करका, हिम आदि जल के जितने रूप हैं सबका बड़ा खजाना समुद्र है। वहाँ से पानी के कण निकल कर अनेक रूप धारण करते हैं और अपने लम्बे-चौड़े इतिहास के अन्त में फिर वहीं जाकर मिलते हैं। सरदी-गरमी और जलवायु आदि का नियामक समुद्र है। उद्भिदों और जीवों की स्थिति पर समुद्र का बड़ा भारी असर पड़ता है। पुरानी मिट्टी खा जाने और नई मिट्टी उत्पन्न करने में भी वह बहुत सहायता पहुँचाता है। जिन पत्थरों पर उसका पानी पड़ा रहता है उन्हें वह अपने नमक से धीरे-धीरे खाता रहता है। समुद्र अपने ज्वार से बराबर किनारे को मारता हुआ धीरे-धीरे खड़े पत्थरों को भी खा डालता है। तट-शिलाओं के भीतर तरंगों का आघात पहुँचाता है। बड़े-बड़े कल्लोल अपने जलाघात से चट्टानों को तोड़ देते हैं और पत्थरों की जड़ में गुफाएँ और सुरंगें तक खोद डालते हैं। तरंगों में मिले हुए कंकड़-पत्थर आदि का झटका तट-शिलाओं पर इतने वेग से लगता रहता है कि जैसे तोप के गोले किले की दीवार को खा जाते हैं वैसे ही समुद्र इन शिलाओं को खाये बिना नहीं छोड़ता। अपनी तरंगों के द्वारा समुद्र किनारे की बहुत-सी मिट्टी इत्यादि बटोरता जाता है। नदियाँ भी करोड़ों मन पाँक समुद्र में प्रतिक्षण पहुँचा रही हैं। इस कारण तहदार टापू, पहाड़ आदि समुद्र के भीतर से बढ़ते-बढ़ते जल के तल से ऊपर आकर, कालांतर में बस्ती के योग्य हो जाते हैं। विशेष कर जमीन से घिरे हुए समुद्री अंशों में सज्जी, नमक आदि अनेक प्रकार के रस तल पर इकट्ठे होते जाते हैं। समुद्र के आगाधप्राय तलों में अग्नि-गर्भ-पर्वतों की राख आदि से मिली हुई बहुत ही महीन पाँक पाई जाती है। तल की पाँक में बहुत से छोटे-छोटे जन्तु मिले रहते हैं।

पृथ्वी तल का परिवर्तन, जल-वायु आदि केवल अचेतन वस्तुओं के ही व्यापार से नहीं हो रहा है; इस परिवर्तन में जीव-शरीर भी अनजाने या जानबूझ कर बहुत-कुछ काम कर रहे हैं। रक्षा, संहार और नई उत्पत्ति—तीनों कार्य, जन्तुओं के द्वारा, इस पृथ्वी पर हो रहे हैं। उद्भिदों के कारण पत्थरों में सरदी जमी रहती है। सरदी के कारण पत्थरों का क्षय कैसे होता है यह पहले ही कह आये हैं। सड़े-गले उद्भिदों से अंगाराम्ल

आदि पत्थर खानेवाली चीजें उत्पन्न होती हैं। इससे भी पत्थरों का क्षय होता है। घने जंगल वृष्टि खींचते हैं। इस कारण जंगली जगहों में पानी का प्रवाह अधिक होता है और प्रवाह के कारण जमीन घिसती है। शिलीन्ध्र या सांप के छाते के सदृश अनेक उद्भिद सड़े-गले उद्भिदों और जीव-शरीरों पर उत्पन्न होते हैं और उन्हें खा डालते हैं। इस प्रकार उद्भिदों से नाश का कार्य भी होता है; पर साथ ही साथ रक्षा भी होती है। हरे उद्भिदों से आवृत मिट्टी, पत्थर आदि पर जल-वायु का असर कम पड़ता है। पौधों की जड़ की मिट्टी, बालू आदि पदार्थ जमते और दृढ़ होते जाते हैं। इस कारण हवा उन्हें उड़ा नहीं सकती और पानी बहा नहीं सकता। जल-प्रवाह से आई हुई पांक भी पौधों की जड़ में जम जाती है। पानी छनता जाता है और जमीन ऊँची होती जाती है। कितने ही पौधे ऐसे हैं जो समुद्र के किनारे उत्पन्न होते हैं और समुद्र के धक्के से किनारे की रक्षा करते हैं। जंगलों और वृक्षों से ढालुवाँ जमीन खूब भरी रहे तो वृष्टि के जल और हिमानी के वेग से उसे बहुत ही कम हानि पहुँचती है। कितने ही उद्भिदों के सड़ने से ऐसी खाद पैदा होती है जिससे कृषि-कार्य में सहायता होती है। उद्भिदों के सदृश-जीव-शरीर भी मिट्टी के परिवर्त्तन में सहायता कर रहे हैं। कीड़े जमीन को खोद-खोद कर नीचे की मिट्टी ऊपर लाते हैं, जिससे नई मिट्टी पड़ने के कारण कृषि को लाभ होता है। पर ऐसी मिट्टी पानी से बहुत जल्द बह जाती है—कीड़ों के अतिरिक्त चूहे, छुछूंदर आदि जन्तु भी जमीन को खोद-खोद कर मिट्टी हवा में उड़ाते या पानी में बहाते जाते हैं। ऐसे जन्तुओं के बनाये हुए बिलों से ऊपर का पानी आसानी से भीतर चला जाता है, जिससे बाढ़ के नाश का भय बहुत कम हो जाता है। सेतु-शृगाल आदि कई ऐसे जन्तु हैं जो पानी में बांध बांध कर बसते हैं और पानी को घार फेर देते हैं। इनके कारण भी पानी रुकता है और नई मिट्टी डालता हुआ कृषि का उपकार करता है। कितनी ही मछलियाँ भी जमीन को खोद कर नदी के किनारे भूमि के भीतर रहती हैं। मिश्र-शिप्र के बांधों को ऐसी मछलियाँ कभी-कभी ऐसे ढंग से भीतर ही भीतर खा जाती हैं कि बांध टूटने के कारण आस-पास के प्रदेश को बड़ी हानि पहुँचाती हैं। बांध के भीतर चूहों के कारण भी देश को हानि पहुँचती है। कितने ही प्रकार के घोंघे पत्थर और लकड़ी आदि को खोद-खोद कर बिगाड़ देते हैं। टिड्डी आदि के उपद्रव से कृषि की हानि तो प्रसिद्ध ही है। मरे शरीरों के सड़ने और मिट्टी में मिलने से मिट्टी के गुण आदि में बहुत परिवर्त्तन होता है। कीड़े, पतंगे, शंख, सूती, मूँगा, घोंघा आदि के मरने और उड़ने से भी पृथ्वी में परिवर्त्तन होता है। कहीं सूतियों के सड़ने से चूना जम जाता है; कहीं नई-नई खाद पड़ जाती है। इन कारणों से कृषि आदि को बहुत सहायता मिलती है।

और, जीवों के साथ ही साथ मनुष्य भी पृथ्वी पर अपना काम करता रहता है। मनुष्य प्रकृति देवी या संसार-भगवान् का बच्चा है। पर बच्चा होने पर भी वह केवल माँ-बाप की सहायता का भरोसा नहीं रखता। वह उनसे लड़ा भी करता है। जलवायु के

सम्बन्ध में वह अपने माँ-बाप से अनेक प्रकार की छेड़-छाड़ किया करता है। वह अपनी चण्डी शक्ति से जंगलों को उजाड़ता हुआ अनेकानेक महिषासुरों और बिडालासुरों के आश्रम का सर्वनाश कर देता है। वृक्षों के कारण सर्द और सुरक्षित देशों को नंगा करके वह उन्हें सूर्य के ताप और वायु के झकोरों के सामने खड़ा कर देता है। नहर और नालियाँ खोदकर बड़ी-बड़ी बाढ़ों को वह आसानी से निकाल बाहर करता है। देश के देश को वह ऐसा सूखा कर देता है कि न वहाँ से ज्यादा भाप ही आसमान को जाय, न वृष्टि ही हो। कच्छों और दलदलों को सुखा कर मनुष्य खेत बना लेता है। ऊसरों, पहाड़ियों और पथरीली तराइयों को ओषधि, लता, गुल्म आदि से वह भर देता है। देश को सूखा कर, वृष्टि को घटाकर, मनुष्य नदी-प्रवाहों को भी कम कर देता है। कुआँ, खान और कृत्रिम सुरंग आदि खोद कर जमीन के भीतर के झरने आदि के कार्यों में भी वह अदल-बदल किया करता है। बांध और पुल आदि से वह नदियों का आयाम कम कर देता है। और उनकी गहराई और वेग को बढ़ा देता है। बड़े-बड़े पानी के कारखाने खड़े करके और नहर आदि निकाल कर गंगा आदि के प्रवाहों को भी छिन्न-भिन्न कर देना मनुष्य के लिए आसान काम है। वृक्ष-हीन पहाड़ों को जंगलों से भर देना और जंगलों से लदे हुए पहाड़ों को निर्वृक्ष कर डालना; घास-पात एक जगह से हटाना और दूसरी जगह ले जाना, उजाड़ रेतों को मूँज, झाऊ आदि के जंगलों से भर देना; अनेक गुल्मों से भरी हुई रेतीली जमीन को साफ कर देना; नदी-नालों को पाट कर या हटा कर नई भूमि निकाल लेना; पुरानी भूमि को जल-प्रवाह के भीतर डाल देना; बाँध, टीले, घाट-दीवार, बन्दरगाह, किले आदि के निर्माण से नदी, समुद्र आदि के नाशकारी वेग को रोकना ; तरंगों से आये हुए किनारे के पत्थर आदि को हटाकर किनारे की कमजोरी बढ़ाना; सड़क, पुल, नहर, रेल, सुरंग, गाँव, शहर आदि बनाना इत्यादि प्रकृति देवी के प्यारे बच्चे मनुष्य का व्यापार है, जिस से तीनों लोकों अर्थात् रसातल, भूपृष्ठ और वायुमण्डल---में अनेक परिणाम हो रहे हैं। जंगली जन्तुओं और कितने ही पौधों का नाश करने और गल्ले, तरकारी, फल आदि के पौधों को बढ़ाने तथा बकरी, भेड़, गाय, बैल, कुत्ते, बिल्ली आदि पालने से भी मनुष्य पार्थिव परिणाम में सहायक हुआ है। शिकारी पशु-पक्षी आदि से मनुष्य की बराबर लड़ाई चली आती है। मनुष्य के व्यापार से कितने ही बली जन्तु--व्याघ्र, सिंह आदि--नष्ट होते जा रहे हैं और कितने ही दुर्बल जन्तु बढ़ते जा रहे हैं। इन दुर्बल जन्तुओं को मनुष्य अपने काम के लिए बढ़ाता भी है और आवश्यकता होने पर खा भी जाता है।

पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी का संगठन

पृथ्वी की उपरी पपड़ी का जितना अंश मनुष्य की पहुँच में है वह प्रायः तहदार पत्थरों का बना हुआ है। अर्थात् उसमें एक के ऊपर एक तह है, जिससे यह मालूम होता है कि पानी की तलछट जमते-जमते उनकी रचना हुई है। इन तहों में वीचियों की रेखा पड़ गई है। कहीं-कहीं धूप से ये फट गये हैं। वर्षा की बूँदें भी इन पर कहीं-कहीं पड़ी

हैं। ये चिह्न इन तहों के पत्थर हो जाने पर भी, आज भी, देखे जाते हैं। ऐसे चिह्नों से इन तहों का इतिहास विदित होता है। इन तहों की मिट्टी, जन्तु आदि के परीक्षकों को मालूम हो जाता है कि कौन अंश समुद्र के भीतर था, कौन अंश समुद्र के किनारे था, कौन अंश स्वच्छ नदी आदि के पानी के नीचे था, इत्यादि। तहदार पत्थरों के अतिरिक्त पपड़ी में कहीं-कहीं बेतह के आग्नेय पाषाण पाये जाते हैं। कहा जा चुका है कि ये पाषाण भूगर्भ के अन्तःपिठर के उद्भेदों के कारण ऊपर आये हैं। आग्नेय पाषाणों के दो सिलसिले हैं। कुछ तो ऐसे पाषाण हैं जो भीतरी द्रव्यों की तह में घुसकर वहाँ जम जाने से उत्पन्न हुए हैं। ये पपड़ी के ठीक ऊपर नहीं पहुँच सके। पर कितने ही पाषाण पिघले हुए द्रव्य, पाषाण-खण्ड आदि के ऊपर आकर जम जाने से उत्पन्न हुए हैं। भीतर के पाषाणों में ठीक-ठीक रवे पड़े हैं, क्योंकि उनकी गरमी बहुत-धीरे धीरे निकली है और वे बहुत देर में जमे हैं। ऊपर के पाषाणों के रवे ऐसे उत्तम नहीं हैं, क्योंकि बाहर की हवा से उनकी गरमी बहुत जल्द निकल गई है और वे बहुत शीघ्र जम गये हैं। भीतरी और बाहरी, दोनों प्रकार के पाषाणों में, अनेक परिवर्त्तन होते रहे हैं। पृथ्वी में क्या, संसार में सभी जगह अनेक प्रकार की गतियाँ हो रही हैं। कितने ही सूक्ष्म कम्प आदि तो ऐसे हैं जिनका पता बिना सुकुमार यन्त्रों के नहीं लग सकता। पर कितनी ही गतियाँ ऐसी भयानक क्षोभमय हैं जिनसे पहाड़ों की शृंखला तक उठ आवे, धँस जाय, या बिखर पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसी ही गतियों के कारण पत्थरों में कहीं चौकोने और कहीं विषम चट्टानें उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं। पानी की तलछट के सूखने, घने होने और संकुचित होने से, या पिघले हुए द्रव्यों के ठंडे होकर जमने या पपड़ी के अन्दर की चीजों के हिलने-डुलने से तथा ऐसे ही अन्य व्यापारों से भी इस तरह के क्षोभ उत्पन्न होते हैं। तहदार पत्थर प्रायः समुद्र के तल पर तिर्यग्भाव में, एक के ऊपर एक, पड़ते हैं। पर आज कल सूखी जमीन पर उसकी ऐसी स्थिति बहुत कम पाई जाती है। आजकल या तो उनकी तह की रेखा ऊपर नीचे को गई है या वे अनेक कोणों के आकार में स्थित हैं। कहीं-कहीं तहें टूट भी गई हैं। अदर के आस-पास कहीं-कहीं पत्थर उठ आये हैं, कहीं-कहीं दब गये हैं और कहीं-कहीं तो तह के एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े की ऊँचाई में हजारों फुट का फर्क पड़ गया है। ऐसी विषमता प्रायः भूकम्प वाले प्रदेशों में अधिक पाई जाती है। अनेक प्रकार के वैषम्य और संकर, पहाड़ों के सिलसिलों में पाये जाते हैं। इन सिलसिलों में कहीं-कहीं तो तहें अपने-अपने क्रम से सिमटी पड़ी हैं। कहीं कोनों तक पहाड़ फट जाने से ऊपर के अंश नीचे घुस गये हैं। कहीं तहें चूर-चूर हो गई हैं। कहीं मोटी रेखाएँ पड़ गई हैं। जहाँ-तहाँ पहाड़ी और बेपहाड़ी देशों में पत्थर के अदर खनिज द्रव्यों से भर गये हैं।

जन्तुओं की प्राचीन स्थिति

पत्थरों में जम कर स्वयं भी पत्थर हो गये प्राचीन जीव-शरीर जहाँ-तहाँ वर्तमान हैं। जैसे कीड़े-मकोड़े आदि जीवों के शरीर पत्थर में पड़े हैं वैसे ही उद्भिदों के शरीर

और शरीरांश, फल, फूल, रस आदि भी भूमि में वर्तमान हैं। भूमि में जीवों की स्थिति के चिह्न जीवशरीरों के अतिरिक्त भी हैं। कीड़ों के चलने का चिह्न, उनके बिलों आदि के निशान, बड़े-बड़े जानवरों के पैरों आदि के चिह्न, मनुष्यों के पाषाणमय, धातु-घटित या मृत्तिका से निर्मित अस्त्र-शस्त्र आदि से जन्तुओं की स्थिति का पता लगता है। आज कल पृथ्वी की जैसी अवस्था है उससे जान पड़ता है कि जलीय या स्थलीय पौधे, जीव या उनके चिह्न, जो पत्थरों में मिलते हैं, एक अद्भुत ही घटना है। इन वस्तुओं के उड़ जाने, बह जाने या किसी तरह लोप हो जाने के इतने कारण वर्तमान हैं, जिनका ठिकाना नहीं। फिर भी यह देखना है, किन-किन कारणों से जहाँ-तहाँ इनकी रक्षा हो सकती थी और आज भी हो सकती है। घने जंगलों में अनेक जीव-जन्तु रह सकते हैं। वृक्ष सड़कर मिट्टी में मिल जाते हैं। जानवर भी पुश्त-दर-पुश्त मरते चले जा रहे हैं और उनकी स्थिति का कोई जाहिरा निशान नहीं पाया जाता? अनेक चिह्नों से यह मालूम होता है कि यूरप के बीच वाले और उत्तरी हिस्से में घने जंगल थे। जंगली बैल, भालू आदि यूरप के प्राचीन जन्तु अब कहाँ हैं? ऊपर की भूमि देखने से इन जंगलों और जंगली जन्तुओं का कोई पता नहीं चलता। यदि ताल, झील आदि के भीतर, खाद के अन्दर, नदियों के मुँह पर, पाँक की ढेरी में, प्रस्तरों की गुफाओं में हड्डी आदि न पाई जाती तो प्राचीन पौधों और जन्तुओं का पता लगना दुस्तर था। समुद्र के भीतर बालू और पाँक के नीचे जो जीव-जन्तु आदि पड़े रहते हैं उनके बचे रहने की सम्भावना कुछ अधिक है। *दाँत-हड्डी आदि कड़ी चीजें खास कर पत्थरों में जमी रह जाती हैं और स्वयं पत्थर हो* कर चिरकाल तक वर्तमान रहती हैं। समुद्री जन्तु—शंख, शुक्ति, आदि —पृथ्वी में जमे हुए जितने मिलते हैं उतने स्थलीय जन्तु आदि नहीं मिलते, क्योंकि सूखी पृथ्वी पर से ये बहुत आसानी से नष्ट हो सकते हैं। इसीलिए समुद्री घोंघे प्राचीन स्थिति की वर्णमाला कहे जाते हैं। इन्हीं की परीक्षा से भूग्रह की पपड़ी की तह पर जन्तु-स्थिति की सूचना मिलती है। प्राचीन पौधे, जन्तु आदि की परीक्षा से दो बातें जानी जाती हैं। प्राचीन समय में भूमि, नदी, ताल झील, समुद्र आदि की स्थिति का, जल-वायु के परिवर्त्तन आदि का और पौधों तथा जन्तुओं आदि के विभाग का पता इन्हीं की परीक्षा से लगता है। फिर कौन पत्थर कितने पुराने हैं, इसका भी पता इन्हीं परीक्षाओं से लगता है। कहीं-कहीं अब भी बढ़ते हुए पौधों से भूषित पुरानी जमीन का पता लगता है। कहीं-कहीं पुराने ताल, झील, आदि अपने-अपने घोंघों आदि से भरे हुए मिलते हैं। जन्तुओं की बनावट की परीक्षा से यह भी पता लगता है कि कहाँ खारा पानी था, कहाँ पुराने समुद्र थे और कहाँ मीठे जल की झीलें आदि थीं। बढ़े हुए जंगलों और पेड़ों आदि से पता लगता है कि आस-पास भूमि थी या नहीं। आज जहाँ बहुत ठंड है वहाँ गरम देश के पौधे और जन्तु आदि मिलते हैं। इससे उन समुद्रों के जल-वायु आदि के परिवर्त्तन का पता लगता है। *भूमि की तहों की परीक्षा से मालूम पड़ता है कि जहाँ-जहाँ भूक्षोभ के कारण तहों की* उलट-पुलट नहीं हुई वहाँ की तहों के जन्तुओं की जाति की जाति गायब होती जाती है और ऊपर

की तहों में नई-नई जातियाँ उत्पन्न होती जाती हैं। खास-खास तहों की जन्तु-जातियाँ विलक्षण ही हैं। उनका रंग-रूप अपने ही ढंग का होता है। जहाँ-जहाँ तहें ठिकाने से हैं, वहाँ-वहाँ क्रमिक तहों की पहचान कर लेने से, ये कहाँ तक उलट-पलट गई हैं, इसका भी पता लग जाता है। पहाड़ों में भूकम्प आदि के क्षोभ के कारण कहीं-कहीं तो सब से ऊपरी तहें सब से नीचे घुस गई हैं और सब से नीचे की तहें सबसे ऊपर उठ आई हैं। भूगर्भ के इतिहास में अध्याय के अध्याय और खण्ड के खण्ड जहाँ-तहाँ गायब हैं, क्योंकि कितनी ही तहें उलट-पलट गई हैं, कितनी तहों के जीव-जन्तु आदि का आज एक भी चिह्न वर्तमान नहीं है। तथापि वैज्ञानिकों ने परिश्रम से भूगर्भ के इतिहास का अस्थिपंजर खड़ा कर लिया है। किसी एक प्रदेश के भूगर्भ का इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता; पर अनेकानेक देशों की परीक्षा से तहों के क्रम का ठीक पता लग गया है।

भूगर्भ की तहें

ऊपर जितनी बातें पृथ्वी की गति के विषय में, पपड़ी की रचना के विषय में, तहों और तहों के जन्तुओं के विषय में कही गई हैं उन सब को मिला-जुला कर भूग्रह की बाहरी पपड़ी की तहों का क्रम वैज्ञानिकों ने ठीक किया है। पहले तो प्रत्येक तह अपने ढंग के विशेष पौधों या जीवों से लक्षित है। ऐसी-ऐसी अनेक तहों या स्तरों को मिलाकर स्तर-वर्ग कल्पित किये गये हैं। अनेक स्तरवर्ग को मिलाकर एक-एक सिलसिला बनाया गया है।

पृथ्वी की पपड़ी के तहदार अंशो के पाँच विभाग हैं—१. प्राचीन या आजीवक, २. प्राचीन-जीवक या प्राथमिक, ३. मध्य-जीवक या द्वैतीयीक, ४. साम्प्रतिक जीवक या तार्तीयीक, ५. चतुर्थ या अधितार्तीयीक। इन पाँचों विभागों के अनेक अवान्तर विभाग किये गये हैं। पपड़ी खोदते-खोदते उसके जितने अंश का पता आज तक मनुष्यों को लगा है, उनमें सबसे नीचे का अंश प्राचीन या आजीवक कहा गया है। इस विभाग में जीव प्रायः नहीं हैं। कहीं-कहीं बहुत ही सूक्ष्म विलक्षण प्रकार के जीव देखे गये हैं। इसीलिए कितने ही लोगों ने इसे उद्जीवक कहा है। इसके ऊपर प्राचीन जीवक या प्राथमिक विभाग है। इस विभाग में जीवों का ठीक-ठीक उद्भव हुआ है। इस विभाग में पाँच अवान्तर विभाग हैं—१. शांवरिक, २. शिलुरीय, ३. रैवतशिलीय, ४. अंगारभारीय, ५. परमीय। प्राचीन-जीवक-विभाग के ऊपर मध्य-जीवक या द्वैतीयीक विभाग है जिसके तीन अवान्तर विभाग हैं—१. त्रिगुणक, २ औरसिक, ३. खटिकीय। मध्यजीवक-विभाग के ऊपर साम्प्रतिक जीवक या तार्तीयीक विभाग है। इसके चार अवान्तर विभाग हैं—१. प्रोषस, २. सामुद्रिक ३. माध्यमिक, ४. आयतानिक। तार्तीयीक विभाग के ऊपर अधितार्तीयीक अर्थात् सबसे नया विभाग है। इसके दो अवान्तर विभाग हैं—१. प्रलयवालिक और २. मानवीय।

नदी आदि के जल से जिस प्रकार मिट्टी घिसती जा रही है उससे यह जान पड़ता है कि कुछ ही युगों में सब भूमि समुद्र के अन्दर चली जायगी। इसी प्रकार जहाँ-तहाँ जमीन धँसने से भी जमीन की कमी होने की सम्भावना है। पर साथ ही साथ जमीन

उठती भी जाती है। इसी से घिसने या धँस जाने से हानि होती है उसकी पूर्ति भी समय-समय पर होती जाती है। भूमि का उठना दो प्रकार से हो रहा है—या तो समुद्र में पाँक जमने से या जहाँ-तहाँ भूगर्भीय अग्नि के व्यापार से। समतल मैदान प्रायः जलीय-व्यापार से बने हुए हैं। पहाड़ी प्रदेशों में आग्नेय व्यापार की अधिकता रहती है। जल-वायु, सरदी-गरमी, वृष्टि, झरना, बर्फ़, पानी, समुद्र पौधे, जीव इत्यादि के व्यापारों से पृथ्वी का घिसना ऊपर कहा जा चुका है। एक ही पुश्त में इस घिसने का कुछ पता नहीं लगता, पर मनुष्य अनुमान कर सकता है कि अनेक युगों में ऐसे व्यापार का कितना अधिक फल हो सकता है।

नरशास्त्र

प्रकृति में सजीव और निर्जीव दो प्रकार के पदार्थ हैं। सजीव पदार्थों के शास्त्र को जीवशास्त्र कहते हैं। इसी जीवशास्त्र का एक विभाग नरशास्त्र है। उसमें मनुष्य के प्राकृतिक स्थान आदि अनेक विषयों का वर्णन है। प्रायः लोग समझते हैं कि मनुष्यों में कोई ऐसा विशेष तत्त्व है जिसके कारण वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। पर मनुष्यों की बुद्धि, भाषा तथा हड्डियों की परीक्षा करने से यह निश्चित हो गया है कि उनमें और अन्य जन्तुओं में कोई ऐसा भेद नहीं। बड़े-बड़े जीवशास्त्रों का सिद्धान्त है कि जन्तुओं में यदि कोई सब से ऊँचा वर्ग कायम किया जाय तो उसके एक विभाग में मनुष्य और दूसरे विभाग में बन्दर रखे जा सकते हैं। मनुष्यों और 'गोरिला' नामक बन्दरों में अत्यन्त सादृश्य है। उनमें एकमात्र भेद यह है कि बन्दर प्रायः चारों पैर से चलते हैं और मनुष्य सीधे खड़े होकर चलते हैं। पर अंगूठे और उँगलियों को सामने लाने की शक्ति मनुष्य और बंदर दोनों में है।

मनुष्यों तथा अन्य जन्तुओं में मुख्य भेद मस्तिष्क का है। मछलियों और चिड़ियों आदि का मस्तिष्क छोटा और चिकना होता है। पर ऊँचे दरजे के जन्तुओं का मस्तिष्क क्रम से बड़ा और चुन्नटदार होता जाता है। मन-शास्त्र जाननेवालों ने निश्चय किया है कि मस्तिष्क के ऊपरी भाग में ज्ञान-कृति-स्मृति आदि का स्थान है। मनुष्यों का छोटे-से-छोटा मस्तिष्क भी बड़े-से-बड़े बन्दरों के मस्तिष्क से ड्योढ़ा होता है। गोरिला बंदर मनुष्यों से बहुत बड़े होते हैं। पर मस्तिष्क छोटा होने के कारण वैसी तेज नहीं होती जैसी मनुष्य की। मनुष्यों में एक अपूर्व शक्ति होती है, जो और जन्तुओं में नहीं पाई जाती। दूसरों के शब्दों का खयाल रखने तथा शोक, हर्ष आदि के प्रकाशक शब्द बोलने की शक्ति और भी कितने ही जन्तुओं में पाई जाती है। पर शब्दों के द्वारा अर्थ-प्रकाशन करने की शक्ति केवल मनुष्यों में है।

बस, मनुष्यों और जन्तुओं में इतना ही सादृश्य और भेद है। बड़े बंदरों और मनुष्यों में मुख्य भेद मस्तिष्क के परिमाण और बनावट में है। मनुष्य अपनी बुद्धि और भाषा आदि के द्वारा दिन-दिन उन्नति कर सकते हैं। परन्तु अन्य जन्तु उन्नति नहीं कर सकते हैं। वे आज भी उसी अवस्था में पड़े हुए हैं जिसमें कि कई हजार वर्ष पहले थे। मस्तिष्क की उत्तमता के कारण मनुष्य चिरकाल से यन्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं। पर बंदर छड़ी उठाने, या पत्थर फेंकने के अतिरिक्त अन्य कार्य करते हुए प्रायः नहीं देखे जाते। आयुधों का प्रयोग, खाना पकाने के लिए आग का उपयोग, बीजों से नये वृक्ष पैदा करना इत्यादि अद्भुत कार्य मनुष्यों ने अपनी मस्तिष्क शक्ति के द्वारा किये हैं। परन्तु और जन्तु प्रकृति को इस प्रकार अपने वश में नहीं रख सकते। इधर मनुष्यों में साधारण पार्थिव शक्तियाँ इतनी तेज नहीं जितनी कि छोटे जन्तुओं में। गीधों की दृष्टि-शक्ति तथा कुत्तों की घ्राण-

शक्ति मनुष्यों से कहीं बढ़-चढ़ कर है। मनुष्यों के बच्चों को अन्य जन्तुओं के बच्चों की अपेक्षा अधिक समय तक सिखलाना और बड़ों की रक्षा में रखना पड़ता है। पर दर्शन और विज्ञान का अन्वेषण, सत्य और असत्य की पहचान, तथा धर्म और अधर्म का ज्ञान केवल मनुष्यों ही में पाया जाता है।

निर्माणवादी समझते हैं कि प्रत्येक जन्तु के निर्माण के लिए किसी सर्वशक्तिमान् पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता है। कितने ही लोगों का खयाल है कि मनुष्यों और अन्य जन्तुओं की आत्मा में अन्तर है, तथा मनुष्य और जन्तुओं से श्रेष्ठ है। पर वैज्ञानिक इन बातों को नहीं मानते। वे समझते हैं कि प्राकृतिक शक्तियों से जैसे और पदार्थ बने हैं और बनते जाते हैं वैसे ही मनुष्य भी बना है। वैज्ञानिक निर्माणवाद को नहीं मानते। इन लोगों को क्रम-विकासवाद पसन्द है। सब जन्तुओं को इकट्ठे ईश्वर ने बनाया था। प्रलय होने पर उनका एक-एक नमूना नोह (Noah) या मनु की नाव में रखा गया था, जिससे सब जन्तु फिर उत्पन्न हुए, इत्यादि बातें युक्ति तथा प्रमाण के विरुद्ध हैं। भूगर्भ की परीक्षा से सिद्ध हो गया है कि सब जन्तु पृथ्वी पर एक ही साथ पैदा नहीं हुए। पहले छोटे-छोटे जन्तुओं का आविर्भाव हुआ। उसके बाद, क्रम से, उत्तम जन्तु पैदा होते गए। महात्मा दारुवीन (Darwin) का मत है कि कृमि कीट, मत्स्य, सर्प, पक्षी, पशु, बंदर आदि के क्रम से जीवों का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ। अन्त में सब के बाद मनुष्य उत्पन्न हुए। महर्षि दारुवीन के मतानुसार बंदरों से ही मनुष्यजाति की उत्पत्ति हुई है।

विकासवाद का एक सिद्धान्त यह है कि माता-पिता के गुण सन्तानों में आ जाते हैं। ऐसे ही अनेक गुणों के सम्मेलन, योग्य व्यक्तियों की रक्षा, और अयोग्य व्यक्तियों के नाश से, धीरे-धीरे एक नई जाति के जीव बन जाते हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई। बस, विकासवाद का यही सारांश है।

अब यह देखना है कि मनुष्यों की कितनी जातियाँ हैं। मनुष्य की जातियों का परिचय उनके चमड़े और आँखों तथा केशों के रंग आदि से होता है। कितनी ही जातियों का परिचय शरीर की लम्बाई से भी होता है। चीन और जापान के लोग प्रायः नाटे होते हैं। यूरोप वाले गोरे होते हैं। अफ्रिका के निवासी काले होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लक्षण हैं, जिनसे जाति का परिचय मिलता है। प्रायः असभ्य जातियों का माथा गहरा और मुँह उभड़ा हुआ होता है। ऊँची जातियों का चेहरा मुँह से माथे तक प्रायः सीधा होता है। इसी प्रकार चिपटी नाक, मोटे होंठ, चौड़े कान, गाल की लम्बी हड्डी आदि से भी जातियों की पहचान की जाती है। साधारणतः जाति के लक्षण साफ दिखाई पड़ते हैं। पर कभी-कभी वर्ण-संकर हो जाने के कारण, अर्थात् एक जाति के लोगों के साथ दूसरी जाति के लोगों का ब्याह हो जाने से, जाति का पता लगाना कठिन हो जाता है। कितने ही लोगों ने मनुष्यों की पाँच जातियाँ बतलाई हैं, जिनके नाम ये हैं— श्वेत, पीत रक्त, कृष्ण, मलय। श्वेत वर्ण के लोग यूरप में, रक्त वर्ण के अमेरिका में

कृष्ण वर्ण के अफ्रिका में, पीत वर्ण के चीन और जापान में तथा मलय जाति के लोग, जो मलिन श्वेत वर्ण के होते हैं, पूर्व-दक्षिण के टापुओं में पाये जाते हैं। यूरोप के लोगों और हब्शियों से उत्पन्न, यूरोप-निवासियों और अमेरिका के जंगलियों से उत्पन्न तथा अमेरिका के जंगलियों और हब्शियों से उत्पन्न, अनेक प्रकार की वर्ण-संकर जातियाँ भी पाई जाती हैं। वर्ण-संकरों में एक विलक्षणता होती है। वह यह कि कितने ही वर्ण-संकर सन्तान-वाले होते हैं और कितने ही बाँझ। यूरोप वालों और दक्षिण-पूरब के टापुओं के निवासियों से उत्पन्न वर्णसंकर मनुष्य प्रायः बाँझ देखे जाते हैं। इस तरह अनेक वर्णों के मिलने से अनेक नई-नई जातियाँ उत्पन्न हुई हैं और होती जाती हैं। वर्त्तमान समय में शुद्ध जातियों का मिलना कठिन है।

अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि सारी मनुष्य जातियाँ किसी एक ही जाति से उत्पन्न हुई हैं या भिन्न-भिन्न जातियों से। कितने ही लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि सारी मनुष्य-जातियाँ मनुष्य के एक ही जोड़े से पैदा हुई हैं। इस जोड़े का नाम भी रख लिया गया है। कोई-कोई तो इसे आदम-हौवा कहते हैं और कोई मनु-शतरूपा। पहले लोग समझते थे कि एक ही मनुष्य-जाति हवा-पानी के भेद से अनेक वर्ण की हो गई। गर्म देश के लोग धूप से काले हो गये और ठंडे देशवाले शीताधिक्य के कारण काले न हुए। परन्तु एक स्थान के लोग दूसरे स्थान में जाकर, वहाँ हजारों वर्ष रहने पर भी, ऐसे नहीं बदल जाते कि उनकी जाति का पता न लगे। फिर एक ही देश (जैसे भारतवर्ष) के एक ही प्रान्त में (जैसे बंगाल में) काले से काले और गोरे से गोरे आदमी पाये जाते हैं। इन बातों से यह अनुमान किया जाता है कि सृष्टि के प्रारंभ में मनुष्यों की अनेक जातियाँ जहाँ-तहाँ उत्पन्न हुईं, जिनके मिलने-जुलने से आज इतने प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। जो लोग एक ही मनुष्य जाति से सब मनुष्यों की उत्पत्ति मानते हैं उनका यह कहना है कि आजकल मकानों में रहने तथा कपड़े पहनने आदि कारणों से मनुष्यों के वर्ण जल्दी नहीं बदलते; पर प्राचीन समय में जंगली मनुष्यों के पास अपने वर्ण की रक्षा करने के लिए दूसरे साधन न थे। इससे सम्भव है कि एक ही जाति के मनुष्यों से, जल आदि के कारण, अनेक मनुष्य-जातियाँ उत्पन्न हुई हों। कुछ भी हो, पर निर्माणवादियों का यह कहना कि संसार की भिन्न-भिन्न मनुष्य-जातियाँ एक ही जोड़े से उत्पन्न हुई हैं, सर्वथा असंगत मालूम होता है। इतिहासज्ञ जानते हैं कि हजार वर्षों से दुनिया की सफेद और काली जातियाँ एक-सी चली आती हैं। आज से कई हजार वर्ष पहले, जब वैदिक आर्य भारत में आये थे तब भी, श्वेत वर्ण और कृष्ण वर्ण का भेद पाया जाता था।

कुछ दिन पहले पश्चिम के लोग समझते थे कि ईसा के ४००४ वर्ष पूर्व पृथ्वी और मनुष्यों की उत्पत्ति हुई थी। पूर्वी देशों के निवासी इस बात को नहीं मानते थे। पर वास्तव में उन्हें भी इस विषय का कुछ ज्ञान न था। पूर्वजों के शब्दों के अतिरिक्त दोनों ही के पास ऐसे कोई प्रमाण न थे, जिनसे वे मनुष्यों की वास्तविक अवस्था का पता लगाते। अब भूगर्भविद्या से यह निश्चित हो गया है कि लाखों वर्षों से पृथ्वी पर अनु

और जन्तु हैं, तथा जन्तुओं के उत्पन्न होने के बहुत पीछे मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यदि यह माना जाय कि आज से लाख वर्ष पहले पृथ्वी पर मनुष्यों का आविर्भाव हुआ तो असंगत न होगा। हाथी, गैंडा, भालू आदि जन्तुओं की हड्डियों के साथ-साथ मनुष्यों की हड्डियाँ भी ठंडे देशों में पाई जाती हैं। इससे यह अनुमान होता है कि जिस समय इन ठंडे देशों में बड़ी गर्मी पड़ती थी और गर्म देश के हाथी आदि जन्तु वहाँ मौजूद थे उसी समय से वहाँ मनुष्यों की स्थिति है। आज पश्चिम के ठंडे देशों में हाथी आदि जन्तु नहीं मिलते पर जहाँ-तहाँ जमीन खोदने से हाथियों आदि की हड्डियाँ इन देशों में मिलती हैं। इससे यह जाना जाता है कि अत्यन्त प्राचीन समय में इन देशों का जल-वायु इतना ठंडा न था जितना अब है। फ्रांस देश में कहीं-कहीं भूमि के भीतर गहरी गुफाएँ मिली हैं, जहाँ जंगली मनुष्यों की हड्डियाँ और पत्थर के अस्त्रशस्त्र, ऐसे मृगों की हड्डियों के साथ मिले हैं जो आज कल फ्रांस के आसपास नहीं पाये जाते। कहीं-कही इन गुफाओं में हाथी दाँत के टुकड़ों या हरिणों के सींगों पर खींचे हुए बड़े हरिणों तथा झबरीले हाथियों के चित्र मिले हैं। इन चित्रों से मालूम होता है कि किसी समय इन ठंडे देशों में भी हाथी होते थे। इन लक्षणों से यह जान पड़ता है कि आज से लाखों वर्ष पहले पृथ्वी पर मनुष्यों का आविर्भाव हुआ। जंगली मनुष्यों के बनाये हुए पत्थर के अस्त्र-शस्त्र और हाथी दाँत के चित्रों के ऊपर आज बहुत-सी मिट्टी जमी है। पर कितने वर्षों में इतनी ऊँची जम सकती है, इसका अन्दाजा करने से भी मनुष्य की प्राचीनता का पता लगता है। सौ वर्ष में केवल कुछ इंच मिट्टी जमती है। नीलनद की तराई में ६० फीट पाँक के नीचे ईंटों और बर्तनों के टुकड़े पाये गये हैं। जहाँ-तहाँ रोमन लोगों के समय की चीजें चार फीट जमीन के नीचे पाई जाती हैं। अब कहिए, यदि चार फीट मिट्टी १५०० वर्ष में जम सकती है तो साठ फीट मिट्टी के जमने में कितने हजार वर्ष लगे होंगे! पर साठ फीट मिट्टी के नीचे तो उस समय के लोगों के चिह्न मिले हैं जिस समय मिट्टी के बर्तन आदि बनने लगे थे। फिर उन लोगों का समय कितना प्राचीन हुआ जिनके चिह्न और भी सैकड़ों फीट नीचे मिले हैं?

प्राचीन मनुष्यों के अनेक चिह्न मिले हैं। कहीं-कही तालाबों में मकान बनाकर रहने वाले मनुष्यों के चिह्न पाये जाते हैं। कहीं पत्थर के अस्त्र-शस्त्र मिलते हैं। कहीं ईंटों के टुकड़े मिलते हैं। ये चिह्न कोई छै-सात हजार वर्ष से वर्तमान हैं। कितने ही लोग यह समझते हैं कि पुराने आदमी बहुत सभ्य थे। इस कारण जबसे लिखित पुस्तकें मिलती हैं तभी से ये लोग मनुष्य की स्थिति मानते हैं। पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों से यह स्पष्ट विदित होता है कि सभ्यता धीरे-धीरे बढ़ती है। इसलिए सभ्य समय के पहले चिरकाल तक मनुष्य असभ्य रहे होंगे। भाषाओं की परीक्षा से भी मनुष्यों की प्राचीनता का पता लगा है। भारतीय भाषाओं और पाश्चात्य भाषाओं में बहुत कुछ समानता है; क्योंकि भारतीय और पश्चिमी भाषाओं का मूल स्वरूप कोई दूसरी प्राचीन भाषा थी। कई हजार वर्षों से भारतवासियों और पाश्चात्यों की भाषा भिन्न-भिन्न पाई जाती है। इस भेद के न

मालूम कितने हजार वर्ष पहले उस ऐक्य का समय होगा जब पूर्वी और पश्चिमी आर्यों के पूर्वज एक भाषा बोलते रहे होंगे।

भाषाओं के कई वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग के शब्द, कोष और व्याकरण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सब मनुष्यों का मन एक ही प्रकार का है। इस कारण एक जाति का मनुष्य दूसरी जाति की भाषा को अच्छी तरह सीख सकता है। इसलिए भाषा के अनुसार मनुष्य जाति का विभाग करना उचित नहीं, क्योंकि सम्भव है कि भिन्न-भिन्न जातियों के मनुष्यों ने एक दूसरे की भाषा को स्वीकार कर लिया हो। उदाहरणार्थ, फ्रांस के मनुष्य रोमन भाषाओं से निकली हुई भाषा बोलते हैं। भारत की द्रविड़ जातियों में जहाँ-तहाँ आर्य भाषा संस्कृत का अधिक प्रचार देखा जाता है। इसलिए नरशास्त्रज्ञों ने वर्ण के अनुसार मनुष्य जाति का विभाग किया, भाषा के अनुसार नहीं।

अब यह देखना है कि मनुष्यों में सभ्यता किस क्रम से विकसित हुई। पृथ्वी पर आज भी भयानक जंगली आदमी, अमेरिका आदि के जंगलों में, मिलते हैं। सभ्य-से-सभ्य मनुष्य जातियाँ भी योरप आदि में पाई जाती हैं। कई हजार वर्ष पहले से अनेक मनुष्य-जातियों के लिखित इतिहास मिलते हैं। लिखित इतिहासों के पहले की बातें जमीन में गड़े हुए मानव-चिह्नों से अनुमान की जा सकती हैं। कितने ही लोग समझते हैं कि आरम्भ ही से किसी ने सभ्य मनुष्य बनाये थे, या यों कहिए कि मनुष्यों को बनाकर उन्हें तुरत ही सभ्यता सिखा दी थी। धीरे-धीरे ये लोग सभ्यता, विद्या, कला आदि को भूल कर अब असभ्य हो गये हैं। अनेक कारणों से यह कल्पना असंगत जान पड़ती है। एक तो यह कि प्राचीनों को विमान, पुल आदि बनाना न आता था। यदि आता था तो उनके बाद लोग ऐसी उपयुक्त विद्या को क्यों भूल गये? दूसरी बात यह है कि भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार जो सबसे प्राचीन मानव चिह्न पृथ्वी की तह में मिलते हैं उनमें सभ्यता के कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते। मिट्टी के बर्त्तनों आदि के टुकड़े भी नई तहों में पाये जाते हैं, न कि प्राचीन तह में। इससे सिद्ध है कि सृष्टि में बंदरों के बाद अत्यन्त असभ्य मनुष्य हुए; फिर मनुष्यों में क्रमशः सभ्यता बढ़ती गई। पहले की असभ्य जातियों का हाल कुछ तो आज भी बची हुई असभ्य जातियों के देखने से मालूम होता है और कुछ असभ्यता के समय के रीति-रस्म आदि से जाना जाता है, जो आज भी सभ्य जातियों में चली आ रही है।

/पहले के लोग हाथ पर अंकों को गिनते थे। आज भी असभ्य जातियाँ ऐसे ही दस-पाँच तक गिनती हैं। आग जलाने के लिए वैज्ञानिकों ने स्फुर-शलाका (दियासलाई) निकाली है, पर भारतीय लोग यज्ञ के समय अरणि-मन्थन से आग निकालते हैं। लकड़ी रगड़ कर आग निकालना अत्यन्त प्राचीन सभ्यता-हीन समय का अभ्यास है। यूरोपवासी भी पशु आदिकों में फैली हुई महामारी दूर करने के लिए लकड़ी द्वारा निकाली गई आग का उपयोग करते हैं। मरे हुए लोगों के नाम पर भोजन आदि भी उसी प्राचीन तथा असभ्य समय का रिवाज है, क्योंकि उस समय के लोग समझते थे कि मरने के समय

शरीर से आत्मा निकल हवा में घूमती-फिरती है और खाना-पीना खोजती रहती है। आज दर्शन और विज्ञान से इन बातों पर बहुत कुछ धक्का लग चुका है। तथापि अनेक पूर्वी और पश्चिमी देशों में लोग मृतक को भोजन आदि दिया करते हैं। रूस में लोग मृतक के स्वर्ग जाने के लिए कब्र में आटे की सीढ़ी बना देते थे। कितने ही पाश्चात्य देशों में मुर्दे के हाथ में एक पैसा रख दिया जाता है, ताकि वह पैसा देकर वैतरणी पार करे। भारतवर्ष में गाय की पूँछ पकड़ कर प्रेत वैतरणी पार करता है, ऐसा लोग समझते हैं। तन्त्र-मंत्र, जादू-टोना आदि उसी असभ्य समय की निशानी हैं, जिस समय लोगों को भूत-प्रेत आदि पर पूर्ण विश्वास था। आज तक पश्चिम की सभ्य जातियों में भी कितने ही लोग कौआ आदि के बोलने से सगुन-असगुन समझते हैं और शत्रुओं के मरने के लिए उनका पुतला जलाते हैं। अभी हाल में विलायत में प्रधान मन्त्री ऐसक्विथ साहब का पुतला जलाया गया था। जब पढ़ी-लिखी जातियों की यह दशा है तब प्रायः अपढ़ भारतवासियों में यदि ऐसी बातें पाई जायें तो क्या आश्चर्य है!

सभ्यता की तीन सीढ़ियाँ देखी जाती हैं। एक समय ऐसा था जब लोग केवल पत्थर की कुल्हाड़ी, चाकू आदि बना कर काम चलाते थे। फिर दूसरा समय ऐसा आया जब लोग नरम धातुओं के औजार बनाने लगे। तीसरा समय वह है जब लोगों ने लोहा निकालना और उसके अस्त्र-शस्त्र आदि बनाना सीखा। ऐसा मालूम होता है कि किसी-किसी देश में पत्थर के समय के बाद ही लोहे का समय आया। भारत और यूरोप के देशों में तीनों समयों के चिह्न क्रम से मिलते हैं। अफ्रिका और अमेरिका आदि में केवल दो ही समयों के चिह्न पाये जाते हैं। इन तीनों युगों के नाम क्रम से शिलायुग, स्वर्णयुग और लोहयुग हैं। अत्यन्त प्राचीन काल के मनुष्य शिकार करके, मछली मार कर और फल बटोर कर उन्हें खाते और इधर-उधर घूमते रहते थे। जबसे मनुष्य कृषि करने लगे और किसी एक स्थान पर रहने लगे तब से उनकी सामाजिक और नैतिक स्थिति उन्नत हो चली। धीरे-धीरे कुटुम्ब के अध्यक्ष के हाथ से शासन निकल कर राजा के हाथ में पहुँचा। आपस का झगड़ा आपस ही में तय न करके कानून के अनुसार चलना लोगों ने पसन्द किया। क्रम से लिखने की कला लोगों को ज्ञात हुआ। इस कला से सभ्यता को बड़ी सहायता मिली। इतिहास, शिल्प आदि की वृद्धि के लिए स्मरण-शक्ति की आवश्यकता है और स्मरण-शक्ति को लेख से बहुत सहायता मिलती है। अध्यापकों को, पुरोहितों को, लेखकों को और शासकों को लेखों के द्वारा उपदेश, शासन आदि फैलाने का अवसर मिला। अनेक जीव-जन्तुओं के चित्र पहले से ही मनुष्य खींच सकते थे। इसी चित्रण-शक्ति के द्वारा लिपि का आविर्भाव हुआ।

लकड़ी को रगड़ कर आग निकालने की विद्या असभ्य मनुष्यों को बहुत दिनों से ज्ञात थी। इसका प्रमाण यह है कि गुफाओं में जमीन के भीतर मनुष्यों की हड्डियों के साथ-साथ लकड़ी का कोयला भी मिला है। हड्डी की सुइयाँ आदि भी इन गुफाओं में मिली हैं, जिनसे यह मालूम होता है कि जैसे आजकल कितने ही जंगली आदमी चमड़े को सी

कर पहनते हैं वैसे ही प्राचीन समय में भी मनुष्य करते थे। आज भी जंगली आदमियों में हड्डी और पत्थर के भालों और वाणों आदि का उपयोग देखा जाता है।

शिलायुग, अर्थात् पत्थर के समय, के दो विभाग हैं। (१) प्राचीन शिला-समय और (२) नवीन शिला-समय। प्राचीन शिला-समय में पत्थर तोड़-तोड़ कर नोकदार टुकड़े बनाये जाते थे। उन्हीं से छुरी, भाले, वाण आदि का काम लिया जाता था। ये पत्थर खराद कर चिकनाये नहीं जाते थे। नवीन शिला-समय में पत्थर खराद कर चिकनाये जाते थे। यूरप में पत्थर के ऐसे भाले पृथ्वी में बहुत दूर गड़े हुए पाये जाते हैं। पर अफ्रिका की सुमाली भूमि में ऐसे पत्थर भूमि के ऊपर भी पड़े हुए मिलते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि वहां पर कुछ समय पहले तक शिलास्त्रधारी जंगली लोग रहते थे। तसमन्य (Tasmanya) टापू के जंगली आदमी पत्थर तोड़ कर अस्त्र बनाते हुए तो वर्त्तमान काल तक में देखे गये हैं। वहां के जंगली लोग लकड़ी की लाठियों और तोड़े हुए पत्थरों से अस्त्र-शस्त्र का काम लेते थे। मर्द कांगरू नामक जन्तु का शिकार करते थे और स्त्रियां ऊँचे-ऊँचे वृक्षों पर चढ़ कर जानवर पकड़ लाती थीं। वे लोग घोंघे और केकड़े को पकड़ते और सोंस नामक जलचर को लाठी से मारते थे और फिर उन्हीं को खाते थे। वंशी या जाल बनाने का इन्हें ज्ञान न था। फल-मांस आदि इनके यहां आग पर पकाये जाते थे। पर पानी में खाद्य पदार्थ उबालना इन्हें मालूम न था। इन्हें कृषि का भी ज्ञान न था। लकड़ियों की टट्टियां बनाकर उन्हीं की आड़ में ये लोग किसी तरह रहते थे। बारीक छाल से सिला हुआ चमड़ा पहनते थे और कांगरू के दांतों और घोंघे आदि की मालाएँ पहनते थे। हां, चटाई बुनने की विद्या में ये लोग सभ्यों की बराबरी अवश्य करते थे। पांच से अधिक ये संख्या नहीं गिन सकते थे। ये छाया को आत्मा या प्रेत समझते थे। जंगल की झाड़ियों में भयंकर भूत-प्रेतों का निवास ये मान लेते थे। ये प्रेतों से बचने के लिए मुर्दों की हड्डी को तावीज बनाकर बांधते थे: मुर्दों की कब्र पर उनके उपयोग के लिए ये हथियार रखते थे और प्रेमों से ये प्रार्थना करते थे कि वे बीमारियों को दूर करें। इस द्वीप के निवासियों के जीवन की परीक्षा से अत्यन्त प्राचीनों के जीवन की दशा का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

परिशिष्ट

१

सरस्वत्यष्टकम्

(संस्कृत)

मातः सरस्वति ! सरस्वति ! पारशून्ये !
संसारनामनि निकाममुपप्लुतस्य ।
रागादिभिर्जलचरैस्तमसावृतस्य
नौकेव मेऽस्ति शरणं भवदङ्घ्रिसेवा ॥१॥
मातर्भवातपहतो भवतीमवाप्य
क्षुद्रे गुणान् कति दधे मनसि त्वदीयान् ।
स्वादूदकाम्बुधितटीं मरुयासिपान्थः
प्राप्यादटीत कियदम्बु दृतौ स्वकीये ॥२॥
मोहाम्बुधावतितरां तमसा निगूढा
अन्विष्य तत्त्वकणिका किल जीवतो मे ।
सारस्वतन्त्रकवितामृतदानशौण्डम्
सारस्वतं स्फुरतु धाम सदा प्रकामम् ॥३॥
नाम्नापि भीतिजनकैरतिपातकर्मैं
स्तेयानृतादिभिरलं समलीकृतस्य ।
यामम्ब ! सेवितवतो भुवनेषु कीर्तिः
सा सन्निधेहि सततं हृदये मदीये ॥४॥
न त्वं प्रमादगलिता हृदयात्कदाचि
न्मात्याम्ब ! तत्र निवसत्यधिदेवतेव ।
आगस्शते शिशुतया विहितेऽपि तस्मात्
मां त्रायसे चरणयोः सविधे सदैव ॥५॥
सेवां श्ववृत्तिमुररीकृतवानजस्रम्
देशे वसन् परमुखेक्षणमात्रधन्ये ।
यत्पत्त्यपत्यसुहृदस्तव सेवनैक—
सक्तान् करोमि सुखमेकमिदं ममाम्ब ! ॥६॥

त्वत्सेवनान्न परमो मम कोऽपि धर्मः
स्वाराज्यमप्यतुलमेकमिदं सदेव।
भक्ते चिराय तदयाचितमेव दत्से
धत्से मयीति वृणवं परमम्ब! किं वा ॥७॥
भुक्तो न भक्तिमुदितेन महत्प्रसादः
श्रद्धा प्रशास्तृषु हृदो न बहिर्व्यघोषि।
विश्रासिता प्रधिकृता न वचःप्रपञ्चै—
दैन्यान्ममाम्ब! सततं परितोषिताऽसि ॥८॥

('सुप्रभातम्', वर्ष १; संख्या १०; १९८१ वि० सं०

सरस्वत्यष्टक

(हिन्दी)

[यह रचना सुप्रभात-मण्डल द्वारा प्रार्थना करने पर आदरणीय शर्माजी ने दी थी, जो वि० सं० १९८१ के 'सुप्रभातम्' की, प्रथमवर्ष के फाल्गुन मास की, दशम संख्या में प्रकाशित हुई है]

हे माता सरस्वती ! राग, द्वेष, मोह आदि जलचरों से भरे हुए इस अपार संसार-सागर में अत्यन्त भ्रान्त होते हुए मुझे तुम्हारी चरण-सेवा ही नौका के समान एकमात्र अवलम्ब है ॥१॥

हे माता ! इस संसार के तापों से सन्तप्त मैं तुम्हें प्राप्त करके भी इस क्षुद्र हृदय में तुम्हारे कितने गुणों को धारण कर सकता हूँ ? मरुभूमि का प्यासा पथिक मधुर जल-युक्त समुद्र-तट को प्राप्त करके भी अपने चमड़े के डोल में कितना पानी भर सकता है ? ॥२॥

मोहमय समुद्र में, घने अज्ञानान्धकार में किसी प्रकार कुछ तत्त्वकणों को पाकर जीवित मेरे हृदय में तत्त्वरूप एवं स्वतन्त्र काव्यामृत पान कराने में दक्ष सरस्वती का प्रभाव सदा स्फुटित होता रहे ॥३॥

हे माता ! जिनके नाम के स्मरण मात्र से भय उत्पन्न होता है, उन स्तेय, असत्य आदि महापातकों से पर्याप्त रूप से दूषित होने पर भी जिस तेरी सेवा के कारण संसार में मेरी कीर्ति फैल रही है, वह तू मेरे हृदय में सदा निवास कर ॥४॥

हे माता ! तू मेरे हृदय में अधिदेवता के समान निवास करती है और मैंने तुझे कभी प्रमाद से भी विस्मृत नहीं किया, इसीलिए बालचापल के कारण अनेक अपराधों के करते रहने पर भी तू अपने चरणों के निकट रखकर ही मेरी सदा रक्षा करती है ॥५॥

हे माता ! परमुखापेक्षी परतन्त्र देश में रहते हुए मैंने श्वानवृत्ति के समान सेवा-वृत्ति को स्वीकार किया है—उस अत्यन्त दुःखजनक स्थिति में एक मात्र सुख यह है कि अपनी स्त्री, सन्तान, मित्र आदि को तेरी सेवा में तत्पर बना रहा हूँ ॥६॥

हे माता ! तेरी सेवा के सिवा मेरा और कोई परमधर्म नहीं है। तेरी सेवा को मैं अनुपम स्वाराज्य समझता हूँ, तू मुझ बालक को विना माँगे ही देती रहती है। अतः, मैं अब तुझसे क्या माँगू ? ॥७॥

हे माता ! भक्ति से प्रमुदित होकर मैंने तेरे महान् प्रसाद का उपभोग नहीं किया, अपनी श्रद्धा को भी हृदय में ही रखा, उसकी बाहर घोषणा नहीं की, अत्यधिक वचन-प्रपञ्चों से तुझे त्रास नहीं दिया और न तुझपर अधिकार ही जमाया, एवं दीनता नम्रता के साथ सदा तुझे सन्तुष्ट किया है ॥८॥

२

उद्बोधनम्

(संस्कृत)

अलं भारतीया! मतानां विभेदैरलं देशभेदेन वैरेण चालम् ।
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायां न सम्भाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः ॥१॥

दया भूतसङ्घे मतिर्देवदेवे चतुर्वर्ग-चिन्ता विरोधाद्विरामः ॥
मनः कायवाक्शोधने चैव बुद्धिः परं धर्मतत्त्वं, विरोधोऽत्र केषाम्? ॥२॥

नराः सर्व एवैकमीशम्भजन्ते स ईशः परं नामभेदेन भिन्नः ।
समुद्भासितो धर्म एतेन चैको विधौ हन्त! को वर्ततां भेदभावः ॥३॥

कलिङ्गाङ्ग-वङ्गान्धक-द्राविडादीनुपाधीन् विहायैक्यमालम्ब्य भूयः ।
अये भारतीयाः पुरैवात्मरूपं लभध्वं, तनुध्वं यशश्चारु शुभ्रम् ॥४॥

गिरं संस्कृतां राजकीयाञ्च वाणीं समभ्यस्य लोकद्वयस्यापि सौख्यम् ।
यशो स्थापयध्वं स्व-धर्मं स्व-देशं, तथा प्रापयध्वं पुनर्गौरवं तत् ॥५॥

चतुर्वर्गमूलं सुविद्येति मत्वा स्वदेशीय-विद्यालयानामुदारम् ।
विधायोन्नतिं शिल्पशास्त्रादि-शिक्षा-प्रचारं भृशं शाश्वतं वर्द्धयध्वम् ॥६॥

अकृत्वा मतिं दोषजाते परेषां विशुद्ध्यै स्वदेशस्य भूयो यतध्वम् ॥
स्वदोषे जनैः शोधितेनावकाशः क्वचिद्दोषजातस्य भावीति मत्वा ॥७॥

वचः सर्वतः सत्यमङ्गीकुरुध्वम् नचासत्यमुद्घोषितं ब्रह्मणापि ॥
चरित्रं भृशं सत्यपूतं तनुध्वम् मतिं सर्वभूतावने वर्तयध्वम् ॥८॥

पुराऽऽमुष्मिकञ्चैहिकम्भारतीयाः! सुखं विद्यया साधितं पूर्वजैर्वः ॥
उपेक्ष्याद्य विद्याममुं भोजनार्थं परेषां मुखापेक्षिणो हा! भवन्तः ॥९॥

जनैरैहिकामुष्मिककार्य-क्षमासु प्रवृत्तिं विहायाद्य विद्यासु मोहात् ।
श्रमञ्छुष्कवादेषु कुर्वद्भिरेतैः कथं जीवनं याप्यते दास्यकृत्ये ॥१०॥

श्रुतौ, दर्शने, ज्यौतिषे, धर्मशास्त्रे पुराणेतिहासे चिकित्साविधौ च ।
तथैवोपयुक्तेषु विद्यान्तरेषु प्रवृत्तिं तनुध्वम् विवादान् विहाय ॥११॥

समभ्यस्य देशान्तरीयाश्च भाषाः समाहृत्य विज्ञानतत्त्वानि युक्त्या ।
गिरा दिव्यया संस्कृतानि प्रकामं स्वदेशीयभाषासु संचारयध्वम् ॥१२॥

न सम्भाव्यते नेष्यते भोजनैषयं न चान्यत्तया याह्यमैषयं सुधीभिः ।
दुर्दैवयेन बुद्ध्येकया सर्वयत्नं स्वदेशोदये भारतीयास्तनुध्वम् ॥१३॥

किं पूर्वसूरिभिरभूत् कृतमात्मदेशे द्वीपान्तरेषु च कियत् क्रियतेऽधुनापि ।
आलोच्य सर्वमिदमङ्ग ! विधत्त यत्नं यत्नेन सर्वमिह सिद्ध्यति नात्र शंका ॥१४॥

यत्पूर्वजैर्विपिनवासपरैस्तृणाय—
मत्वा धनं, भगवदेक-सहाय-सुस्थैः ।
ग्रन्थाः व्यधायिषत हन्त ! परः सहस्राः
सीदन्ति ते कथमिवान्यजनान् गताऽद्य ॥१५॥

('शुभ्रभातम्' ; आदर्शांक ; संवत् १९८०)

———— ——

उद्बोधन

(हिन्दी)

[यह कविता श्रद्धेय शर्माजी की अतिप्राचीन रचना है । यह संवत् १९८० चैत्रमास के 'सुप्रभातम्' (आदर्शांक) में प्रकाशित हो चुकी है। उनसे पूछने पर मालूम हुआ था कि उन्होंने इसकी रचना सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज में प्रोफेसर रहते हुए की थी। अतः इसका रचनाकाल ६० वर्ष से भी पूर्व है ।]

हे भारतीयो ! आप पारस्परिक मतभेद, देशभेद और द्वेष को छोड़िए । समस्त पृथ्वी पर एक ही नित्यधर्म है। धर्म के तत्त्वों में किसी का किसी प्रकार भी मतभेद होना सम्भव नहीं है ॥१॥

प्राणिमात्र पर दया करना, परमात्मा के प्रति श्रद्धा रखना, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करना, सबके प्रति समभाव रखना, विरोध न करना और मन, वचन तथा कर्म से शुद्ध रहना—यह धर्म का परमतत्त्व है, इसमें किसी का विरोध नहीं है ॥२॥

समस्त मनुष्य एक ही ईश्वर का भजन करते हैं, वह ईश्वर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में केवल नाम-भेद से भिन्न मालूम होता है, वास्तव में वह एक ही है। उसी प्रकार ईश्वर ने एक ही धर्म का आविर्भाव किया है, अतः उस एक ईश्वरीय आदेश के पालन में कौन-सा भेद-भाव है ? ॥३॥

हे भारतीयो ! कलिंग, वंग, आन्ध्र, द्रविड आदि देशीय उपाधियों को छोड़कर सारे भारत को अपना देश समझकर प्राचीनकाल के समान आत्म-गौरव और उज्ज्वल एवं स्फीत यश को प्राप्त कीजिए ॥४॥

संस्कृत भाषा और राजकीय भाषा दोनों को पढ़कर दोनों लोक के सुख को अपने वश में रखिए, अपने धर्म और अपने देश को पुनः प्राचीन गौरव पर पहुँचाइए ॥५॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का मूल उत्तम विद्या है—यह समझकर उदारता के साथ स्वदेशीय विद्यालयों की स्थापना कीजिए और शिल्प-कला-कौशल आदि की निरन्तर उन्नति का यत्न कीजिए ॥६॥

दूसरों के दोषों पर ध्यान न देकर अपने देश के सुधार का यत्न कीजिए। अपना सुधार स्वयं करने पर फिर दोषों की आशंका नहीं रह जाती ॥७॥

सभी के सत्य वचन को स्वीकार कीजिए, ब्रह्मा के द्वारा भी की गई असत्य घोषणा स्वीकार मत कीजिए। अपने चरित्र को सत्य से पवित्र रखिए, और अपनी भावना को समस्त प्राणियों की रक्षा में लगाइए ॥८॥

हे भारतीयो ! प्राचीन काल में आपके पूर्वजों ने विद्या के द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त किये हैं। आज आप उन विद्याओं की उपेक्षा करते हुए खाने-दाने के लिए परमुखापेक्षी हो रहे हैं। खेद है ! ॥९॥

विद्वानो ! आप लोग इहलोक और परलोक दोनों के लिए कल्याणदायिनी प्राचीन विद्याओं की उपेक्षा करके शुष्क वाग्जाल में अपना समय नष्ट करते हुए दासता में अपना जीवन क्यों व्यतीत कर रहे हैं ? ।।१०।।

वेद, दर्शन, ज्यौतिष, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास एवं चिकित्साशास्त्र तथा इसी प्रकार की अन्य लोकोपयोगी विद्याओं में प्रवृत्ति कीजिए। पारस्परिक विवाद, व्यर्थ वाग्जाल आदि की प्रथा का त्याग कीजिए ।।११।।

अपनी विद्याओं के साथ दूसरे देशों की भाषाओं का अध्ययन करके और उन-उन भाषाओं के विज्ञानमय तत्त्वों का संग्रह करके संस्कृत भाषा में तथा देश की प्रान्तीय भाषाओं में उनका प्रचार कीजिए ।।१२।।

हे भारतीयो ! बुद्धिमान्, व्यक्ति भोजन की एकता और अन्य किसी प्रकार की बाहरी एकता नहीं चाहते और न वह सम्भव ही है। आवश्यकता है, हृदय की एकता और बुद्धि-विचार की एकता की। अतः स्वदेश की उन्नति के लिए हृदय और बुद्धि की एकता स्थापित कीजिए ।।१३।।

हमारे पूर्वजों ने देश की उन्नति के लिए क्या किया था और आज विदेशीय अपने देश की उन्नति के लिए क्या-क्या कर रहे हैं—इन समस्त बातों की भलीभाँति विवेचना करके यत्न कीजिए। यत्न करने से सब कुछ सिद्ध होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।।१४।।

जंगलों में रहते हुए धन-ऐश्वर्य को तृण के समान समझते हुए एवं एकमात्र भगवान् की सहायता पर निर्भर रहनेवाले हमारे पूर्वजों ने सहस्र-सहस्र ग्रन्थों का निर्माण किया था, आज वे विदेशियों के हाथ में पड़कर किस प्रकार दुर्लभ और दुःसमय हो रहे हैं ? ।।१५।।

संस्कृतशिक्षा कथमुपयुक्ता भवेत् ?

(संस्कृत)

अयि महाभागाः !

संस्कृतशिक्षाया गौरवं कस्य भारतीयस्य न विदितम् । भाषान्तराणि देशेऽस्मिन् प्रचारं भजन्ति । प्रान्तीयास्तत्र हिन्दी, महाराष्ट्री, वङ्गीया, गुर्जरीया, तामिलीत्येवमादयः, राजकीया चाङ्ग्लभाषा । पूर्वं राजकसम्बन्धात्पारस्य भाषापि यथाकथञ्चित्क्वेषुचिदद्यापि प्रचरन्ती समुपलभ्यते । अनेकभाषावगाहनरसिकेषु रोमक-यावन-स्फाराङ्गीय–शर्मण्यादिवाणी-शिक्षापि प्रवर्त्तते ।

तत्र सर्वास्वीदृशीषु भाषासु संस्कृतेन महिष्ठोऽस्माकं सम्बन्धः । धर्मकार्याणि सर्वाण्यस्माकं तत्तत्प्रान्तीयानां संस्कृतेनैव निर्वहन्ति, येनाद्यापि संस्कृतं गृहे गृहेऽवसरेषु श्रूयत इति वैदेशिका अपि विद्वांसः संस्कृतभाषां जीवन्तीममरीं मन्यन्ते ।

स्थिरत्वं देशव्यापित्वं जगन्मान्यत्वं बहुविज्ञानाश्रयत्वं साम्प्रतिकविज्ञानविशेषजनकत्वञ्च संस्कृतगिरो गुणा अनन्यसाधारणाः । तथाहि—चरकार्यभटादयश्चेदस्थिरेषु स्वकालिक प्राकृतेषु निजप्रबन्धान् व्यरचयिष्यन् सर्वथा लुप्तप्रायत्वं तद्विद्यानामद्याभविष्यत् । शंकराचार्यश्चेत्तामिलभाषया ब्रह्मसूत्रभाष्यं न्यबन्धयत्; को नामार्यावर्त्तीयस्तस्मात्तत्त्वबोधसौभाग्यभागभविष्यत् । कालिदासो वा पृथ्वीराजरासोभाषया तत्सदृशे न वा प्राकृतेन केनापि रघुवंशं व्यधास्यत् नातिमहान्सभ्यजनोपयोगस्तेनाभविष्यत् । पश्यत लुप्तां पैशाचीं बृहत्कथां संस्कृतानुवादमात्रजीवनीम् । पश्यत बौद्धादिप्राकृतसाहित्यगतिं भारते नामशेषां प्राच्यतत्त्वसंग्राहि–कतिपयजनबोधविषयाम् ।

किं च देशव्यापिनी संस्कृतसरस्वती न प्रान्तीया । यथापुरमद्याप्याकाम्बोजेभ्य आकामरूपेभ्य आनेपालेभ्य आसिंहलादियम्प्रचरति । गुणगौरवेण पुनःशर्मण्येषु पितृपुरीयेषु सिद्धपुरीयेषु कर्पूरद्वीपेषु चेयं पदमादधानोपलभ्यते 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते'। न श्रुतं भवद्भिः पितृपुरीयसंस्कृतमहाभिधानं शर्मण्यपण्डिताभ्याम् निर्मितम् ? नाकर्णिताः संस्कृतनिर्मिता द्वीपान्तरीयाणां श्लोकाः ? न विदितानि श्रीमतां वैदेशिकानि संस्कृतव्याकरणानि ? हन्त ! भो ! देशव्यापिनि जगन्मान्ये संस्कृते यद्विज्ञानं ज्ञानञ्च व्याकरणालंकारवैद्यकगणितदर्शनादिसम्बद्धमुपलभ्यते तदभिनवरूपं जाज्वल्यमानं भवद्भिरुपेक्ष्यमाणमपि तित्तिरप्रतिमैरद्यापि द्वीपान्तरीयैरालिह्यते । भाषारहस्यं पुराणरहस्यमीदृशानि विज्ञानान्तराणि च वैदेशिकोद्गीर्णानि नूनं नाचिरभविष्यन्, नचेतेषामुत्तमिना संस्कृतभारत्या भारतभाग्यभूतया परिचयोऽभविष्यत् न चेच्छ्रद्धयाध्यवसायेन च ते तं परिचयमहरहरवर्द्धयिष्यन् ।

सैषा देशव्यापिका सभ्यभारतगौरवास्पदीभूता बहुविज्ञानप्रसूः साम्प्रतमपि विज्ञानविशेषान् जनयन्ती नित्यमस्वप्ना भारतमातुर्मूर्त्तरूपा संस्कृतभारती नाभ्यस्यते श्रद्धया सर्वैः। न चाभ्यस्यमानापि नुवनिर्विशेषैर्बहुभिः साम्प्रतमुरेव मधुराणि फलानि दर्शयति। कस्यापराधः ? नास्या भारत्या नित्यजाग्रद्गुणमहिम्नः । न शासकानां सर्वदा संस्कृतशिक्षां

यत्नपूर्वं महता व्ययेन विवर्द्धयिषूणाम् । न सामान्यजनतायाः विश्वविद्यालय-ऋषिकुल-गुरुकुलादिकृते कोटीर्वितरन्त्याः । केवलं संस्कृतभारतीपुत्राणामत्रभवतां विदुषामयन्दोषो, ये "कलिरयमिह का स्यादुन्नतिर्हन्त ! जन्तोर्गतिबलवति दैवे पौरुषं किन्तु कुर्यात् । अनगिषत चिरत्नाः दिव्यशक्त्या निबन्धान्, क इह मनुजशक्तिस्तादृशानद्य कुर्यात्" । इत्यादि प्रलपन्तो वस्तुविज्ञानं वराहवाग्भटादिभिरनुसृतमुपेक्ष्य वाग्जालमात्रवितण्डाभिः खण्डयन्तश्छात्रसमयं बहुमूल्यं न पुनरिमां भारतभारतीं वस्तुसम्पद्भिः संयोज्य समुन्नतां-श्विवर्गक्षमान् कर्तुमुद्युञ्जते । संहिताभाषां दुरधिगमामुपलभ्य ब्राह्मणभाषया शतपथादीनि भगवद्भिरदृक्षत । भगवता कृष्णद्वैपायनेन च ब्राह्मणान्यप्यपयुज्यमानप्रायाण्युपलभ्य पञ्चमो वेदो भारतराशिः प्रतिष्ठापितः । बृहत्संहितामाब्राह्मण आस्यकालाच्च यद्विज्ञानं तत्संग्रहार्थेमां निबध्नीयामिति मनसि कुर्वन् वराहमिहिरो निरमास्त । तन्त्राणि रसादिप्रयोगकुशलानि मुनिकुलैरतन्यन्त । पुराणान्युपपुराणानि चाग्नेयस्कान्दादीनि स्वकालिकस्थापत्यभूगोलादिवि-ज्ञाननिधानानीव न्यबद्धयन्त । सिद्धान्तशिरोमणिप्रभृतीनि प्रबन्धरत्नानि जगत्यां भारतावनौ भास्करादिभिः प्रणीतानि ।

कृष्णद्वैपायनो यथा सृष्टिमारभ्य युधिष्ठिराभिषेकान्तमितिहासं न्यबध्नात्, लोमहर्षणि-प्रभृतयश्च तमश्रावयन्, कथं तथा भगवद्भिर्ब्राह्मणैरद्यापि ज्वलद्बाष्पमयाच्छायापथाद्यस्तारकाणा माविर्भावस्तमारभ्य श्रीजयाजीराभिषेकान्तं ग्रहोपग्रहगिरिवारिधिवृक्षगुल्मरक्षोनरप्रभृते-र्भूतजातस्य विकासवार्ता नाभिनवभारते निबध्यते ? न च गृहे गृहे वेतनं विनापि श्राव्यते ? सन्त्यें निष्कारणधार्मिका भगवन्तोऽप्याङ्गलभाषाध्यापका इव दक्षिणां विना मातृकुसाशनपरी-क्षोत्तरणमन्तरेण च नेतिहासादि जनतासु श्रावयितुमिच्छन्ति । हंहो ! सांक्रामिकोऽयङ्कश्चिद् दुश्चिकित्स्यो महाव्याधिः । तत्रभवान् वराहार्कः आब्रह्मण आस्वकालाद्यद्विज्ञानजातं तेन निचितां बृहत्संहितामतनिष्ट, ननु भोः ! श्रीमद्भिरपि कथं न बृहत्संहितीयं तत्परभावि च वाष्पीय-वैद्युत-व्योमयानीयादि-विज्ञानं संगृह्य नूतनसंहिता नापि प्रणीयते ? येन भवतां भ्रातरोऽप्यादिसूनुप्रभृतिवत्स्वनग्राहद्रुयाहादिनिर्माणे प्रभवेयुः ।

नूनं दारवीण-कलवीणादयश्चेदृग्ग्रन्थोऽभिनवरहस्यदर्शिनोऽभवन्नस्मिन्नेव कलौ, कथं न तत्सरणिमनुसरद्भिर्भवद्भिरपि मौनव्रतमीदृशेषु विहाय वास्तवं मुनित्वमवलम्ब्यते । स्कान्दे किल सामाजिकैः कैरपि गर्हणीयं पुराणत्वं भजत्यपि काशीखण्ड-रेवाखण्ड-सह्याद्रिखण्डादिषये प्राय आमानसादासिंहलं देशजातं वर्णितम्; आर्यमिश्रैरप्यानवजीवभूमे राष्ट्रिरतभूमेरातुङ्गा-तुङ्गार्णवमाशान्तार्णवमामेरुप्रदेशमावडवानलञ्च द्वीपान्तरीयैरिव तपोनिष्ठैर्महन्तः क्लेशानवि-गणय्य प्रवासे भ्रमद्भिः सर्वं वृत्तमुपलभ्य कथ न समस्तेयं वसुन्धरा वर्ण्यते ? किं भवद्भिरपि-नाभिनवान्याग्नेयमात्स्यपाषाणादीनि वैद्युत-शारीर-वानस्पत्यादिविज्ञानमयानि प्रणीयन्ते ? किं न पितृपुरीयां महाकोश स्वभावयानूढने भवतां कान्तकूटीय-प्रयागीय-गाङ्गनाम्ना-दिविश्वविद्यालयैः पिष्टपेषणमात्रसारं ? किं न भवतां कलाकुमारैः कलाध्यक्षैरुपाध्यायै-राचार्यैश्च महामहोपाध्याय-साम्राज्यसहायकादिसंज्ञामानार्पिताविदग्धैः जगदीश-प्रफुल्ला-दिप्रवर्षाणां सरणिमनुसृत्य नवानि तन्त्राणि प्रतायन्ते ? किं न नासाशिस-पाटलिपुरीयादि-

विश्वविद्यालयानुकारीणि कामसेतूक्ष लण्डन-बर्लिन-पेरिस-पुटभेदनादिमहाविश्वविद्यालयप्रतिस्पर्द्धीनि न केवलं गङ्गाद्वारे किं पुनः सर्वेषु गङ्गागोदावरीनर्मदादिपवित्रापगाकूलोपशल्यनगरेषु सहस्रशः ऋषिकुलान्यध्यात्मायुतपालनाध्यापनशर्मैः कुलपतिभिस्तत्त्वदर्शिभिर्महर्षिभिर्विद्याव्यसनिभिरन्तेवासिभिर्गार्ग्यात्म्भृणीप्रतिमाभिर्ब्रह्मवादिनीभिश्चालंकृतानि प्रतिपदमाविर्भवन्ति? न पुनस्तमोव्यसनदुर्यशोमगीमालिन्यं भारतवसुधामुखात्प्रक्षाल्यते, न दुर्भिक्षान्धकूपपतिता बन्धुतानुगृह्यते, न स्वदेशप्रणयः वैदेशिकभाषाभिः चिक्षाणां किं क्रियन्ते, न धर्मध्वजविलुप्यमानो धर्मः संरक्ष्यते !!

ध्रुवमत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते प्राकृतप्रिया वैदेशिकभाषाकुशला अभिनवसम्प्रदायप्रवर्त्तका उदरम्भरयः करम्भगवेषिणश्चान्ये। वदन्ति च 'भोः! किं लभ्यमनया संस्कृतभाषयाभ्यस्तया? नाधिकरणे कायस्थपदं सोत्कोचवेतनमियन्दातुम्प्रभवति। न न्यायवादिपदं प्रात्यहिकपञ्चसहस्रशुल्कमेपर्यर्पयति। न मारुतशकटगमनक्षमं शासनसमिति सभ्यपदमियम्वितरति। न वाप्पयानेष्वाङ्गलभाषिणमिवैतद्भाषिणं कश्चिदाद्रियते। जलशौचादि-प्रायश्चित्त-परम्परा-बहुला पत्रप्रोञ्छनाद्यभिनव-धर्मशिक्षादिमुखी म्रियतामेषा। किमनया जर्जरप्रायया? सर्वं विज्ञानं हिन्दीघञ्जीयादिभिर्वक्तृतादिकं चाङ्गलादिभिः प्रख्यापयिष्यामो धनमप्यर्जयिष्याम इति'।

तानेतान्महाशयान् शयेऽप्याशयेऽपि स्थौल्यवतः प्रतिवच्मः। 'किं नु भोः! किं धनमर्ज्यते भवद्भिः? गृहं क्षेत्रञ्च विक्रीय त्रिशन्मुद्राः प्रतिमासं क्षपयित्वा शरीरे ज्वरं मनसि लोभं रसनामाञ्च कतिपयान् कटूञ्छब्दानधिगत्य पताकादर्शकस्य चाटुकारस्य वा पदं प्रतिशतमेकेन भवतां लब्धं चेत्किं तेन? न सर्वे न्यायवादिनो वरास्तत्र रासविहारिघोषवदयुतार्जकाः। प्रचुरा जरत्कर्पटास्तत्र अधिकरणोपकण्ठतरुसेविनो मक्षिकापमारणमात्रकृत्याः।

ये किमप्यर्जयन्ति, ते देशमेव भक्षयन्ति, दुर्भिक्षार्दितान्कृषकानाकर्पयन्तश्च विवादपदशतार्थं सहस्रव्ययं कारयन्तो बन्धूनिरये निपातयन्ति। त्यज्यतां कलाकुमार-पदवीमासाद्याधिकरणिकपदलाभास्था। परीक्षाणां तृणप्रायत्वात् कलाकुमारसंख्याबाहुल्यान्मृगतृष्णिकैषा। हरिकीर्त्तनेन कथका यावन्तं युग्मं वा बहुव्ययमकृत्वापि लभन्ते, यं च मनोविनोदं कुर्वते जनतायाः, धर्मशिक्षया च यमुपकारं कुर्वन्ति बन्धुतायाः, न तत्सर्वं स्वप्नेऽपि गम्यं कलाकुमारस्य कलाध्यक्षस्य वा। अद्यापि वैद्या चरकादिपाठेनैव लक्षाण्यर्जयन्ति। गमपथान्यपथजलरथादिचिकित्सा-दुस्साध्यानि च जलोदरादीनि शस्त्रप्रयोगं विनैव मितशर्करामिश्रक्षारोपयोगेन शमयन्ति।

किं च 'न ता उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः' इति ऋग्वर्णो भिक्षुः ऋषिणा दृष्टो नार्जित. श्रीमद्भिः? अवस्तनिकाः मस्तुमूलकर्जीविनो ग्रामीणपण्डिताः शतायुषः मन्यते. पूर्वमुपमेयविमुग्धाः' यथा मुनिनः, किं, तथा युवजानी द्वादशवर्षादुपनेत्रे रात्रिन्दिवं दधाना तालरसादिपायनामृतप्रणयापि कलाकुमारमचाचिरा चत्वारिंशत्सरभापुराशामात्रकृतार्था कल्याणिनी कदापि संभाव्यते? हन्त! त्वद्भिरस्यतामतिप्रसङ्गाद्यीदयं मंदहनं तत्संस्कृतया मातृभाषयैव सर्वं शिल्पादि विधीयताम्, वाणिज्यादिभिरदः

मनार्थाङ्क्षिमताम् । न रक्षितानि दास्यस्थानानि । किं परमुखापेक्षया ? रोमक-यावनाख्य-संस्कृताद्याकरभाषाणामध्ययनं आंग्लशर्मण्यादिमातृभाषासंस्कारायैव कुर्वते पाश्चात्याः ।

वैज्ञानिकदार्शनिकादिशब्दसंग्रहो हि दुष्कर आकरभाषाभिज्ञतां विना । तथैव भवन्तोऽपि चेष्टन्ताम् । यावज्जीविकमाङ्ग्लादिभाषाभ्यासः क्रियतां न पुनर्जीविकाव्याजेन गृहविक्रया-यावस्तुतत्त्वानुवादाय द्वीपान्तरीयभाषासु परिचयो विधीयताम्; न पुनर्व्यवहारकलिमयुत्तेजनया देशभक्षणाय । सरलभूगोलादिविज्ञानं कलाशिल्प-वाणिज्यादिव्यवहरणञ्च प्रान्तीयभाषाभिर्भवतु । सहैव तु सर्वेणैदृशेन व्यवहारेण देशे गभीरं दार्शनिकज्ञानं ज्योतिर्गणितादि गरीयो विज्ञानं; तदर्थं देशव्यापिनोऽप्रान्तीयपारिभाषिकाः शब्दाः देशमान्यञ्च प्रबन्धजातमितीदृशमपरमपि प्रचुरमपेक्षितम् ।

यथा देशे किनारव्य-यूरोपीय चिकित्सासु सतीष्वपि तत्पार्श्वेऽद्याप्युदारतरायुर्वेदप्रणाली साम्प्रतमपि वरीवर्त्ति, तथा स्थापत्यादिष्वपि स्वतन्त्राः देशीयाः पद्धतयस्तावन्न भविष्यन्ति यावत् संस्कृतग्रन्थास्तद्विषयका अनुवादद्वारेण प्रान्तीयभाषाङ्केषु चरकादिवत सञ्चरन्तो न दृश्यन्ते । वैज्ञानिकपरिभाषैक्यमपि देशमात्रे संस्कृतमूलकमेव सम्भाव्यते, संस्कृतस्य सर्व्वोपजीव्यत्वात् । प्राकृतानि तु नहि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हतीति न्यायमनुसरन्ति, न परस्परोपजीव्यान्यत एकस्या प्रान्तीयभाषायां यो विज्ञानकोषो न स्वभाषान्तरे स्वीकृति लप्स्यते । न च गाम्भीर्य्यमपि तादृक् प्राकृतभाषाणां येन तदीया निबन्धा मध्यमकालिका भ्रमान् दूरीकर्त्तुम्प्रभवन्ति । न वा भारते कियद्गणितमित्यादि पृष्टः कोऽपि मिडिलपरीक्षा-गणितपुस्तकं दर्शयित्वा कृती भविष्यति, सिद्धान्तशिरोमणिमेव तु शरणीकरिष्यति । स च सिद्धान्तशिरोमणिर्न चेत्पुनर्नवीक्रियते, न तत्र सर्व्वं साम्प्रतिकङ्गणितमिति महत्परिहासस्थानं भविष्यति द्वीपान्तरीयाणाम् ।

तदेतत् सर्व्वमभिसन्धाय प्राच्यकन्यानामाङ्ग्लादानुवादं विहायाभिनवाः संस्कृतसंहिताः प्रणीयन्ताम् विविधभाषाभिज्ञैर्देशहितैषिभिः । द्यूतनृत्यादिव्यसनानि विहाय स्थाप्यन्तां कोटीशैः कुलपत्याश्रमाः । मतभेदवादरसिकत्वं परित्यज्य सर्व्वैर्धार्मिकैः प्रवर्त्यन्तां धर्म्मसत्राणि छात्रोपयोगीनि । "विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं, क्षत्रियाणान्तु वीर्य्यतः ।

वैश्यानान्धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥"

इति मानवीङ्गिरमनुसरद्भिरस्तु स्ववार्ग्गे शुधा द्रवीभाव परिजिहीर्षुभिर्जन्ममात्राभिमानमपहाय ज्ञानाय, धनाय, बलाय च प्रतिनगरं प्रतिग्रामं प्रतिपल्लि स्थापितेषु धर्म्मक्षेत्रेषु स्वयम्प्रमत्यतामन्येषु च ज्ञानस्य धनस्य बलस्य प्रचारमाचरद्भिः स्वार्थपरार्थोभयसाधनरूपपरमार्थनिष्ठैः उद्ध्रियताम्भारतभूर्दुर्भिक्षमहामारीप्रत्यक्षनिरयात् ।

परिरक्ष्यताञ्च संस्कृतभारती स्वदेशेऽपि देशान्तरेष्विव न हि जननी परपुत्रोपजीव्या स्वपुत्रकृतामुपेक्षामर्हतीति अलं विज्ञेष्वतिपल्लवितेन ।

(सुप्रभातम्'; प्रथम पर्व; संख्या १—२; १९८१ वि० सं०)

संस्कृत भाषा कैसे उपयुक्त हो सकती है ?

(हिन्दी)

[यह निबन्ध अखिल भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन (हरद्वार) में (विक्रम संवत् १६७०) में पढ़ा गया था और संस्कृत के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'सुप्रभातम्' के प्रथम वर्ष के प्रथम और द्वितीय अंक (वैशाख-ज्येष्ठ १६८१ वि०) में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।]

महानुभाव !

संस्कृत शिक्षा का गौरव किसी भारतीय से छिपा नहीं है। हमारे देश में अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें हिन्दी, मराठी, बँगला, तमिल, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाएँ हैं। राजभाषा के रूप में अँगरेजी भाषा प्रचलित है। पुरातन राजकीय सम्बन्ध से फारसी भाषा भी जहाँ-तहाँ कुछ लोगों में व्यवहृत होती है। अनेक भाषाओं के रसिकजनों के लिए रोमन, ग्रीक, अरबी, फ्रेंच एवं जर्मन भाषाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। फिर भी इन भाषाओं के रहते हुए भी संस्कृत के साथ हमारा घनिष्ट सम्पर्क है। हमारे समस्त धार्मिक कार्य इसी भाषा के द्वारा सम्पन्न होते हैं, जिसमें आज भी घर-घर में इसके शब्द सुन पड़ते हैं। यही कारण है कि विदेशीय विद्वान् इसे इस युग में भी अमर और जीवित भाषा कहते हैं।

स्थिरता, देशव्यापिता, विश्वमान्यता, विविध-विज्ञान-मूलकता एवं आधुनिक विशिष्ट-विज्ञान-जनकता आदि संस्कृत भाषा के असाधारण गुण हैं। यदि आचार्य चरक एवं आर्यभट आदि अपने समय में बोली जानेवाली अस्थिर प्राकृत भाषा में अपने ग्रंथों का प्रणयन करते तो आज उनकी विद्याएँ लुप्त हो जातीं। यदि शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना तत्कालीन तमिल भाषा में करते तो आज आर्यावर्तवासी उनके उस तत्त्व-ज्ञान का सौभाग्य प्राप्त न कर सकते। यदि कालिदास पृथ्वीराज रासो की जैसी स्वकालीन प्राकृत भाषा में रघुवंश आदि महाकाव्यों का निर्माण करते तो आज सभ्य संसार उसके उपयोग से वञ्चित रह जाता। देखिये, पैशाची (भूतभाषा) में लिखी गई महाकवि 'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' लुप्त हो गई, केवल संस्कृत अनुवादों के कारण (बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर) आज भी वह जीवित रह गई। बौद्ध और जैन साहित्य की गति देखिये, जो पाली और प्राकृत भाषा में लिखी जाने के कारण आज केवल पुरातत्त्वानुसन्धान-रसिकों के विनोद का साधनमात्र है।

समस्त-देशव्यापिनी संस्कृत-भारती प्रान्तीय भाषा नहीं है। यह आज भी काबुल से कामरूप (आसाम) तक और नेपाल से सिंहल द्वीप तक प्राचीन काल के समान ही प्रचलित है। इतना ही नहीं, वह अपने अनुपम गुण-गौरव के कारण जर्मन, रूस, इंगलैंड और जापान में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है; क्योंकि गुण सर्वत्र माना

स्थान बना लेते हैं। क्या आपने विदेशीयों द्वारा निर्मित संस्कृत व्याकरण नहीं देखे ? क्या आपने विदेशियों द्वारा रचित श्लोक नहीं सुने ? खेद का विषय है कि देशव्यापी तथा विश्वमान्य संस्कृत भाषा में व्याकरण, अलंकार, वैद्यक दर्शन, गणित आदि से सम्बद्ध जितना भी ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध होता है। उस अग्नि के समान जाज्वल्यमान ज्ञान-विज्ञान की हम उपेक्षा करते जा रहे हैं और विदेशीय विद्वान् तित्तिरों के समान उसकी अवहेलना करते जा रहे हैं। यदि सतत उद्योगशील वैदेशिक विद्वान्, श्रद्धा और परिश्रम के साथ संस्कृत भाषा का ज्ञान तथा उसके वाङ्मय का गवेषण करके उसे प्रकाशित न करते तो आज हमें भारत की सौभाग्य स्वरूपिणी भगवती सुरभारती के अनेक वैज्ञानिक तथा भाषा-सम्बन्धी रहस्यों एवं पौराणिकतत्त्वों का पता ही न चलता।

आज भी अखिलभारतव्यापी, समस्त सभ्य-संसार में गौरव प्राप्त करनेवाली अनन्त विज्ञानजननी एवं भारतमाता की मुखरूपिणी भगवती सुरभारती को आप लोग श्रद्धा के साथ नहीं पढ़ते। यदि तोता-रटन्त के रूप में कुछ पढ़ते भी हैं तो इस प्रकार अध्ययन की गई संस्कृत भाषा प्राचीन काल के समान मधुर फल प्रदान नहीं करती। इसमें किसका अपराध है? भाषा का अपराध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका गुण-गौरव अनादि काल से अनन्तकाल तक उसी प्रकार उज्ज्वल है और रहेगा। शासकों का अपराध भी नहीं कहा जा सकता जो अधिकाधिक धनव्यय करके उसके संवर्द्धन-गवेषण आदि के लिए सर्वदा यत्नशील रहते हैं। और, इसमें जनता का भी अपराध नहीं है, जो ऋषिकुल, गुरुकुल, विश्वविद्यालय आदि के लिए करोड़ों रुपये दान देती है। इसमें सर्वाधिक अपराध संस्कृत भारती के पुत्र कहे जानेवाले आप माननीय विद्वानों का है, जो यह कहा करते हैं—"यह तो कलियुग है, इस युग में प्राणियों की क्या उन्नति हो सकती है? दैव के अत्यन्त बलवान् होने पर पुरुषार्थ क्या कर सकता है? प्राचीन विद्वानों ने तो दिव्यशक्ति से शास्त्रों की रचना की है, आज के मानव की इतनी शक्ति कहाँ है ?" इस प्रकार का प्रलाप करते हुए आप लोग वराहमिहिर, वाग्भट आदि विद्वानों के अमूल्य विज्ञानों की उपेक्षा कर, केवल वाग्जाल और वितण्डावाद में ही छात्रों का अमूल्य समय नष्ट करते हुए, भारत-भारती को नवीन ज्ञान-विज्ञान-सम्पत्ति से समृद्ध बनाकर भारती-भक्तों को पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम) का योग्य नहीं बना रहे हैं।

पुरातन वैदिक संहिताओं को कठिन समझकर ऋषियों ने ब्राह्मण भाषा में शतपथ आदि की रचना की। कृष्णद्वैपायन व्यास ने ब्राह्मणों का उपयोग कठिन समझकर पञ्चम वेद के समान 'भारत' की रचना की। वराहमिहिर ने—ब्रह्मदेव से लेकर अपने समयतक के समस्त विज्ञान का संग्रह करूँ ?—ऐसा सोचकर 'बृहत्-संहिता' का निर्माण किया। पारद आदि रस-प्रयोगों में कुशल मनीषियों ने तन्त्रों की रचना की और तत्कालीन स्वास्थ्य, भूगोल, इतिहास आदि विज्ञानों के निधान रूप आग्नेय, स्कन्द आदि

पुराणों की रचना की। भारत की गिरती हुई जीर्ण अवस्थाओं में भी भास्कराचार्य जैसे विद्वानों ने सिद्धान्तशिरोमणि आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था।

जिस प्रकार कृष्णद्वैपायन ने सृष्टि के आरम्भ से लेकर युधिष्ठिर के अभिषेक कालतक का इतिहास संकलित किया और जिस प्रकार उनके शिष्य 'लोमहर्षणि सूत' ने उसे कथारूप में सुना-सुना कर उसका प्रचार किया, उसी प्रकार आज आप आधुनिक विद्वान् ब्राह्मणगण भी, छायापथ के आविर्भाव से लेकर पञ्चमजार्ज के अभिषेक काल तक की—ग्रह, उपग्रह, पर्वत, समुद्र, वृक्ष, गुल्म, राक्षस आदि भौतिक जगत् की विकास-कथा का, नवभारत के लिए निर्माण क्यों नहीं करते और घर-घर जाकर दक्षिणा लिये बिना उसे क्यों नहीं सुनाते? इससे मालूम होता है कि आप भी अँगरेजी भाषा के विद्वानों के समान दक्षिणा के बिना मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण न होनेवाली जनता को इतिहास, भूगोल आदि, पढ़ाना या सुनाना नहीं चाहते। खेद है कि सत्रामक रोग असाध्य हो चुका है।

जैसे वराहमिहिर ने ब्रह्मा से लेकर अपने समयतक के समस्त विज्ञान-समूह को एकत्र कर 'बृहत्संहिता' का निर्माण किया था, उसी प्रकार आप भी बृहत्संहिता के विज्ञान को लेकर और उसके अनन्तर आविष्कृत आजतक के रेल, मोटर, तार, जहाज, वायुयान, रेडियो आदि विज्ञानों का संग्रह कर एक नवीन संहिता का निर्माण क्यों नहीं करते? जिससे आपके भाई भी 'आदिसूनु' (मोटर, तार आदि के आविष्कर्ता—Edison) आदि के समान ग्रामोफोन, रेडियो आदि के निर्माण में समर्थ हो सकें।

यदि इस कलियुग में भी डारविन आदि ऋषि प्रकृति के अभिनव रहस्यों के द्रष्टा हो सकते हैं, तो आपभी उनके मार्ग का अनुकरण करते हुए ऐसे विषय में अपने मौनव्रत को भगकर सच्चे अर्थ में मुनित्व का अवलम्बन क्यों नहीं करते? देखिये, स्कन्दपुराण में कुछ लोगों ने अनौचित्य का ध्यान न रखकर काशीखण्ड, रेवाखण्ड, सह्याद्रिखण्ड आदि का निर्माण कर मानस-सरोवर से सिंहल द्वीप तक के देशों का वर्णन किया है। इसी प्रकार आप भी उन विदेशीय विद्वानों के समान कठोर तपश्चर्या एवं लम्बे प्रवास के भयानक कष्टों को स्वीकार कर न्यूजीलैंड से अमेरिका तक, आल्प्स पर्वत से प्रशान्त महासागर तक, एवं सुमेरुपर्वत से बड़वानल तक के देशों का वृत्तान्त संग्रह कर समस्त वसुन्धरा का वर्णन क्यों नहीं करते?

आप भी आग्नेय, मत्स्य, वायु, पद्म आदि पुराणों के समान, वैद्युत, भागरीय, एवं वानस्पतिक पुराणों का वर्णन क्यों नहीं करते? केवल पिष्ट-पेषण करनेवाले कलकत्ता, प्रयाग एवं पंजाब के संस्कृत विश्वविद्यालय रूप में प्रकाशित बृहत्संस्कृत-कोश का संस्कृत या हिन्दी अनुवाद क्यों नहीं करते? आपके बी० ए०, एम् ए०, आचार्य, उपाध्याय, महामहोपाध्याय आदि उपाधिधारी विद्वान् जगदीशचन्द्रबोस एवं प्रफुल्लचन्द्रराय आदि आधुनिक ऋषियों के समान उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए नवीन आविष्कारों की सृष्टि क्यों नहीं करते? केवल गणनाद पर ही नहीं, ब्रह्मपुत्र गंगा, गोदावरी, नर्मदा आदि

सभी पवित्र नदियों के तट पर तथा काशी हरिद्वार, आदि पवित्र नगरों में; प्राक्कालीन, तक्षशिला, पाटलिपुत्र आदि विश्वविद्यालयों के आदर्श पर, केम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, बर्लिन एवं पेरिस विश्वविद्यालयों के समकक्ष ऋषिकुल या आचार्यकुल क्यों नहीं खोले जाते, जो ऋषियों के समान तत्वदर्शी विद्वान् कुलपतियों, दस-दस सहस्र छात्रों एवं गार्गी, आम्भृणी जैसी विदुषी महिलाओं से अलंकृत हों ?

खेद है कि भारतमाता के मुख पर अपने ही अज्ञान-आलस्य आदि से लगी हुई दुर्दशा-कलंक-कालिमा को धोने में आप समर्थ नहीं हैं। दुर्भिक्ष, दारिद्र्यरूपी प्रत्यक्ष-नरक में गिरी हुई जनता पर आपको तनिक भी करुणा नहीं है। विदेशी भाषाओं के विरोध द्वारा आपका स्वदेश-प्रेम ..गरित नहीं हो रहा है। आप धर्मध्वजी बनते हुए भी धर्म की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

आधुनिक युग के विदेशीय भाषा-प्रवीण, नवीन मत-प्रवर्तक, अवसरवादी, पेटू, एवं केवल जीविका-लोलुप प्रायः इस भाषा के विरुद्ध कहा करते हैं—"भाई, इस संस्कृत भाषा के पढ़ने में क्या लाभ है ? इसके द्वारा अदालतों में घूस और मासिक वेतन के साथ पेशकारी या मोहर्रिरी भी तो नहीं मिल सकती, न प्रतिदिन हजारों रुपया कमाने योग्य वकील या बैरिस्टर का पद ही प्राप्त होता है, न यह भाषा मोटर-कारों में घूमने योग्य शासन-सभा का सदस्य-पद ही प्रदान कर सकती है और न रेल-गाड़ियों में अँगरेजी बाबुओं के समान संस्कृत पण्डित का रोब ही जमता है ! कमोड, कागज आदि की अभिनव सभ्यता से रहित, पानी, मिट्टी, स्नान आदि अनेक प्रायश्चित्तों से भरी हुई मृतप्राय भाषा से क्या लाभ है। मरने दो इसे। हिन्दी, बँगला आदि प्रान्तीय भाषाओं द्वारा विविध ज्ञान और विज्ञान का प्रचार किया जा सकता है। व्याख्यान आदि देने के लिए अँगरेजी भाषा है ही और उसके द्वारा प्रचुर मात्रा में धनार्जन भी किया जा सकता है !" इत्यादि

उन स्थूलबुद्धि महाशयों से मैं कहता हूँ —"भाई ! आप कितना धन कमा रहे हो ? घर और खेत बेचकर, तीस रुपये प्रतिमास (आजकल सौ) व्यय करके एवं शरीर में ज्वर, मन में क्षोभ और वाणी में कुछ कटु शब्दों को प्राप्त करके यदि आपमें से प्रतिशत एक ने किसी प्रकार झण्डी दिखाने (गार्ड) या खुशामदी दास (क्लर्क) की नौकरी प्राप्त कर ही ली तो उससे क्या ? सभी वकील और बैरिस्टर रासबिहारी घोष के समान दस हजार रोज कमानेवाले नहीं होते। अधिकांश वकील फटे-पुराने कपड़ों में कचहरियों के आस-पास पेड़ों के नीचे मक्खियाँ मारते देखे जाते हैं ? जो वकील कुछ कमाते भी हैं, वे अपने देशवासियों को ही नोचते हैं। ये दुर्भिक्ष-दारिद्र्य-पीड़ित किसानों को त्रस्त करके, हजारों रुपये मुकदमेबाजी में व्यय कराकर, भाइयोंके ही जीवन को नरक बना देते हैं। बी० ए०, एम्० ए० पास करके तथा मुन्सिफ या सदरआला बनकर धन कमाने की आशा छोड़ो। देश के कथावाचक आदि केवल हरि-कीर्तन द्वारा या कथा सुनाकर जितना धन और सुख प्राप्त करते हैं, अल्प व्यय में

जनता का जितना मनोविनोद करते हैं और धर्म-शिक्षा द्वारा भाइयों का जितना उपकार करते हैं, वह सब बी० ए० या एम्० ए० के लिए स्वप्न भी में दुर्लभ है। आज भी प्राचीनप्रणाली के वैद्य, चरक एवं शार्ङ्गधर की चिकित्सा द्वारा लाखों रुपये कमाते हैं। वे होमियोपैथी, ऐलोपैथी या जलचिकित्सा आदि के लिए असाध्य जलोदर जैसे रोग, जोंक, आपरेशन आदि के बिना ही मिस्री और चीनी मिले क्षारों से दूर करने की क्षमता रखते हैं।

दूसरे दिन के लिए जिनके पास भोजन की व्यवस्था नहीं रहती ऐसे सत्तू खाकर सौ वर्ष तक अपना स्वस्थ जीवन व्यतीत करनेवाले उन प्राचीन ग्रामीण पण्डितों को देखिए जो सत्तर वर्ष की अवस्था तक चश्मा धारण नहीं करते। वे जैसे सुखी और स्वस्थ रहते हैं, क्या उनके समान बारह वर्ष की अवस्था में ही रातदिन चश्मा लगानेवाले और चालीस वर्ष की अन्तिम आयु प्राप्त करनेवाले और विविध हानिकारक पेय और खाद्य का उपयोग करने वाले आजके वृद्ध-युवक सुख प्राप्त कर सकते हैं?

इस विषय पर अधिक विचार की आवश्यकता नहीं। संस्कृत भाषा को पढ़कर शिल्प कला आदि विद्याओं का संस्कृत भाषा में अनुवाद कीजिए और व्यापार-वाणिज्य शिल्प-आदि से देशों को सनाथ कीजिए। नौकरियाँ सुलभ नहीं हैं। उनके लिए स्थान परिमित हैं। फिर दूसरों का मुँह निहारने की क्या आवश्यकता है?

पाश्चात्य विद्वान्, अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं के संस्कार के लिए जिस प्रकार रोमन, ग्रीक, लैटिन एवं संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार हमें संस्कृत भाषा का अध्ययन करना चाहिए। इन मूल भाषाओं के अध्ययन के बिना वैज्ञानिक एवं दार्शनिक शब्दों का संग्रह असम्भव है। आप भी इसी प्रकार प्रयत्न कीजिए। जीविका के लिए अँगरेजी भाषा का अध्ययन कीजिए; किन्तु जीविकार्जन के व्याज से घर-द्वार बेचने के लिए और अनावश्यक विषयों का अनुवाद करने के लिए या मुकदमेबाजी कराकर देश का नाश करने के लिए इंग्लिश भाषा का अध्ययन न कीजिए।

सरल भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि की शिक्षा भले ही प्रान्तीय भाषाओं में हो; किन्तु उसके साथ ही व्यावहारिक ज्ञान के अतिरिक्त गम्भीर दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि के लिए देशव्यापी अप्रान्तीय पारिभाषिक शब्दों की तथा सार्वदेशिक ग्रन्थों की भी आवश्यकता है, जो संस्कृत भाषा के द्वारा पूर्ण की जा सकती है।

जिस प्रकार देश में आज यूनानी और अँगरेजी चिकित्सापद्धति के साथ उदार आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली भी चल रही है, उसी प्रकार प्राचीन कला-कौशल-प्रणाली का प्रचलन भी तबतक न होगा जबतक अनुवाद द्वारा उन-उन विषयों के ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद न होगा। संस्कृत के चरक आदिग्रन्थ आज प्रान्तीय भाषाओं में अनूदित होकर अक्षुण्ण रूप से चल रहे हैं। वैज्ञानिक-परिभाषाओं की एकता भी देश भर में संस्कृत-मूलक होने से ही सम्पन्न हो सकती है; क्योंकि संस्कृत भाषा ही एकमात्र सब प्रान्तों

में एक रूप में विद्यमान है। एक प्रान्तीय भाषा के वैज्ञानिक निबन्ध या विज्ञान-कोष दूसरी प्रान्तीय भाषा में उपयोगी नहीं हो सकते। न उसमें उतना गाम्भीर्य ही हो सकता है कि वे मध्यकालीन भ्रमों को दूर कर सकें। यदि पूछा जाय कि भारत में गणित विद्या कितनी है, तो मिडिल क्लास की गणित पुस्तक को दिखाने से काम न चलेगा, 'सिद्धान्तशिरोमणि' की शरण में जाना पड़ेगा। यदि आज उस 'सिद्धान्तशिरोमणि' को भी नवीन गणित-पद्धतियों द्वारा समृद्ध नहीं किया जाता तो उसमें समस्त आधुनिक गणित के अभाव से विदेशीयों के सम्मुख हास्यास्पद बनना पड़ेगा।

इसलिए इन सब विषयों पर भली-भाँति विचार करने के बाद प्राचीन संहिताओं, ग्रन्थों आदि का आंग्ल-भाषा में अनुवाद करने के विचार को छोड़कर विविध भाषा-विशारद विद्वानों को नवीन संहिताओं का भी निर्माण करना चाहिए। धनपतियों को विविध दुर्व्यसनों का परित्याग करके कुलपतियों के आश्रमों की स्थापना करनी चाहिए। सभीसम्प्रदाय वालों को मतभेद की अरसिकता का परित्याग करके छात्रों के लिए उपयुक्त धर्मसत्र बनाने चाहिए।

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से और शूद्र जन्म से ज्येष्ठ होता है। इसलिए अशूद्रता चाहनेवाले, शोक से संकुचित होने की भावना का त्याग करके, भारतीय विद्वानों को केवल जन्म का अभिमान छोड़कर ज्ञान, धन एवं बल की प्राप्ति के लिए प्रतिनगर एवं प्रतिग्राम में धर्मसत्रों की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय जनता में भी ज्ञान, धन और बल का प्रचार करते हुए स्वार्थ और परार्थ दोनों के साधन रूप परमार्थ की प्राप्ति के लिए उद्यत होकर दुर्भिक्ष दारिद्रय एवं महामारी रूप प्रत्यक्ष नरक से भारतभूमि का उद्धार करना चाहिए। देश के समान विदेशों में भी संस्कृत भाषा की रक्षा करनी चाहिए। दूसरे के पुत्रों से परिरक्षित जननी की अपने पुत्रों द्वारा उपेक्षा होना सर्वथा अनुचित है। विद्वानों के लिए अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

४

विगत ३ अप्रैल को संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हिन्दी-प्रेमी महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, एम्० ए० का देहान्त हो गया। पण्डित जी इधर बहुत दिनों से रुग्ण हो रहे थे और प्राकृतिक निदान में विश्वास रखने एवं कुछ हठी होने के कारण इन्होंने अपनी चिकित्सा की ओर ध्यान न दिया। इससे दिन-दिन इनकी तबीयत खराब होती गई और अन्त में इस महाविद्वान् का निर्वाण हो गया।

स्वर्गीय पण्डितजी की गणना भारत के प्रथम श्रेणी के विद्वानों में की जाती है। यह बहुत बड़े स्वतन्त्र विचारक, धुरन्धर दार्शनिक और सरल पुरुष थे। संस्कृत के अच्छे पण्डित तो भारत में और भी हैं; पर ऐसे गंभीर विचारक और ऐसे निर्भीक विद्वान् शायद ही मिलेंगे। शर्माजी देशी भाषा द्वारा शिक्षा देने के पूर्ण पक्षपाती और वर्तमान शिक्षा-क्रम के एक खरे समालोचक थे। यह बहुत दिनों तक काशी, पटना तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों में अध्यापक और आचार्य रहे। इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। 'यूरोपीय-दर्शन' (हिन्दी) काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है। 'परमार्थ-दर्शन' और 'भारतीयमितिवृत्तम्' को १९१३ में पंडित जी ने स्वयं प्रकाशित किया था। 'परमार्थ-दर्शन' के प्रकाशन से बड़ी हलचल मची थी। बहुतेरे विद्वान् तो इसे सप्तम दर्शन कहने लगे थे। 'सयुक्तिकर्णामृत' का सम्पादन करके इन्होंने एशियाटिक सोसाइटी से छपवाया था। अशोक के शिलालेखों का संग्रह करके उनका प्राकृत से संस्कृत में अनुवाद किया था। इधर पंडित जी तीन-चार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना में लगे थे। संस्कृत में एक विशद कोश का अभाव इन्हें बहुत खटकता था। इसलिए अब तक उपलब्ध सब कोशों से बड़े एक संस्कृत कोश की रचना आप कर रहे थे। इसमें शब्दों को पद्यबद्ध रखते हुए आधुनिक रीति से वर्णानुक्रम और पाद-टिप्पणी की भी योजना थी। कोश का प्रणयन एक आदमी का काम न था, फिर भी इन्होंने अकेले ही उसे निबाहने की प्रतिज्ञा की थी और इसके लिए दस साल का समय निश्चित किया था। सात साल बीत चुके थे और प्रायः दो तिहाई काम हो गया था। लोगों का अनुमान है कि पूरा होने पर इस कोश के सर्वाधिकार के लिए सहज ही एक लाख मिल सकता है।

संस्कृत और अंगरेजी का गंभीर विद्वान् होते हुए भी पण्डित जी को हिन्दी से बड़ा अनुराग था और हिन्दी-भाषी जनता ने जबलपुर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति चुनकर इनके इस हिन्दी-प्रेम का आदर भी किया था।

यह बड़े ही क्रान्तिवादी सुधारक थे, और १९११ में ही अखिल-भारतीय-समाज-सुधार-सम्मेलन के सभापति चुने गये थे। पण्डे-पुजारियों की बड़ी हँसी उड़ाया करते थे।

गंभीर विद्वान् होकर भी उच्चकोटि के हास्य के बड़े सुन्दर लेखक थे और 'स्वामी मुद्गरानन्द' की रचनाएँ इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण पेश करती हैं। पण्डित जी की मृत्यु से संस्कृत-साहित्याकाश का एक उज्ज्वल नक्षत्र, राष्ट्र-भाषा हिन्दी का एक सेवक और एक गंभीर विचारक भारत से उठ गया। ऐसे अवसर पर हम पण्डित जी के दुःखी परिवार के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

—'त्यागभूमि', वैशाख ; संवत् १९८६ ।
(वर्ष २; खण्ड २; अंक २ ; पूर्णांक–२०)

५

'सुधा' के पाठकों को यह जानकर अत्यंत दुःख होगा कि ३ अप्रैल, सन् १९२९ ई० को साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा, एम्० ए० का देहान्त हो गया। शर्मा जी हिंदी, संस्कृत और अँगरेजी–साहित्य के धुरन्धर विद्वान् थे। पाश्चात्य एवं प्राच्य दर्शनों में आपकी असाधारण पहुँच थी। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हो चुके थे, तथा 'सुधा' के कृपालु लेखकों में थे।

शर्माजी का जन्म बिहार-प्रान्त के सारन जिले में, ६ मार्च, सन् १८७७ ई० में, एक साधारण परिवार में, हुआ था। आपके पिता पं० देवनारायण पांडेय कथा बाँच कर अपने परिवार का निर्वाह करते थे। शर्माजी अपने चार भाइयों में सबसे बड़े थे। आपकी बाल्यावस्था में ही आपके पिता का देहांत हो गया। इससे अध्ययन का सहारा ही टूट गया। इस समय तक शर्माजी केवल 'लघुकौमुदी' और 'रघुवंश' ही पढ़ सके थे। परन्तु शर्माजी की रुचि अध्ययन की ओर थी। आप बड़े प्रतिभाशाली भी थे। आपने सारी कठिनाइयों का सामना कर काशी में अध्ययन आरंभ किया। वहाँ से बड़े नाम के साथ क्वींन्स कॉलेज से साहित्याचार्य परीक्षा पास की। साहित्याचार्य परीक्षा के बाद आपने तीन खंडों में व्याकरण-परीक्षा भी दी। पर इसे पूरा नहीं कर सके। अध्ययन-काल से ही शर्माजी में एक विशेष विचित्रता थी—वह विचित्रता, जो प्रायः महान् पुरुषों में हुआ करती है। प्रसंग-वश इस स्थान पर एक बात की चर्चा करना अनुचित न होगा। जिस समय आप क्वीन्स कॉलेज में संस्कृत पढ़ते थे, उस समय उसके प्रिंसिपल डॉक्टर वेनिस साहब थे। स्वर्गीय डॉक्टर साहब आपकी प्रतिभा के कायल थे। उन्होंने शर्माजी से संस्कृत के साथ ही अँगरेजी पढ़ने का भी अनुरोध किया। शर्माजी को छात्रवृत्ति मिलती थी। डाक्टर वेनिस ने उस छात्रवृत्ति को इसी शर्त पर बढ़ा देने का भी वचन दिया; परंतु शर्माजी किसी अध्यापक के द्वारा अँगरेजी पढ़ने को तैयार न हुए। कारण, आपकी दृष्टि में सभी अँगरेजी पढ़ानेवाले अध्यापक मूर्ख प्रतीत होते थे। संस्कृत-परीक्षा समाप्त

करके आप स्वयं अँगरेजी पढ़ने लगे, और एँट्रेंस से लेकर एम० ए० परीक्षा तक बड़ी योग्यता से पास की ।

अध्ययन समाप्त करने के बाद बिहार-प्रांत के सुप्रसिद्ध पटना-कॉलेज में, संस्कृत के प्रोफेसर प० कन्हैयालाल शास्त्री की मृत्यु के कारण, संस्कृत-प्रोफेसर की जगह खाली हुई। शर्माजी ने उस पद के लिए दरख्वास्त दी। दरख्वास्त स्वीकृत हो गई। परंतु कॉलेज के अधिकारियों ने शर्माजी को प्रोविंशल सर्विस (Provincial service) का वेतन देना स्वीकार नहीं किया। इस पर शर्माजी ने उक्त कॉलेज में रहना अपनी मर्यादा और आत्मसम्मान के विरुद्ध समझा, और शीघ्र ही वहाँ से त्यागपत्र देकर कलकत्ता विश्वविद्यालय में लेक्चरर (Lecturer) होकर चले गये। उनके कलकत्ता चले जाने पर पटना कालेज के अधिकारियों ने उनके समान योग्यता के व्यक्ति को खोजने का जिरतोड़ परिश्रम किया, परंतु वे अपने इस प्रयत्न में सफल न हो सके। अंत में असफल होकर पटना-कॉलेज के अधिकारियों ने शर्माजी को मुँहमाँगा वेतन दिया, और बड़े आदर के साथ पुनः वापस बुला लिया। इस स्थान पर यह बात लिख देना आवश्यक है कि शर्माजी वसु मल्लिक-लेक्चरर मुकर्रर हुए थे। आपका विषय वेदांत था। अँगरेजी में आपका वह लेक्चर बड़ा ही मार्मिक और विद्वत्तापूर्ण है।

पटना-कॉलेज की प्रोफेसरी के समय शर्माजी प्रसिद्ध रायचंद-प्रेमचंद परीक्षा में भी प्रविष्ट हुए थे। पर इस परीक्षा में बंगालियों के अतिरिक्त कभी किसी अन्य प्रांतीय विद्वान् को पुरस्कार नहीं मिलता था। कारण, उस समय बंगालियों में बहुत अधिक संकीर्णता थी, और वे बंगालियों के अतिरिक्त किसी भारतवासी की उन्नति से जलते थे। इस प्रकार, शर्माजी का पुरस्कार न पाना स्वाभाविक था। यह जानकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि स्वयं बंगाली परीक्षक से शर्माजी बहुत अधिक योग्य थे। पुरस्कार से वंचित होने के अभिप्राय से बंगाली परीक्षक ने अपनी संमति में लिखा था —The Style is too pedantic, अर्थात् रचना-शैली में पांडित्यदर्प का बहुत अधिक प्रदर्शन है ।

शर्माजी के पाश्चात्य एवं प्राच्य दर्शन विषयक विस्तृत ज्ञान का परिचय एक घटना से मिलता है। भरतपुर-नरेश को एक ऐसे आदमी की आवश्यकता हुई जिसने प्राच्य-पाश्चात्य दोनों दर्शन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन, मौलिक रूप से, किया हो। महाराज के निमंत्रण पर केवल शर्माजी ही भरतपुर गए और महाराज की ज्ञान-पिपासा को शांत किया। यह बात सभी जानते हैं कि भारतवर्ष में शर्माजी की टक्कर का प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का विद्वान् कोई भी भारतवासी नहीं है ।

मालवीय जी ने हिंदू-विश्वविद्यालय खोलने पर शर्माजी को ओरियंटल विभाग के प्रिंसिपल की हैसियत से बुलाया। कुछ वर्षों तक आप इस पद पर रहे; परंतु अंत में अपने पुराने पद पर पटना-कॉलेज चले गए, और लगभग अंत समय तक वहीं रहे।

शर्माजी बड़े निर्भीक विचार के व्यक्ति थे। सरकारी नौकरी करते हुए भी उन्होंने कभी अपना विचार-स्वातन्त्र्य नहीं खोया। आप शिष्टता एवं विनम्रता के अवतार थे, फिर भी आपको खुशामद से घृणा थी। आपने कभी किसी अधिकारी की खुशामद नहीं की। यही कारण था कि आपसे बहुतसे अयोग्य व्यक्ति आई० ई० एस्० हो गए; परन्तु आप प्रोविंशल सर्विस में ही पड़े रहे। शर्माजी में निर्भीकता के साथ ही एक और भी बड़ा गुण था। वह यह कि आप बड़े उच्च कोटि के समाज-सुधारक थे। आजकल के अधिकांश पेटू पंडितों की भाँति आप संकीर्ण विचार नहीं रखते थे; प्रत्युत आपके सामाजिक विचार बड़े ही क्रांतिकारी थे। सर्वसाधारण को आपके विचारों का पता प्रथमतः तब लगा, जब सन् १९१२ ई० में आप अखिल-भारतीय-समाज-सुधार-सम्मेलन के सभापति बनाए गए।

हिंदी में शर्माजी द्वारा लिखित कई विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें हैं। इधर आप वर्षों से संस्कृत में एक बृहद् विश्वकोष लिख रहे थे। खेद है, वह कार्य अधूरा ही रह गया। मृत्यु के कुछ दिन पहले चिकित्सा के लिए आप काशी आये थे, पर कुछ लाभ नहीं हुआ। अंत में पटना जाकर आपका देहान्त हुआ। शर्माजी के तीन भाई, तीन लड़के और सात लड़कियाँ हैं। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वह शर्माजी की स्वर्गीय आत्मा को शांति प्रदान करे, एवं उनके संतप्त परिवार को इस विपत्तिकाल में धैर्य बँधावे।

'सुधा', अप्रैल, १९२९ ई० (१९८६ वि०)।
(चैत्र, वर्ष २; अंक २–३; पूर्णसंख्या २१)

६

संक्षिप्त जीवनी

'पण्डित रामावतार शर्मा का जन्म' विक्रम संवत् १९३४ में, छपरा में हुआ था। गत गुरुवार २२ चैत्र को पटना में आपका देहान्त हो गया।

आप सरयूपारीण ब्राह्मण थे। आपके पिता पण्डित देवनारायण शर्मा भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् और प्रेमी थे। अपने पुत्र रामावतार को उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही, पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उसी समय से बालक की कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलने लग गया। गहन विषयों को भी आप झटपट ग्रहण कर लिया करते थे। बारहवें वर्ष में आप ने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। संस्कृत के साथ ही आप अँगरेजी भी पढ़ने लगे। दोनों ओर की परीक्षाएँ ससम्मान उत्तीर्ण होकर आप छात्रवृत्तियाँ लेने लगे। आप एण्ट्रेन्स पास कर चुके थे और अवस्था २० वर्ष की थी जब आपके पूज्य पिताजी का देहान्त हो गया।

इसके बाद से आपकी आर्थिक अवस्था बिगड़ गई। विधवा माता ने अपने गहने बेचकर पुत्र को पढ़ाया। काशी के स्वनामधन्य विद्वान् स्वर्गवासी महामहोपाध्याय गंगाधर

शास्त्री तैलंग, सी० आई० ई० महोदय के पास पढ़कर आपने साहित्याचार्य की परीक्षा पास की। गंगाधर शास्त्री स्वयं बड़े ही बुद्धिमान् पुरुष थे, स्वभावतः शर्माजी की कुशाग्रबुद्धि से आप बहुत प्रसन्न रहा करते थे। इधर आपने एम्० ए० की परीक्षा भी पास की। अनन्तर काशी के हिन्दू कॉलेज में कुछ दिन अध्यापक का काम कर आप २६ वर्ष की अवस्था में पटना कॉलेज के संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। तबसे मृत्यु के समय तक आप उसी पद पर रहे, बीच में केवल २-३ वर्ष हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के प्रधान का काम किया।

आपने हिन्दी में कई पुस्तकें लिखी हैं। इधर वर्षों से संस्कृत में वृहत् विश्वकोष लिख रहे थे। खेद है कि वह कार्य अधूरा ही रह गया। मृत्यु के कुछ पहले चिकित्सा के लिए काशी आये थे; पर कुछ लाभ नहीं हुआ। अन्त में पटना जाकर देहान्त हो गया। आपके तीन भाई, तीन लड़के और सात लड़कियाँ हैं।"

दैनिक 'आज', काशी; सौर चैत्र; संवत् १९८५; (६-४-१९२९)

९ वैशाख, संवत् १९८६, तदनुसार २२ अप्रैल, सन् १९२९ ईसवी के दैनिक 'आज' में पण्डित रामावतार शर्मा के देहावसान पर शोकसभा का निम्नलिखित समाचार प्रकाशित हुआ है :—

शोकसभा

"कल शाम को टाउन हॉल में पण्डित रामावतार शर्मा के देहान्त पर शोक प्रकट करने के लिए सार्वजनिक सभा हुई। सभापति का आसन श्री भगवानदास जी ने ग्रहण किया था। महामहोपाध्याय पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल और महामहोपाध्याय पण्डित मुरलीधर भी उपस्थित थे। सर्वश्री देवीप्रसाद शुक्ल, श्री प्रकाश, केशव शास्त्री, केदारनाथ शर्मा, गोपाल शास्त्री आदि के शोकसूचक भाषण हुए। निश्चय हुआ कि पण्डित रामावतार जी के स्मारक में पुस्तकालय खोला जाय।"

—०—

दैनिक 'आज', काशी के २३ चैत्र, संवत् १९८५ तदनुसार ६ अप्रैल, सन् १९२९ ई० के अंक में महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, शीर्षक निम्नलिखित टिप्पणी प्रकाशित हुई है:—

"लिखते हृदय विदीर्ण होता है कि संस्कृत के भारतप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य महोदय का देहान्त गत गुरुवार को पटना में हो गया। आपके जैसे विद्वान् और स्वतन्त्र विचारक संस्कृतज्ञ का केवल ५२ वर्ष की अवस्था में इस लोक से उठ जाना समस्त भारत के दुर्भाग्य का परिचायक है। संस्कृत का ऐसा गम्भीर विद्वान् और ऐसा स्वतन्त्र बुद्धि का मनुष्य हमने दूसरा नहीं देखा। शर्माजी के मतों से कोई सहमत हो या न हो, उनके तर्कों के सामने सर झुका देना ही पड़ता था। संस्कृत के विद्वान् होकर भी आपकी मातृभाषा हिन्दी से, अन्य पण्डितों की

तरह, घृणा नहीं थी। आप हिन्दी के सुलेखक थे और साहित्य-सम्मेलन में भी अनेक बार सम्मिलित हुए थे। आपके विचार उन्नतिशील और संस्कृत थे। पुरानी गन्दगी को भी तीर्थ मानना आपको पसन्द नहीं था। आपमें एक और विशेषता यह थी कि जहाँ यहाँ के अनेकानेक पण्डितों ने युरोपियनों को संस्कृत तथा शास्त्र पढ़ाकर संस्कृत ग्रन्थों का अँगरेजी में भाषान्तर करने में उनकी सहायता कर तथा स्वयं भी अँगरेजी में अनुवाद और टीकात्मक ग्रन्थ लिख कर उनसे नाम और धन कमाया, वहाँ पण्डित रामावतार शर्मा अँगरेजी के ज्ञान-भण्डार को संस्कृतज्ञों के लिए सुलभ करने का प्रयत्न आमरण करते रहे। यह उज्ज्वल देशभक्ति उनकी अमरकृति का कारण होगी। इस अवसर पर हम उनके कुटुम्बियों के साथ आन्तरिक समवेदना प्रकट करते हैं। आपके-से स्वतंत्र विचार और उत्तम चरित्र के पुरुष आत्मबल से ही शान्तिलाभ करते हैं। उनके लिए प्रार्थना करना ही व्यर्थ है।"

दैनिक 'आज' रविवार सौर २४ चैत्र, सवत् १६८५ वि० (७-४-२६) के छठे पृष्ठ पर काशी-स्तम्भ में निम्नलिखित भ्रम-संशोधन प्रकाशित हुआ है।

भ्रम-संशोधन

"२३ चैत्र के 'आज' में पण्डित रामावतार शर्मा के देहान्त पर जो टिप्पणी और परिचय छपे हैं, उन दोनों में भूल से उनके मरने का दिन गुरुवार २२ चैत्र हो गया है। असल में उनका देहान्त बुधवार २० चैत्र को हुआ।"

—